मानव-भोज्य-मीमांसा

लेखक—

श्री पंन्यास कल्याणविजयजी गणी

प्रकाशक—

श्री कल्याणविजय-शास्त्र-संग्रह-समिति

जालोर (राजस्थान)

(श्री ओटवाला जैन-संघ की आर्थिक सहायता से प्रकाशित)

विक्रम संवत् २०१८ } वीर संवत् २४८७ { मूल्य—

ईसवी सन् १९६१ } प्रथमावृत्ति १००० { रु० ३.५० न.पै.

पुस्तक मिलने का पता:—

१. सरस्वती पुस्तक भंडार

हाथी खाना, रतनपोल, अहमदाबाद

२. कस्तूरचंद थानमल

१६/२१ बिट्ठलबाडी, बंबई नं० २

मुद्रक:—

श्री वीर प्रेस,

मनिहारों का रास्ता, जयपुर।

प्रकाशकीय-निवेदन

पाठक-गण यह जानकर प्रसन्नता का अनुभव करेंगे कि पं० श्री कल्याणविजयजी गणिवर के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ "जैन काल-गणना" "श्रमण-भगवन्-महावीर" "कल्याण-कालिका" के प्रकाशित होने के बाद आज "मानव भोज्य-मीमांसा" ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। इसका तृतीय अध्याय जो डेढ़ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, उसे पढ़कर अनेक विद्वान् पाठकों ने इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को जल्दी प्रकाशित करने का आग्रह किया था, हमारी इच्छा भी इस ग्रन्थ को सत्वर प्रकाशित करने की थी फिर भी प्रेसादिके प्रमाद से इसके प्रकाशन में धारणा से कुछ अधिक विलम्ब हो गया है, इसके लिए पाठक महोदय क्षमा करेंगे।

संवत् २०१४ की मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी को पंन्यासजी महाराज, विद्वान् श्री सौभाग्य विजयजी महाराज, मुनिवर श्री मुक्ति विजयजी महाराज, द्वारा ओटवाला स्थान के जैन-मन्दिरजी की प्रतिष्ठा निर्विघ्न सम्पन्न हुई, उसकी स्मृति में कोई उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित कराने की वहाँ के जैन-संघ ने अपनी इच्छा व्यक्त की थी।जब "मानव-भोज्य-मीमांसा" तय्यार होने की खबर मिली तब ओटवाला के जैन-श्रावक संघ ने इस कार्य में हाथ बटाने के लिए समिति के पास तीन हजार रुपया भेज दिया, इसके लिए समिति ओटवाला-जैन-संघ को धन्यवाद देती है, और उक्त सहायता से प्रोत्साहित होकर यह निर्णय करती है कि 'मीमांसा' की शताधिक

कॉपियाँ यूनिवर्सिटियों, कालेजों की लाइब्रेरियों एवं इस विषय के विशिष्ट विद्वानों को निःशुल्क भेजी जाएँ तथा अन्य ग्राहकों को लागत से भी कम मूल्य में बेची जाय।

आशा है पाठक-गण इसे जल्दी मंगाकर पढेंगे, और अपने अभिप्राय से हमें परिचित करेंगे।

मुन्नीलाल थानमल

मंत्री श्री कल्याण विजय शास्त्र-संग्रह समिति

जालोर (राजस्थान)

भूमिका

भारतीय धार्मिक तथा व्यावहारिक शास्त्रों में मानव-जाति का आहार क्या होना चाहिए, इस विषय की विचारणा अतिपूर्व काल से ही होती आरही है। जैन-सिद्धान्त, वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, विविध स्मृतियाँ इस विचारणा के मौलिक आधार ग्रंथ हैं।

आयुर्वेद शास्त्र, उसके निघण्टु कोश तथा पाकशास्त्र भी मानव-जाति के आहार के विषय में पर्याप्त प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ हैं, परन्तु इस विषय की खोज करने का समय तभी आता है, जब कि मानव के भोजन योग्य पदार्थों के सम्बन्ध में दो मत खड़े होते हैं। अनादि काल से मानव दूध, घी तथा वनस्पति का भोजन करता आया है, फिर भी इसके सम्बन्ध में विपरीत विचार उपस्थिति हुए हैं, तत्कालीन विद्वानों ने अपने अपने ग्रन्थों में भोजन सम्बन्धी नवीन मान्यता का खण्डन किया है।

आज से लगभग चार वर्ष पूर्व "भगवान् बुद्ध" नामक एक मराठी पुस्तक का हिन्दी भाषान्तर छपकर प्रकाशित हुआ, तब से जैन तथा सनातन धर्मी संप्रदायों में इस पुस्तक के विरोध में सर्व व्यापक विरोध की लहर उमड़ पड़ी, कारण यह था कि इसके एक अध्याय में तीर्थङ्कर महावीर, जैन श्रमण तथा याज्ञवल्क्यादि महर्षियों पर मांस भक्षण का आरोप लगाया गया था, फलस्वरूप पुस्तक प्रकाशक "साहित्य एकेडेमी" पर चारों ओर से सभा

सोसायटियों द्वारा विरोध के प्रस्ताव पत्रों तारों द्वारा पहुँचने लगे, प्रतिनिधि मण्डलोंने अधिकारियों से मिल मिलकर इस पुस्तक से उत्पन्न परिस्थिति को समझाकर इसके अन्तर्गत मांस भक्षण सम्बन्धी प्रकरण को पुस्तक से हटा देने का अनुरोध किया, परिणाम स्वरूप एकेडेमी के कर्णधारों ने यह आश्वासन दिया कि मांस भक्षण के सम्बन्ध में जैन विद्वानों के अभिप्रायों का नोट लगवा दिया जायगा, तथा इस पुस्तक का पुनः प्रकाशन रोक दिया जायगा।

एकेडेमी के उपर्युक्त आश्वासन से जो कि विरोध की लहर बाहर से शान्त हो गई, परन्तु जैनों तथा ब्राह्मण-ऋषियों के पूजने वाले सनातन धर्मियों का मानसिक असन्तोष अब भी उसी प्रकार से बना हुआ है, जिसका कारण यह है कि एकेडेमी के स्वीकार करने पर भी वर्षों तक उस प्रकरण के साथ नोट नहीं लगा, न एकेडेमी के सिवा अन्य संस्था अथवा व्यक्ति उस पुस्तक को प्रकाशित करे, तो उसे रोकने की कोई व्यवस्था ही सूचित की गई, इस दशा में "भगवान् बुद्ध" पुस्तक के सम्बन्ध में उच्चवर्णीय हिन्दुओं और जैनों का विरोध अब भी पूर्ववत् खड़ा ही है।

इस पुस्तक के विरोध में तथा मांस-भक्षण सम्बन्धी उल्लेखों का समन्वय करने के लिए 'स्थानकवासी पूज्य आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज ने एक छोटीसी पुस्तिका लिखकर प्रकाशित करवाई, तथा इसी संप्रदाय के मुनि श्री सुशीलकुमारजी ने भी एक

छोटा ट्रैक्ट छपवाकर समाधान करने की चेष्टा की है। परन्तु यह विषय इतना गम्भीर है कि थोड़े से शब्दों तथा वाक्यों द्वारा समझाकर समाधान करना अशक्य ही नहीं, असम्भव है। यह देखकर कई जैन विद्वानों तथा मित्र-मुनिवरों ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रदर्शित करने के लिए मुझे बार बार अनुरोध किया, यद्यपि मेरे लिए अपने प्रकृत-कार्य को रोक कर इस नये विषय में योग लगाना कठिन था, फिर भी विषय का गुरुत्व समझकर मैंने इस सम्बन्ध में कुछ लिखने का निश्चय किया, तत्सम्बन्धी साहित्य का अवगाहन कर "मानव-भोज्य मीमांसा" लिखने का कार्य शुरू किया, ग्रन्थ आज से तीन वर्ष पहले ही पूरा हो चुका था, परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ छपने में समय अधिक लगेगा, इस विचार से इसका तृतीय अध्याय मात्र, जिसमें भगवान् महावीर तथा उनके श्रमणों के सम्बन्ध में मांस, पुद्गल, आमिष प्रमुख प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या तथा समन्वय किया गया है, प्रथम प्रकाशित करने का निश्चय कर वह अध्याय प्रेस में भेज दिया गया, जिस आशय से यह अध्याय पृथक् छपवाना ठीक समझा था, वह आशय प्रेस के प्रमाद से सफल नहीं हुआ जिस काम के दो महीनों में हो जाने की आशा रक्खी थी वह काम सालभर में बड़ी मुश्किल से पूरा हुआ।

अब "मानव भोज्य मीमांसा" अपने सम्पूर्ण रूप में प्रकाशित हो रही है, इसमें कुल ६ अध्याय हैं, जिनका दिग्दर्शन निम्न प्रकार से है :—

१. प्रथम अध्याय में मनुष्य जाति का भोज्य पदार्थ क्या होना चाहिए, इसकी विस्तृत विचारणा में जैन आगमों, वैदिक सिद्धान्तों और वैज्ञानिक विद्वानों के अभिप्रायों के उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि मनुष्य-जाति सदा से ही निरामिष भोजी रही है, और रहनी चाहिये।

२. दूसरे अध्याय में वैदिक यज्ञों की चर्चा की है, ऋग्वेद-कालीन यज्ञ हिंसात्मक नहीं होते थे, परन्तु बिचले समय में वैदिक निघण्टु के गुम हो जाने पर वेदों का अर्थ करने में बड़ी गड़बड़ी हुई। कई वनस्पति वाचक शब्दों को पशुवाचक मानकर याज्ञिक-ब्राह्मण यज्ञों में पशु बलि देने लगे। "यजुर्वेद माध्यन्दिनी संहिता" और "शतपथ ब्राह्मण" उसी समय की कृतियां हैं, जिनमें यज्ञों में पशु बलि देने का विधान मिलता है ! फिर भी आचार्य यास्क को श्री विष्णु की कृपा से "वैदिक निघण्टु" की प्राप्ति हो जाने के बाद यज्ञों में हिंसा की बाढ़ कम हो गई और पशु हिंसा केवल अष्टका-श्राद्ध तथा मधुपर्क में रह गई थी, जो धीरे-धीरे पौराणिक काल तक वह भी अदृश्य हो गई, और उसका स्थान पिष्ट के पक्वान्न और घृत गुड ने लिया, यह बात द्वितीय अध्याय में प्रमाणित की गई है।

३. तीसरे अध्याय में आचारांग, भगवती, निशीथाध्ययन, व्यवहार भाष्य, आवश्यक नियुक्ति आदि जैन सूत्रों में आने वाले "मंस, मच्छ, मृत, पुद्गल, आमिष, प्रणीत आहार शब्द सूत्रकाल

में किन अर्थों में प्रयुक्त होते थे, और कालान्तर में मूल अर्थ भुला-कर धीरे धीरे किन अर्थों के वाचक बन गये इस विषय का स्पष्टी-करण किया गया है, और यह सिद्ध किया गया है कि मांस, पुद्गल, आमिष आदि शब्द अति प्राचीन काल में अच्छे खाद्य पदार्थ के अर्थ में प्रयुक्त होते थे, परन्तु धीरे-धीरे मांस भक्षण का प्रचार बढ़ने के बाद उक्त शब्द केवल प्राण्यङ्ग मांस के अर्थ में ही रह गये हैं।

४. चतुर्थ अध्याय में निर्ग्रन्थ जैन श्रमणों का आहार, विहार दिन-चर्या, तप-त्याग कैसे हैं, और वे कैसे निरामिषभोजी तथा अहिंसक होते हैं, इन बातों का प्रामाणिक निरूपण किया गया है।

५. पंचम अध्याय में वैदिक-परिव्राजक का विस्तृत निरूपण किया है, और बताया है कि वैदिक परिव्राजक कैसे अहिंसक निरामिषभोजी होते थे, प्रसंगवश आरम्भ में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ आश्रमों के धर्म नियमों का भी दिग्दर्शन कराया है।

६. छट्ठे अध्याय में मानव-जाति का कुशल चाहने वाले शाक्य भिक्षु (बौद्ध-साधु) की जीवन-चर्या बौद्ध-सूत्रों के आधार से लिखी है, बौद्ध भिक्षु प्रारम्भ में बहुत ही सादा और मानव-जाति के लिए हितकर साधु था, यद्यपि वह गृहस्थ के घर जाकर भोजन कर लेता और विहार मठ आदि का स्वीकार भी कर लेता था। फिर भी भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण तक बौद्ध भिक्षु-संघ में उतनी दुर्बलता और शिथिलता नहीं घुसी थी, जो बुद्ध के परि-निर्वाण के बाद आई। यद्यपि बौद्ध-भिक्षु के मांस-मत्स्य ग्रहण

करने में बुद्ध ने प्रतिबन्ध नहीं लगाया था, फिर भी अधिकांश भिक्षु इन चीजों से दूर ही रहते थे। मौर्य सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक तक व्यक्तिगत रूप से बहुतेरे भिक्षु आचार मार्ग से पतित हो चुके थे। फिर भी बौद्ध धर्म के प्रतिष्ठित आचार्य तथा भिक्षु गण बुद्ध के उपदेशानुसार अहिंसा धर्म के ही प्रतिपालक तथा उपदेशक रहे थे, बौद्ध-संघ में व्यापक मांसाहार का प्रचार इस धर्म का चीन देश में प्रचार होने के बाद हुआ। परिणामस्वरूप भारतीय जनता का बौद्ध धर्म से विश्वास हटता गया, और इस धर्म को धीरे धीरे भारत राष्ट्र से विदा लेनी पड़ी।

उपर्युक्त "मानव भोज्य मीमांसा" का संक्षिप्त सार है। विशेष विवरण इसकी विषयानुक्रमणिका में देखिए।

मीमांसा में जिन जिन वैज्ञानिक विद्वानों तथा ऋषि-मुनियों के मत के प्रमाण दिए गये हैं, उनके नामों की तथा जिन जिन आगमों, धर्मशास्त्रों, स्मृतियों तथा अन्यान्य ग्रन्थों के उद्धरण इस ग्रन्थ में दिए गये हैं, उन ग्रन्थों की नाम-सूची भी आगे दी गई है।

ग्रन्थ का मुद्रण कार्य जयपुर के एक जैन विद्वान् के मारफत शुरू करवाया था, आशा थी कि कार्य जल्दी सुचारु रूप से संपन्न होगा, परन्तु खेद है कि निरीक्षक विद्वान् की शारीरिक अस्वस्थता तथा प्रूफ देखने वाले की असावधानी से ग्रन्थ में सम्पादन संबंधी

अशुद्धियां अधिक प्रमाण में रह गई हैं, पाठक-गण अन्त में दिए गये शुद्धि-पत्रक के अनुसार अशुद्धियों को सुधार कर ग्रन्थ को पढ़ें।

अन्त में हम "साहित्य एकेडेमी" के कर्णधार श्री नेहरूजी तथा अन्य अधिकारियों को आग्रह पूर्वक अनुरोध करते हैं कि "भगवान् बुद्ध" जैसी धार्मिक सम्प्रदायों को उत्तेजित करने वाली पुस्तकों को प्रकाशित करने के पहले स्थित प्रज्ञता से विचार करें, ऐसी पुस्तकों के प्रचार द्वारा भारत में मांस मत्स्यों के भोजन का प्रचार करना ही एक उद्देश्य प्रतीत होता है, परन्तु ऐसे धर्म घातक अधार्मिक प्रचारों से देश की कोई समस्या हल नहीं हो सकेगी। इतना ही नहीं किन्तु अन्यान्य सम्प्रदायों में धार्मिक असन्तोष फैलने का परिणाम देश में अशान्ति फेलाने वाला होगा, बौद्ध धर्म का भारत से निर्वासित होने का मूल कारण बौद्धों का मांसाहार ही हुआ है, तब आप लोग मांसाहार के प्रचार से भारत में बौद्ध-धर्म को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, यह कैसी भूल है, लाखों जैनों तथा वैदिक-धर्मियों ने इस पुस्तक के विरोध में आवाज पहुंचाई है, फिर भी आपके कानों की जूं तक नहीं रेंगती। क्या आप यह चाहते हैं कि इस पुस्तक के सम्बन्ध में तोड़ फोड़ करने वाला बवण्डर खड़ा होने के बाद ही इसके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय किया जायगा, मैं समझता हूँ ऐसी तूफानी क्रान्ति के लिए हमारा धार्मिक समाज कभी कदम नहीं उठायगा, हां यदि आप देश

पांच मानवों की जीवन बलि लेकर ही उक्त अप्रिय पुस्तक को दफनाना चाहते हैं, तो थोड़े ही समय में आप लोगों की यह इच्छा भी पूर्ण हो सकेगी।

भवदीय
कल्याण विजय
पुस्तक लेखक

मानव भोज्य मीमांसा का विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तीसरा अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

वैदिक परिव्राजक

षष्ठ अध्याय

ग्रन्थकार नामावली

(जिन वैज्ञानिकों, वैद्यों, ऋषि-मुनियों के मतों का "मानव-भोज्यमीमांसा" में निर्देश किया गया है, उनका नामानुक्रम)

जिन ग्रन्थों के उद्धरण "मानव भोज्य मीमांसा" में दिए गये हैं उनका नामानुक्रम

शुद्धि–पत्र

अशुद्ध पाठ	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध पाठ
हास	[illegible]	८	ह्रास
चौरासा	२	४	चौरासी
तत्काल्लीन	३	१३	तत्कालीन
धर्माधर्मा-विज्ञ	३	१४	धर्माधर्म-विज्ञ
हास	५	१०	ह्रास
दृष्षमा	६	६	दुष्षमा
दृष्षपदृष्षमा	६	४, ६	दुष्षमदुष्षमा
ववण्डर	६	१६	बवण्डर
हास	१०	२१	ह्रास
उत्सर्पिर्णी	११	२	उत्सर्पिणी
प्रत्यक्ष	११	२०	प्राप्य
वडा	१२	२	बड़ा
परन्तु हम उन सबका अवतरण देंगे। जिसमें कि दस प्रकार के कल्प वृक्षों के नाम सूचित किये गये हैं।	१२	९, १०	परन्तु हम उन सबका अवतरण नहीं देंगे, किन्तु एक ही उद्धरण देंगे जिसमें कि दस प्रकार के कल्पवृक्षों के नाम सूचित किये गये हैं।

उवभोगन्ताए	१२	११	उवभोगत्ताए
तुडियंका	१२	१२	तुडियंगा
भ्रङ्गाङ्ग	१२	१६	भृङ्गाङ्ग
रवत्तिआ	१५	३	खत्तिआ
सप्त	१५	१०	सप्तम
चतुर्त	१५	१७	चतुर्थ
।	१५	१८	,
वर्गों	१६	६	वर्गों
बाँट	१६	६	बाँट
राज्यों	१६	११	राजन्यों
ह्रासप्रति	१६	२३	द्वासप्रति
तरुणीप्रतिकर्न	१६	२१	तरुणी प्रतिकर्म
इक्खामा	१८	८	इक्खागा
पुष्पकल	१८	११	पुष्पफल
पाणिधंसी	१८	१५	पाणिघंसी
गिण्हरह	१८	१८	गिण्हह
कुम्भकार कोशिल्य	२०	४	कुम्भकार का शिल्प
माहणशाला	२१	३	माहणशाला
क	२२	३	त्र
स्तुतिषां	२२	१६	स्तुतियां
प्रयुक्त	२६	६	प्रयुक्त
पाटवमत्रं	२६	१८	पाटवमात्रं

निस्त्रिशं	२७	१६	निर्स्त्रिश
प्रदेपैः	२७	१६	प्रदेशैः
हे वलके	२८	५	हे वलके
पायर्स	२६	१२	पायस
शाख्यायान	३२	१७	सांख्यायन
शतपश	३२	१८	शतपथ
अथर्वदेद	३२	१६	अथर्ववेद
मेघा	३५	११	मेधा
बीहियवाग्तिलभाषा	३६	८	ब्रीहियवाग्तिलमाषा
अन्नपूर्णोनिषद्	४०	७	अन्नपूर्णोपनिषद्
विधातक	४५	१६	विघातक
का	४६	६	को
रहेग	५६	१६	रहेगी
दव	५७	१	देव
के, के,	५६	६	से, में
पञ्चलेपु	६४	६	पञ्चालेषु
बैतिक	७१	१२	वैदिक
अत्वा	७२	१७	श्रुत्वा
सस्कार	७८	११	सत्कार
क्रिया	८०	५	किया
वाजपेयादश्व मेघः	७०	१७	वाजपेयादश्वमेधः
मेघः	८०	१८	मेधः
सर्वमेघाद्	८०	१८	सर्वमेधाद्

महमानों	८४	८	मेहमानों
अश्वमेदादि	८४	१६	अश्वमेधादि
क्षया	८७	१६	क्षमा
गोमिल	६०	७	गोभिल
ुर्या	६४	१	कुर्या
गोमिल	६४	१२	गोभिल
पृथ्थी	६६	१६	पृथ्वी
का	६७	६	की
वया	६८	१७	वपा
चेदुचन्यात	१०३	८	चेद्धन्यात
कुर्यच्च	१०६	१६	कुर्याच्च
भांस	१०७	१६	मांस
निर्वास	१०८	११	निर्यास
देर	११२	१५	देकर
अथा	११२	१२	अथवा
किष्ट	११६	६	क्लिष्ट
गोपालदासजी बा भाई	११७	७	गोपालदास जीवाभाई
हाने	१२०	३	होने
खडे	१३८	४	खंडे
जाना	१४१	१६	जाने
पदार्य	१४८	५	पदार्थ
पुङ्गल	१५०	२२	पुद्गल
ह्याथी	१५१	११	हाथी

ममुष्य	१५१	१६	मनुष्य
वक वगुला	१५२	६	वक, वगुला
कपिच्छू	१५२	११	कपिकच्छु
व्याध्र	१५२	१७	व्याघ्र
काल	१५३	१	काला
पूर्ण	१५४	७	पूर्वक
करले	१५४	१६	करके
पमण	१५५	५	समण
पटिपट्टणागुप्पेह	१५५	७	परियट्टणागुप्पेह
अप्पाणाणा	१५५	११	अप्पपाणा
मांसादिक	१५५	१८	मत्स्यादिक
भंसं	१५७	७	मंसं
आट्ठियं	१५७	८	अट्ठियं
में वा	१५८	३	मेवा
बहां	१५८	१७	वहां
तहप्पगारं	१५६	७	तहप्पगारं
पत्त	१५६	१५	यत्त
नसे	१५६	१६	उनके
श्यय्यातर	१५६	१८	शय्यातर
णज्ञाए	१६०	३	णज्जाए
द्वितीयं	१६०	४	दिंतियं
इसका	१६०	१०	इस प्रकार का

भयपयञ्चे	१६०	११	भवपयञ्चे
भेते	१६०	१३	भंते
निग्रन्थ	१६०	२१	निर्ग्रन्थ
०	१६०	२१	से अनुसन्धित पाठ— *चाहिए ? मुक्त यह कहना चाहिए, पारगत यह कहना चाहिये, सिद्ध बुद्ध मुक्त परिनिवृत्त अंत-कृत और सर्व दुःख प्रहीण यह कहना चाहिए यथार्थ है भगवान् ? यथार्थ है चुल्ल कप्प सूत्र में मांस मद्य शब्द—

"वासावासं पज्जोस वियाणं नो कप्पइ निगन्थाण वा निगन्थीण वा हट्ठाणं तुट्ठाणं आरोगाणं बलीय सरीराणं इमाओ नवरस विगइओ अभिक्खणं अभिक्खण आहारित्तए, तं जहा खीरं १. दहिं २, नवणीयं ३ सर्पि ४, तिल्लं ५, गुडं ६, महुं ७, मज्जं ८, मसं ९ ॥१७॥

ससमसं	१६१	१३	ससमंसं
अद्दाहिं	१६१	१५	अद्दाहिं
पुष्प	१६३	८	पुष्य
कौशाम्बी विचले	१६५	४	कौशाम्बी ने बिचले
वर्षा	१६६	८	०

एत्थाणं	१६६	११	एत्थणं
भालुया	१६६	१४	मालुया
मासे	१६६	१४	भासे
अट्टा	१६६	१७	अड्ढा
अयमयोरूपे	१६७	१०	अयमेयारूवे
धम्मोवदेसगस्य	१६७	११	धम्मोवदेसगस्स
महावीर	१६७	११	महावीरस्स
ते	१६७	११	तं
निग्थंथा	१६७	२१	निग्गंथा
धम्मारिया सद्धावेंति	१६८	४	धम्मायरिया सद्दावेंति
सीहे अणगारे	१६८	५	D.
महावीर	१६८	८	महावीरे
गेसालस्स	१६८	५३	गोसालस्स
छएट्टं	१६८	१४	छएहं
कुल्कुट	१६८	१८	कुक्कुड
तपाह्लाणहि	१६८	१६	तमाहणाहि
अणकारे	१६८	२०	अणगारे
महाथीरेण एवं	१६८	२०	महावीरेण एवं
सामां	१६८	२१	सामी
कियागणप्पयोयणं	१६६	८	कियागयणप्पयोयणं
अट्ठे	१६६	१०	अट्ठो
संम	१७०	१	संमं
बल्दिय	१७०	६	बलिय

सावयां	१७०	६	सावया
पुष्पमिष	१७०	३	पुष्पामिष
वर्धनान	१७०	५	वर्धमान
मर्दास्थि	१७६	१५	मर्दास्थि
कई	१७७	७	गई
होंगे	१७८	११	होगा
धाएग	१७६	१३	घाएण
पिट्टेण सुहा	१८०	६	पिट्ठेण सुरा
निर्वाण	१८१	६	निर्माण
सकीर्ण	१८३	६	संकीर्ण
अट्टिय	१८६	५	अट्ठिय
तैलं	१८६	२०	तैले
नीचे	१८७	१६	नीच
०	१८६	११ में अनुसन्धित स्थल — निर्ग्रन्थ श्रमण उनको ग्रहण करते हैं, और इस अपेक्षा से जैन श्रमण मृत·····गये हैं ।	
अवने	२००	१२	अपने
आपस्तरवीय	२००	१६	आपस्तम्बीय
हरिप्रभ	२०२	१	हरिभद्र
रसायणो	२०३	२०	रसापणो
रसायण	२०४	१	रसापण
रसायणे	२०४	२	रसापणे
रसायण	२०४	४	रसापण

अश्वमैघ	२०४	४	अश्वमेध
प्राएमज्ञ	२०८	१४	प्राएयज्ञ
अतिारक्त	२०८	२०	अतिरिक्त
कालिक	२१३	१४	कुलिक
धम्मानुग्णहो	२१६	११	धम्मानुग्गहो
मज्झम-निकाय	२१७	११	मज्झिम-निकाय
निम्नलिखिस	२१७	१३	निम्नलिखित
धम्मदायाद	२१७	१५,१६,१७,	धम्मदाया
मैं भीलों का देश	२१८	१३	मैं भी लोका देश
धर्म के	२१८	१३	आमिष के
मज्मिभ्र	२१९	१	मज्झिम
०	२२०	८	मैं अनुसन्धित
			क्षुधा के अनुसार जितने की आवश्यकता थी उतना आहार लिया था।
मूचन	२२२	१८	सूचन
कैसा	२२३	८	कैसी
जेन	२२६	३	जैन
करंतमपि	२२७	२	करंतंपि
स्थानीय	२२७	७	स्थापनीय
दानाओ	२२७	१६	दाणाओ
कुव्वन्तमप्पन्न	२२७	२१	कुव्वन्तमप्यन्नं
होला	२२९	२	होती

पुत्फेसु	२२६	१७	पुप्फेसु
इस	२३०	१६	D.
मुठियप्पाणं	२३१	३	मुट्ठियप्पाणं
लिज्जायर	२३१	१८	सिज्जायर
आसं दीपलियं	२३१	१४	आसन्दी पालियं
आसनन्दीय	२३२	१८	आसन्दी
वथति	२३३	२०	वम्रति
संअया	२३३	२१	संजया
कासीये	२३८	१८	कासीय
कुल	२३८	१	कुच्छ
डूसको	२३८	१	इसको
धईये	२३६	४	वईय
पुरिवट्टा	२३६	५	पुरिवट्टा
काम्पिल्प	२३६	१४	काम्पिल्य
चारिआ	२४३	५	चरिआ
पूर्वघर	२४५	१४	पूर्वधरों
गुएया	२४७	८	गुएणाय
माणायो	२४७	८	माणाओ
तिपपत्ति	२४७	१०	निप्पत्ति
श्रमण को पात्र	२४७	१२	श्रमण को दो पात्र
सूत्र	२४८	३	सूत्र में
पटलेह	२४८	२०	पटलक
एक्ककप्पगुओ	२४६	१६	एक्ककप्पजुओ
दवालसहा	२५०	१	दुबालसहा
१० पंक्तिका अवशेषपाठ	२५०	१०	और उसमें क्रमशः एक दो तीन प्रावरण बढ़ाने से....तीन०।

१८ पंक्ति का अवशेष पाठ	२५०	१७	उपधि दस ग्यारह तथा बारह
काम	२५१	२०	काम में
औपिक	२५१	१	औधिक
भुत्ती	२५१	११	मुत्ती
मद्दवे	२५१	१२	मद्दवे
निर्लोभत	२५१	१६	निर्लोभता
चर्किखदिय	२५२	५	चर्किखदिय
धाणि	२५२	५	घाणि
ध्यानता	२५३	१२	ध्यासनता
,,	२५३	१३	,,
मास	२५३	३	मांग
भिकख	२५४	११	भिक्खू
भिक्खूणी	२५४	११	भिक्खुणि
पडिवाये	२५४	१८	पडियाये
सेज्झाइं	२५४	,,	सेज्जाइं
इकखाग	२५४	१४	इक्खाग
रकखकुलाणि	२५४	१६	रक्खगकुलाणि
अम्नतरेसु	२५४	१६	अण्णतरेसु
अद	२५४	१७	अदु
शौल्ककोद्दाग	२५५	३	शौल्क
पुग्गवं	२५६	१	पुग्गलं
बहु उज्मुय	२५६	२	बहुं उज्झिय
जिसके	२५७	५	D.
निबन्धेणं	२५६	३	निब्बधेणं
कज्मंमि	२५६	४	कज्जंमि

सांयिक	२६०	१२	संपयिक
लड्डु	२६२	३	लड्डू
फे	२६३	४	के
अब्भगुणएणाए	२६३	१३	अब्भुणएणाए
इय	२६३	१४	इयं
भोजना	२६३	१६	भोजन
सकत	२६३	२२	सकता
की	२६८	१३	को
कोय	२७०	२०	कोल
विद्स्स	२७१	१८	विअस्स
भक्तियस्स	२७४	१३	भत्तियस्स
श्रमणों	२७२	१०	श्रमण
उब्जा	२७५	१	D.
गणाच्छेदक	२७६	२०	गणावच्छेदक
पन्हा	२७८	२१	पराहा
सूचक	२८४	५	सूचन
का	२८२	६	कार
गिलता	२८६	१५	मिलता
का	२८७	३	को
प्रतक	३०६	१४	प्रत्येक
परणा	३०६	१७	पारणा
होता है	३०८	११	होती है
अवेगा	३१३	७	आवेगा
भद्रों	३१३	१६	भद्रो
पघास	३१६	६	पचास
समभाव	३२०	१७	समभाव से

से	३२०	१७	D.
सलोह	३१६	३	सोलह
आर	३८३	६	और
पादपापगमन	३२४	१६	पादपोपगमन
जानकर	३२६	६	जानकार
वर्ण	३४१	६	वर्णन
मृगेया	३५३	५	मृगया
नखलामैर्वनाश्रमी	३६१	१६	नखलोमैर्वनाश्रमी
जमिनि	३६४	६	जैमिनि
दर्शनों के मुकाबिले	३६४	६	दर्शन इस के मुकाबिले
यद्वरेव	३६६	१०	यदहरेव
अंगरा	३६७	१५	अंगिरा
बाली के निम्न ···× किया	३६८	११	बाली आपत्ति के निवा०×× किया गया है
श्रतियों	३६९	७	श्रुतियों
योब्य	३६९	१८	योग्य
श्रतियों	३७२	४	श्रुतियों
यतिवर्मकसमुच्चय	३७२	१८	यतिधर्मसमुच्चय
शीताहपारिणीम	३७३	१७	शीतापहारिणीम्
संन्यासाश्राम	३७६	१६	संन्यासाश्रम
पड्भिरेतै	३७६	११	षड्भिरेतै
त्यजन्मूत्र	३८६	१८	त्यजेन्मूत्र
वस्त्रों	३८६	१६	वस्त्र
कांस्यरेप्य	३८८	१६	कांस्यरौप्य
भिन्न	३८८	१७	भिक्षा

स विष्ठाका	३८९	९	सविष्ठाम्न का
श्रति	३९०	२१	श्रुति
मुक्त्वा	३९३	१०	भुक्त्वा
ममाश्रन	३९४	१७	समाश्रयेत्
छछ्	३९४	१८	छाछ्
सचलो	३९६	१९	सचेलो
सचल	३९६	२०	सचेल
चरन्याधुकरीं	३९७	१३	चरेन्माधुकरीं
प्रकुपत्ति	३९८	१०	प्रकुपित
पञ्चशात्रकम	४०१	१९	पचधसक्रम
समूह	४०२	२१	समूह से
मेघातिथी	४०३	१	मेघातिथी
शात्र	४०४	१०	शात्रु
प्रायश्चित्त	४०६	३	प्रायश्चित्ति
बहवृच	४०६	१७	बह्वृच
मरू	४०९	१३	मेरू
मूढ से	४११	२	मूढ उससे
नायक	४१५	१०	नामक
करना	४१५	१३	कराना
मह:	४१७	१२	महा:
काल	४१७	६	काम
दुलभ	४१८	१५	दुर्लभ

प्राणिनीं	४१६	६	प्राणिनां
त्तसै	४२०	१५	रात्तसै
शार्दूल	४२१	६	शार्दूल
भूयेन	४२१	१०	भूयेत
प्रहीं	४२२	८	नहीं
अचलेक	४२५	७	अचेलक
पृथकक्कारण	३३४	६	पृथकरण
आष्ठोत्तर	४३६	११	अठहत्तर
अप	४४०	१	अपने
अत्तण	४४०	१२	भत्तण
ईशा	४४६	६	ईशा
फाहियान	४४५	२०	फाहियान
ईशा	४४६	१२	ईसा
ईशा	४४८	१३	ईसा
ईशा	४५०	१०	ईसा
चन्द्रायत	४५०	२१	चन्द्रयान
स्वीकार का	४६६	३	स्वीकारने का
जिसकी	४६६	२	जिसको
काञ्जी	४६७	३	कांजी
कमल में	४६८	१०	कमल के
गकछति	४७०	२	गच्छति
चावरेसु	४७०	१४	थावरेसु

घातेति	४७०	१५	घातेति
सशद्द	४७१	७	सद्दश
सव्भूतेसु	४७१	११	सव्वभूतेसु
पूर्णकश्यप	४७३	११	पूरण कश्यप
झाणं ते	४७३	२०	झायं ते
परियज्जयंति	४७४	२०	परिवज्जयंति
ईशा	४८०	१०	ईसा
एगणु	३८२	११	नाणु
पाडणंति त	४८३	२	पाडणंति ते
प्राप्त हैं	४८४	७	प्राप्त होते हैं
व्यायाम	४८८	१	व्याम
अवद्य	४९१	६	अनवद्य
उपाधि	४९२	५	उपधि
निरूपण जन	४९२	६	निरूपण जैन
रजहरण	४९२	८	रजोहरण
बाहर	४९५	११	वाराहिकन्द
देने	४९८	६	देने की
सूकर का महव को गड्ढा	४९८	१३	सूकर महव को०
पात्र में	४९९	५	पात्र में और अन्य प्रणीत भिक्षु संघ के पात्र में
था	५००	४	थी।

मानव भोज्य मीमांसा

प्रणम्य परया भक्त्या, वर्धमानं जिनेश्वरम् ।
मानवाशन-मीमांसां कुर्वे शास्त्रवचोनुऽगाम् ॥१॥

अर्थ—परम भक्ति पूर्वक श्री वर्धमान जिनेश्वर को नमस्कार करके, शास्त्रीय वचनों का अनुगमन करने वाली "मानव भोज्य मीमांसा" को करता हूँ ।

प्रथम अध्याय

(१)

मानव प्राकृतिक भोजन

जैन-वैदिक-विज्ञान, प्रमाणैः कृत-साधनम् ।
मानव-प्रकृते-रर्हं, भोजनं कीर्त्यतेऽनघम् ॥१॥

अर्थ—जैन, वैदिक, वैज्ञानिक, प्रमाणों से निर्णीत ऐसे मानव प्रकृति के योग्य उत्तम भोजन का निरूपण किया जाता है ।

जैन सिद्धान्तानुसार मनुष्य का आहार

काल परिभाषा

"मनुष्य" यह नाम मनुशब्द से बना है, मनु का अपत्य अर्थात्--सन्तान मानव कहलाता है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार मानव जाति का ह्रास और विकास होता ही रहता है। जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश कभी नहीं होता, अमुक काल में प्रत्येक प्राणिजाति की उन्नति और उसके विपरीत काल में ह्रास अवश्य होता है, परन्तु जैनशास्त्र सर्वथा सृष्टि का प्रलय नहीं मानता, न असत् से उत्पत्ति ही मानता है। जैन-मतानुसार पृथ्वी के निश्चित भूभागों में रहने वाले मनुष्यादि प्राणियों के शरीर आयुष्य आदि भाव सदा समान रहते हैं, तब अमुक क्षेत्रों में उनके शरीर आयुष्य आदि, घटते-बढ़ते रहते हैं।

भारतवर्ष उन क्षेत्रों में से एक है, जिनमें कालचक्र के पलटने से प्राणियों के शरीर आयुष्य आदि का मान पलटता है। जैन-परिभाषानुसार वर्त्तमान समय अवसर्पिणी समा है, इसका प्रथमारक सुषमसुषमा, द्वितीय सुषमा, तृतीय सुषमदुष्षमा, चतुर्थ दुष्षम सुषमा, पांचमां दुष्षमा, और छठा दुष्षम दुष्षमा नाम के ये छह अरक हैं। प्रथमारक चार कोटा कोटि सागरोपम, दूसरा तीन कोटा कोटि, तीसरा दो कोटा कोटि सागरोपम माना गया है, चौथा बियालीस (४२) हजार वर्ष न्यून एक कोटा कोटी

सागरोपम का, पाँचवाँ इक्कीस (२१) हजार वर्ष का और छठा भी इक्कीस (२१) हजार वर्ष का होता है।

वर्त्तमान समय अवसर्पिणी समा का पञ्चम अरक है इसके अब तक चौबीस सौ चौरासी वर्ष बीत चुके हैं। समय हानिशील होने के कारण प्रतिदिन प्रत्येक पदार्थ में से सत्त्व घटता रहेगा, चतुर्थ और पञ्चम अरक का भगवान् महावीर ने सभा के सामने जो वर्णन किया था, उसे हम यहां उद्धृत करते हैं।

आपने कहा—तीर्थङ्करों के समय में यह भारतवर्ष धन धान्य से समृद्ध, नगर-ग्रामों से व्याप्त स्वर्ग-सदृश होता है। तत्कालीन ग्राम नगर-समान, नगर देवलोक-समान, कौटुम्बिक राजा-तुल्य, और राजा कुबेर-तुल्य समृद्ध होते हैं। उस समय आचार्य चन्द्र समान, माता-पिता देवता समान, सास माता समान, श्वसुर पिता समान होते हैं। तत्काल्लीन जन-समाज धर्मी धर्म-विज्ञ, विनीत, सत्य-शौच-सम्पन्न, देव-गुरु-पूजक, और स्वदार-संतोषी होता है। विज्ञान-वेत्ताओं की कदर होती हैं, कुल, शील तथा विज्ञान का मूल्य होता है। लोग-ईति, उपद्रव, भय, और शोक से मुक्त होते हैं। राजा जिन-भक्त होते हैं, और जैन धर्म-विरोधी बहुधा अपमानित होते हैं।

यह सब आज तक था। अब जब चौपन उत्तम पुरुष व्यतीत हो जायेंगे, और केवली, मनः पर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, तथा श्रुतकेवली इन सब का विरह हो जायगा, तब भारतवर्ष की दशा इसके विपरीत होती जायगी। प्रतिदिन मनुष्य-समाज

क्रोधादि कषाय-विष से विवेक-हीन बनते जायेंगे, प्रबल जल प्रवाह के आगे जैसे गढ़ छिन्न-भिन्न हो जाता है, वैसे ही स्वच्छन्द लोक-प्रवाह के आगे हिलकर मर्यादायें छिन्न-भिन्न हो जायेंगी। ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा जन-समाज दया, दान, सत्य-हीन और कुतीर्थिकों से मोहित होकर अधिकाधिक अधर्मशील होता जायगा।

उस समय ग्राम श्मशान-तुल्य, नगर प्रेत-लोक-सदृश, भद्रजन दास-समान और राजा लोग यमदण्ड समान होंगे। लोभी राजा अपने सेवकों को पकड़ेंगे और सेवक नागरिकों को। इस प्रकार मत्स्यों की तरह दुर्बल सबलों से सताये जायेंगे। जो अन्त में हैं, वे मध्य में और मध्य में हैं, वे अन्त में प्रत्यन्त होंगे। बिना पतवार के नाव की तरह देश डोलते रहेंगे। चोर धन लूटेंगे। राजा करों से राष्ट्रों को उत्पीड़ित करेंगे और न्यायाधिकारी रिश्वतखोरी में तत्पर रहेंगे। जन समाज स्वजन-विरोधी स्वार्थप्रिय, परोपकार-निरपेक्ष, और अविचारित-भाषी होगा। बहुधा उनके वचन असार होंगे। मनुष्यों की धन-धान्य-विषयक तृष्णा कभी शान्त नहीं होगी। वे संसार-निमग्न, दाक्षिण्य-हीन, निर्लज्ज और धर्म-श्रवण में प्रमादी होंगे।

दुष्षमा काल के शिष्य गुरुओं की सेवा नहीं करेंगे, और गुरु-शिष्यों को शास्त्र का शिक्षण नहीं देंगे। गुरुकुल वास की मर्यादा उठ जायगी। लोगों की बुद्धि धर्म में शिथिल हो जायगी। देव पृथिवी पर दृष्टिगोचर नहीं होंगे। पुत्र माता-पिता की

अवज्ञा करेंगे और कटुवचन सुनावेंगे। हास्यों, भाषणों, कटाक्षों और सविलास निरीक्षणों से निर्लज्ज कुल बधुएं वेश्याओं को-शिक्षण देंगी। श्रावक, श्राविका और दान शील तप भावात्मक धर्म की हानि होगी।

थोड़े से कारण से श्रमणों और श्रमणियों में झगड़े होंगे। धर्म में शठता और चापलूसी का प्रवेश होगा। झूठे तोल माप प्रचलित होंगे। बहुधा दुर्जन जीतेंगे, सज्जन दुःख पायेंगे।

विद्या, मन्त्र, तन्त्र, औषधि, मणि, पुष्प, फल, रस, रूप, आयुष्य, ऋद्धि, आकृति, ऊँचाई, और धर्म इन सब उत्तम पदार्थों का ह्रास होगा, और दुष्षम दुष्षमा नामक छठे आरे में तो इनकी अत्यन्त ही हीनता हो जायगी।

प्रतिदिन क्षीणता को प्राप्त होते हुए, इस लोक में कृष्ण पक्ष में चन्द्र की तरह जो मनुष्य अपना जीवन धार्मिक बना कर धर्म में व्यतीत करेंगे उन्हीं का जन्म सफल होगा।

इस हानिशील दुष्षमा समय के अन्त में–दुष्प्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक, और सत्यश्री श्राविका, इन चार मनुष्यों का चतुर्विध संघ रहेगा। विमल वाहन राजा और सुमुख अमात्य दुष्षमा कालीन भारतवर्ष के अंतिम राजा और अमात्य होंगे।

"दुष्षमा के अन्त में मनुष्य का शरीर दो हाथ-भर और आयुष्य बीस (२०) वर्ष का होगा। दुष्षमा के अंतिम दिन पूर्वाह्न

में चारित्र धर्म का, मध्यान्ह में राज धर्म का और अपराह्न में अग्नि का विच्छेद होगा।

इक्कीस हजार वर्ष का दुष्षमाकाल पूरा होकर इतने ही वर्षों का दुष्षमदुष्षमा नामक छठा आरा लगेगा। तब धर्म नीति, राजनीति आदि के अभाव में लोक अनाथ होंगे। इस दुष्षम-दुष्षमा अरक के स्वरूप के सम्बन्ध में इन्द्रभूति गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने इसका जो वर्णन किया है, और उस समय के मनुष्य की दशा का जो चित्र खींचा है, वह भगवती सूत्र के सातवें शतक के छठे उद्देशक से हम यहां अक्षरशः उद्धृत करते हैं।

इन्द्रभूति गौतम ने पूछा—भगवन ! अवसर्पिणी समा के दुष्षम दुष्षमा अरक के पूर्णरूप से लग जाने पर जम्बूद्वीप के भारतवर्ष की क्या अवस्था होगी।

महावीर—गौतम ! उस समय का भारत हाहाकार, आर्त्तनाद और कोलाहलमय होगा। विषमकाल के प्रभाव से कठोर, भयङ्कर और असह्य हवा के ववण्डर उठेंगे, और आंधियां चलेंगी जिनसे सब दिशायें धूमिल, रजस्वला और अन्धकार मय हो जायेंगी। समय की रूक्षता के वश ऋतुएं विकृत हो जायेंगी, चन्द्र अधिक शीत फैंकेंगे, सूर्य अधिक गर्मी करेंगे।

उस समय जोरदार बिजलियां चमकेंगी, और प्रचण्डपवन के साथ मूसलधार पानी बरसेगा, जिसका जल अरस, विरस, खारा,

खट्टा, विषैला और तेजाब-सा तेज होगा। उससे निर्वाह न होकर विविध–व्याधि–वेदनाओं की उत्पत्ति होगी।

उन मेघों के जल से भारत के ग्रामों और नगरों के मनुष्यों और जानवरों का, आकाश में उड़ने वाले पक्षियों का, ग्राम्य तथा स्थावर त्रस-स्थावर प्राणियों का, और वर्त्तमान वनस्पतियों का विनाश हो जायगा। एक वैताढ्य पर्वत को छोड़ कर सभी पहाड़ पहाड़ियां वज्रपातों से खण्ड विखण्ड हो जायेंगी। गंगा और सिन्धु को छोड़ कर शेष नदी, नाले, सरोवर, आदि ऊँचे नीचे स्थल समतल हो जायेंगे।

गौतम—भगवन्! तब भारतभूमि की क्या दशा होगी?

महावीर—गौतम! उस समय भारतवर्ष की भूमि अंगार-स्वरूप, मुर्मुर स्वरूप, भस्मस्वरूप, तपे हुए तवे और जलती हुई आग-सी-गर्म, मरुस्थली की सी वालुका मयी, और छिछली झील सी काई (शैवाल) कीचड़ से दुर्गम होगी।

गौतम–भगवन्! तत्कालीन भारतवर्ष का मनुष्य-समाज कैसा होगा?

महावीर—गौतम! तत्कालीन भारतवर्ष के मनुष्यों की दशा बड़ी दयनीय होगी। विरूप, विवर्ण, दुर्गन्ध, दुःस्पर्श और विरस शरीर वाले होने से वे अप्रिय अदर्शनीय होंगे। वे दीनस्वर, हीनस्वर, अनिष्टस्वर, अनादेय वचन, अविश्वसनीय, निर्लज्ज, कपटपटु, क्लेशप्रिय, हिंसक, वैरशील, अमर्याद, अकार्यरत, और

अविनीत होंगे। उनके नख बड़े, केश कपिल, वर्ण श्याम, शिर बेडौल, और शरीर नसों से लिपटा हुआ-सा प्रतीत होने के कारण अदर्शनीय होगा।

उनके अंगोपाङ्ग बलों से संकुचित, मस्तक खुले खंडहर से, आँख और नाक टेढ़ी, तथा मुख बुड्ढों के से विरल दन्त बलों से भीषण होंगे।

उनके शरीर पामाग्रस्त, तीक्ष्णनखों से विक्षत, दाद से कठिन फटी चमड़ी वाले और दागों से चितकबरे होंगे। उनकी शारीरिक रचना निर्बल, आकार भौंडा और बैठने उठने खाने-पीने की क्रियायें निन्दनीय होंगी। उनके शरीर विविध व्याधि पीड़ित, गति स्खलनयुक्त और चेष्टायें विकृत होंगी।

वे उत्साहहीन, सत्वहीन, तेजोहीन, शीतदेह, उष्णदेह, मलिनदेह, क्रोध, मान, माया से भरे लोभी, दुःखग्रस्त, बहुधा धर्म संज्ञा हीन और सम्यक्त्व से भ्रष्ट होंगे। उनके शरीर हाथ भर के और उम्र सोलह अथवा बीस वर्ष की होगी।

वे पुत्र पौत्रादि बहुल परिवार-युक्त होंगे। उनकी संख्या परिमित और वे गंगा सिन्धु महानदियों के तटाश्रित वैताढ्य पर्वत के बहत्तर बिलों में निवास करेंगे।

गौतम—भगवन् ! उन मनुष्यों का आहार क्या होगा।

महावीर—गौतम ! उस समय गंगा-सिन्धु महानदियों का प्रवाह रथ-मार्ग जितना चौड़ा होगा। उनकी गहराई चक्रनाभि

से अधिक न होगी। उनका जल मच्छकच्छपादि जलचर जीवों से व्याप्त होगा। जब सूर्योदय और सूर्यास्त का समय होगा, वे मनुष्य अपने-अपने बिलों से निकलकर नदियों में से मत्स्यादि जीवों को स्थल में ले जायेंगे, और धूप में पके-भुने उन जलचरों का आहार करेंगे। दुष्षम-दुष्षमा के भारतीय मानवों की जीवनचर्या इक्कीस हजार वर्षों तक इसी प्रकार चलती रहेगी।

गौतम—भगवन्! वे निश्शील, निर्गुण, निर्मर्याद, त्याग-व्रतहीन, बहुधा मांसाहारी और मत्स्याहारी मर कर कहाँ जायेंगे? कहाँ उत्पन्न होंगे?

महावीर—गौतम! वे बहुधा नारक और तिर्यञ्चयोनियों में उत्पन्न होंगे।

अवसर्पिणी काल के दुष्षम दुष्षमारक के बाद उत्सर्पिणी का इसीनाम का प्रथम आरा लगेगा, और इक्कीस हजार वर्ष तक भारत की वही दशा रहेगी जो छठे आरे में थी।

उत्सर्पिणी का प्रथम आरा समाप्त होकर दूसरा लगेगा, तब फिर शुभ समय का आरम्भ होगा। पहले पुष्कर संवर्त्तक नाम का मेघ बरसेगा जिससे भूमि का ताप दूर होगा। फिर क्षीर मेघ बरसेगा, जिससे धान्य की उत्पत्ति होगी। तीसरा घृत मेघ बरस कर पदार्थों में चिकनाहट उत्पन्न करेगा। चौथा अमृत मेघ बरसेगा तब नाना प्रकार के रस वीर्यवाली औषधियां उत्पन्न होंगी और अन्त में रस-मेघ बरस कर पृथिवी आदि में रस की उत्पत्ति करेगा। ये पांचों ही मेघ सात सात दिन तक निरन्तर

बरसेंगे, जिससे दग्ध प्राय बनी हुई इस भारत भूमि पर हरियाली, वृक्ष, लता, औषधि आदि प्रकट होंगे। भूमि की इस समृद्धि को देखकर मनुष्य गुफा-बिलों से बाहर आकर मैदानों में बसेंगे, और मांसाहार को छोड़कर वनस्पति-भोजी बनेंगे। प्रतिदिन उनमें रूप, रंग, बुद्धि आयुष्य की वृद्धि होगी और उत्सर्पिणी के दुष्षमा समय के अन्त तक वे पर्याप्त सभ्य बन जायेंगे। वे अपना सामाजिक संगठन करेंगे। ग्राम नगर बसा कर रहेंगे। घोड़े हाथी, बैल, आदि का संग्रह करना सीखेंगे। पढ़ना, लिखना, शिल्पकला आदि का प्रचार होगा। अग्नि के प्रकट होने पर भोजन पकाना आदि विज्ञान प्रकट होंगे। दुष्षमा के बाद दुष्षमसुषमा नामक तृतीयारक प्रारम्भ होगा जब कि एक एक कर के फिर चौबीस तीर्थङ्कर होंगे और तीर्थ प्रवर्त्तन कर भारत वर्ष में धर्म का प्रचार करेंगे।

उत्सर्पिणी के दुष्षमसुषमा के बाद क्रमशः सुषमदुष्षमा, सुषमा, और सुषम सुषमा नामक चौथा पांचवां और छटा ये तीन आरे होंगे। इनमें सुषमदुष्षमा के आदि भाग में फिर धर्म-कर्म का विच्छेद हो जायगा। तब जीवों के बड़े बड़े शरीर और बड़े बड़े आयुष्य होंगे। वे वनों में रहेंगे और दिव्य वनस्पतियों से अपना जीवन निर्वाह करेंगे।

फिर अवसर्पिणी काल लगेगा और प्रत्येक वस्तु का ह्रास होने लगेगा।

इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणियां व अवसर्पिणियां इस संसार में व्यतीत होगई और होंगी। जिन जीवों ने संसार-प्रवाह से निकल कर वास्तविक धर्म का आराधन किया उन्होंने इस कालचक्र को पार कर स्वस्वरूप को प्राप्त किया और करेंगे।

अवसर्पिणी समा के प्रारम्भ में मनुष्य का आहार

अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के आद्यन्त अरकों में मनुष्य विद्या व्यवहार धार्मिक आचारों से हीन होंगे, फिर भी उनमें क्रोध मान कपट लोभ आदि दुर्गुण बहुत कम होंगे, भद्रपरिणामी और अनुशासन को मानने वाले होंगे। उनमें जो विशेष समझदार और संस्कारी मनुष्य होगा, वह उनको अनुशासन में रक्खेगा, उनके लिए नीति नियम बनायगा, और वे उन नीति-नियमों का पालन करेंगे। जैन परिभाषा में नीतिनियमों को बनाने वाले उस विशिष्ट पुरुष को कुलकर नाम से निर्दिष्ट किया है। वैदिक ऋषि कुलकर को मनुनाम से सम्बोधित करते हैं। विद्या-व्यवहार शून्य प्राचीन मनुष्य प्राणी कुलकरों अथवा मनुओं द्वारा अनुशासित, शिक्षित होने के कारण वे मनुष्य कहलायेंगे।

मनुष्य के आहार के विषय में सूत्र कृताङ्ग के आहार-परिज्ञानाध्ययन में नीचे लिखे अनुसार उल्लेख मिलता है।

> डहरा समाणा कखीरं, सप्पिं[१] अणु पुव्वेणं ।
> वुड्ढा ओयणं तसथावरे पाणे,[२] ते जीवा आहारेंति ॥

---

१. वर्त्तमान काल में भी बच्चे को जन्मते ही दुध तथा सर्पिष् फाय में लेकर वच्चे के मुह में डाला जाता है इस से सिद्ध होता है मनुष्य का मुख्य भोज्य पदार्थ दुग्ध घृत है, परन्तु ए पदार्थ जीवन पर्यन्त सभी के लिये प्रत्यक्ष नहीं, अतः बड़ा होने पर उसको अन्न खाना सिखाया जाता है।

२. यह सूत्र केवल युगलिक मनुष्यों के लिए आहार का विधान नहीं करता, आर्य अनार्य सभ्य असभ्य आदि सम्पूर्ण मानव जाति के आहार

अर्थात्—शिशुअवस्था में मनुष्य दुग्ध घृत का आहार करता है, बड़ा होने पर वह ओदनादि अन्न का आहार लेता है, और त्रस तथा स्थावर प्राणियो को भी आहार के रूप में ग्रहण करता है।

कुलकर कालीन युगलिक मनुष्यों आहार

युगलिक मनुष्य बहुधा वनों उद्यानों में रहते, और विविध वृक्षों के फल आदि का आहार करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं। उस काल में भारत भूमि में दस प्रकार के वृक्ष पर्याप्त परिमाण में होते थे। दशविध कल्प वृक्षों के विषय में अनेक जैन सूत्रों में विस्तार से लिखा है, परन्तु हम उन सब का अवतरण देंगे। जिस में कि दस प्रकार के कल्पवृक्षों के नाम सूचित किये गये हैं।

"अकम्म भूमियाण मणुआणं दसविहा रुक्खा उवभोगन्ताए उवत्थिया पन्नत्ता, तं जहा—

मतंगयाय भिंगा, तुडियंका दीव जोइ चित्तंगा ॥
चित्तरसा मणिअंगा, गेहागारा अनिगिणाय ॥

अर्थात्—अकर्म भूमक मनुष्यों के उपभोगार्थ दस प्रकार के वृक्ष उपस्थित रहना बताया है। जैसे—

मद्याङ्ग १, भृङ्गाङ्ग २, त्रुटिताङ्ग ३, दीपाङ्ग ४, ज्योतिरङ्ग ५, चित्राङ्ग ६, चित्ररसाङ्ग ७, मण्यङ्ग ८, गृहाकार ६, अनाग्न्याङ्ग १०,—

का निर्देश करता है। अतः त्रस प्राणियों का भी आहारके रूप में निर्देशकिया गया है, कि अनार्य असभ्य जाति के मनुष्यों में सूत्र निर्माण काल से पहले ही चलते फिरते प्राणियों के मांस आदि आहार के रूप में ग्रहण करने का प्रचार हो चुका था।

नामों का विशेष विवरण—१ मदाङ्ग वृक्षों से अकर्मक भूमिक मनुष्यों को मादक रस की प्राप्ति होती थी। २ भृङ्गाङ्ग वृक्षों से भृङ्गार कलश आदि वर्त्तनों का काम होता था। ३ त्रुटिताङ्ग वृक्षों से वादित्र संगीत का आनन्द मिलता था। ४ दीपाङ्ग वृक्षों से दीपक का-सा प्रकाश मिलता था। ५ ज्योतिरङ्ग वृक्षों से दूर तक फैलने वाली ज्योति निकलती थी। ६ चित्राङ्ग वृक्षों से रंग बे रङ्गे पुष्पमाल्यों का आनन्द लेते थे। ७ चित्ररसाङ्ग वृक्षों से षड्रसमय भोज्य पदार्थों की प्राप्ति होती थी ८। मण्यङ्ग वृक्षों से मणिरत्न सुवर्णादिमय आभूषणों का लाभ होता था। ६ गेहाकार वृक्ष उनको रहने के लिए घर का काम देते थे। और १० अनाग्न्य वृक्ष उनका शरीर ढाँकने के लिए वस्त्र का कार्य करते थे।

वर्त्तमान अवसर्पिणी समा के सप्त कुलकर

ऊपर के निरूपण में हमने अनेक स्थानों पर कुलकर शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु इनके व्यक्तिगत नाम तथा इनकी दण्ड नीति के विषय में कोई स्पष्टी करण नहीं किया। अतः यहां पर कुलकरों की संख्या, उनके नाम तथा उनकी दण्डनीति के विषय में समवायाङ्ग तथा आवश्यक निर्युक्ति के आधार पर दिया हुआ उनका स्वरुप संक्षेप में निरूपित करेंगे।—

समवायाङ्ग सूत्रकार कहते हैं —

"जम्बुद्दीवेणं भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए समए सत्त कुलगराहोत्था, तं जहा-पढ़मेत्थ विमल वाहण, चक्खुम जसम चउत्थ मभिचन्दे। तत्तोय पसेणईए, मरुदेवे चेव नाभीय" ॥ ३ ॥

अर्थात्—जम्बू द्वीप के भारत वर्ष में अवसर्पिणी समा में सात कुलकर हुए। वे इस प्रकार—

प्रथम—विमलवाहन १, चक्षुष्मान् २, यशस्वी ३, चौथा अभिचन्द्र ४, उसके बाद पाँचवाँ प्रसेनजित् ५, छठा मरुदेव ६ और सातवाँ नाभि।'

कुलकरों की दण्ड नीति

कुलकरों की दण्डनीति के विषय में आवश्यक सूत्र की नियुक्ति में ग्रन्थकार लिखते हैं।—

"हक्कारे मक्कारे धिक्कारे चेव, दण्डनीईओ।
वुच्छं तासि विसेसं, जहक्कम्मं आणु पुव्वीए॥ १६०
पढ़म विआण पढ़मा, तइय चउत्थाण अभिनवावीया।
पंचम छट्टस्स य, सत्तमस्स तइया अभिनवाउ॥१६८॥

टिप्पणी—१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में उपर्युक्त सात ७ कुलकरों के अतिरिक्त आठ नाम और मिला कर कुल पन्द्रह १५ कुलकर बताये हैं। जो निम्न लिखित पाठ से ज्ञात होगा।—

तीसेणं समाए पच्छिमेति भाए पलिओव मट्ठभागावसेसे एत्थणं इमे पण्णरस कुलगरा समुपज्जित्था; तंजहा—

सुमई १, पडिस्सुई २, सीमंकरे ३, सीमंधरे ४, खेमंकरे ५, खेमंधरे ६, विमलवाहणे ७, चक्खुमं ८, जसमं ९, अभिचन्दे १०, चन्दाभे ११, पसेणइ १२, मरूदेवे १३, णाभि १४, उसभे १५ ति"।

(सूत्र २८) पृ.१३२

आसा हत्थी गावो, गहिआइ रज्जसंगह निमित्तं ।
घित्तूण एवमाई, चउव्विहं संगहं कुणई ॥२०१॥
उग्गा भोगा रायण्णा, खत्तिआ संगहो भवे चउहा ।
आरक्खि गुरु वयंसा, सेसा जे खत्तिया तेउ ॥२०२॥

अर्थात—हा-कार मा-कार, धिक्-कार, ये तीन प्रकार की कुलकर कालीन दण्डनीतियाँ थीं। जिन का अनुक्रम से विशेष विवरण करूँगा। प्रथम तथा द्वितीय कुलकरों के समय में प्रथमा हा कार नाम की दण्डनीति थी। तृतीय चतुर्थ कुलकरों के शासन-काल में मा-कार नाम की दण्डनीति चलती थी। तब पञ्चम षष्ठ और सप्त कुलकरों के समय में धिक्कार नीति का प्रयोग होता था। तात्पर्य यह है कि, प्रथम द्वितीय कुलकर-कालीन मनुष्य बहुत ही सीधे और अल्प-कषायी होते थे, इस कारण उनकी कुछ भी भूल होने पर कुलकर उन को 'हा" इस प्रकार कहते और वे बड़ा भारी दण्ड समझकर फिर कोई अपराध न करते थे, परन्तु समय बीतने के साथ साथ मनुष्यों की भावनायें कुछ कठोर होती गई, परिणाम स्वरूप प्रथमदण्डनीति का असर कम होने लगा। तब तृतीय चतुर्त कुलकरों ने द्वितीय नीति का अवलम्बन लिया, और अपराधी मनुष्यों को "मा"। इस प्रकार स्पष्ट रूप से वर्जित कार्य करने का निषेध करना पड़ता था। परन्तु समयान्तर में वह नीति प्रभाव-हीन हो गयी। फलतः पञ्चम षष्ठ, सप्तम कुलकरों को "धिक्कार" नीति का आधार

लेना पड़ा। वे किसी भी अपराधी मनुष्य को धिक्कारते, तब वह अपने को दण्डित समझता था।

(अन्तिम कुलकर नाभि ने अपने पिछले जीवन में कुलकर का कार्यभार अपने पुत्र ऋषभ पर छोड़ दिया था। ऋषभ नाभि से विशेष ज्ञानी थे, अतः उन्होंने मनुष्य समाज की विशेष व्यवस्था के लिए) घोड़े, हाथी, गाय आदि को पकड़वा कर राज्याङ्गों का संग्रह किया और इस प्रकार उपयोगी पशुओं को पकड़वा कर चतुर्विध राज्योपयोगी अङ्गों का संग्रह किया। इसी प्रकार मनुष्यों को भी चार वर्गों में बाँट कर उग्र, भोग, राजन्य, और क्षत्रिय इन नामों से सम्बोधित किया। उग्रों को उन्हों ने नगर रक्षकों का काम सौंपा, भोगों को अपना गुरु स्थानीय और राज्यों को मित्र स्थानीय माना। शेष जो रहे वे क्षत्रिय नाम से प्रसिद्ध हुए। —

ऋषभ कुलकर ने अपने पुत्र भरत आदि को पुरुषों योग्य द्वास प्रति कलाओं का शिक्षण दिया, जिनका नाम निर्देश नीचे के अनुसार है।

"लेख (लिपि) १, गणित २, रूप ३, नाट्य ४, गीत ५, वादन ६, स्वर गत ७, पुष्करगत ८, समताल ६, द्यूत १०, जनवाद ११, पोक्खच्च १२, अष्टापद १३, दग मृत्तिका १४, अन्नविधि १५, पानविधि १६, वस्त्रविधि १७, शयनविधि १८, आर्या १६, प्रहेलिका २०, मागधिका २१, गाथा २२, श्लोक २३, गंधयुक्ति २४, मधुसिक्त २५, आभरण विधि २६, तरुणीप्रतिकर्म २७, स्त्री लक्षण २८, पुरुष लक्षण २६, अश्व लक्षण ३०, गज लक्षण ३१,

वृषभ लक्षण ३२, कुर्कुट लक्षण ३३, मेघ लक्षण ३४, चक्र लक्षण ३५, छत्रलक्षण ३६, दण्ड लक्षण ३७, असि लक्षण ३८ मणि-लक्षण ३९, काकणी लक्षण ४०, चर्म लक्षण ४१, चन्द्र लक्षण ४२ सूर्यचार ४३, राहुचार ४४, ग्रहचार ४५, सौभाग्यकर ४६, दौर्भाग्यकर ४७, विद्याकर ४८, मन्त्रगत ४९, रहस्यगत ५०, सभाष्य ५१, चार ५२, प्रतिचार ५३, व्यूह ५४, प्रतिव्यूह ५५, स्कंधावारमान ५६, नगरमान ५७, वस्तुमान, ५८, स्कंधावार निवास ५९, वास्तुनिवेश ६०, नगरनिवेश ६१, अश्वरथ ६२, त्सरुप्रताप ६३, अश्व शिक्षा ६४, हस्ति शिक्षा ६५, धनुर्वेद ६६, हिरण्य सुवर्ण मणि धातुपाक ६७, वाहुदण्ड-मुष्टि यष्टि युद्ध, युद्ध, नियुद्ध युद्धाति युद्ध ६८, सूत्र क्रीड़ा, धर्म क्रीड़ा, चर्मक्रीड़ा ६९, पत्रच्छेद्य, कटच्छेद्य ७०, सजीव निर्जीव ७१, शकुन रुत ७२।

कल्प वृक्षों की अल्पता के समय में उन मनुष्यों के भोग्यपदार्थ

जब तक उपर्युक्त दशविध वृक्ष प्रचुर परिमाण में होते हैं, तब तक अकर्म भूमिक मनुष्य आनन्द से अपना जीवन व्यतीत करते हैं, परन्तु परिवर्तन काल वाले क्षेत्रों में ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों वैसे वृक्ष लुप्त होते जाते हैं। परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने आवश्यक साधनों के लिए, इधर-उधर घूमते हैं और अन्य परिगृहीत वृक्षों पर आक्रमण करते हैं, और उनमें कलहकारी वृत्तियां बढ़ती जाती हैं। वे अपने वृक्षों पर आक्रमण करने वालों की शिकायत कुलकर के पास जाकर करते हैं; कुल-कर अपनी नीति के अनुसार शिक्षा करता है। ऐसी परिस्थिति

के आने पर कुलकर उन मनुष्यों को कल्पवृक्षादिक का मोह छोड़ कर जंगली धान्यों तथा कन्द मूलों का उपयोग करके अपना निर्वाह करने का मार्ग बताता है। आवश्यक निर्युक्ति तथा मूल-भाष्य में इस वस्तु का निरूपण नीचे की गाथाओं में उपलब्ध होता है।

"आसी अ कन्दहारा, मूलाहारा य पत्तहारा य।
पुप्फ फल भोइणोऽवि अ, जइया किर कुलगरो उसभो ॥५॥
आसीअ इक्खु भोई, इक्खागा तेण खत्तिया हुंति।
सणसत्तरसंधण्णं, आमं ओमं च भुंजीआ ॥६॥

अर्थात्—जिस समय भारत भूमि में ऋषभ नामक कुलकर थे उस समय के मनुष्य कन्दाहारी, मूलाहारी, पत्राहारी व पुष्पफल भोजी थे। उनमें जो इक्षु भोजी मनुष्य थे, इक्ष्वाकु क्षत्रिय कहलाये। ये सभी शण पर्यन्त सत्रह प्रकार के कच्चे धान्यों का भी थोड़ा-थोड़ा भोजन करने लगे।

"आसीअ पाणिघंसी तिम्मिअ तन्दुल पवालपुड भोई।
हत्थ तल पुडाहारा, जइया किर कुलकरो, उसहो ॥८॥
अगणिस्सय उट्ठाणं, दुमघंसा दट्ठु भीअं परि कहणं।
पासे सु परिछिंदह, गिण्हइरह पागं च तो कुणह।
पक्खेव दहण मोसहि, कहणं निग्गमण हत्थि सीसम्मि।
पयणारम्भ पवित्ती, ताहे कासी अ ते मणुआ ॥१०॥ (मू.भा.)

अर्थात्—ऋषभ कुलकर कालीन मनुष्यों को जब कच्चे धान्य बीजों से अजीर्ण होकर उदर पीड़ा होने लगी तभी उन्होंने कुलकर के आगे इसकी शिकायत की कि कच्ची औषधियां खाने से हमें उदर-दर्द हो रहा है। इस पर कुलकर ने धान्य-बीजों को हथेलियों में घिस कर साफ करने के बाद कमल पत्रों के पुटों में जल लेकर, बीज उनमें रख कुछ समय तक भीगने के बाद हाथों में लेकर खाने की सलाह दी। इस प्रकार भोजन करने से कुछ समय तक उन्हें राहत मिली, परन्तु कची औषधि खाने के कारण कालान्तर में फिर अजीर्ण की शिकायत खड़ी हुई, तब वे कुलकर के पास आकर अपना दुःख सुनाने लगे।

उधर जंगल में वृक्षों के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न हुआ, जिसे देख कर मनुष्य भयभीत होकर इसकी सूचना देने कुलकर के पास गये। कुलकर ने कहा अग्नि उत्पन्न हो गया है, इसलिये अब धान्य बीज जलती हुई आग के छोरों पर डालके पकने पर खाओ। मनुष्यों ने वैसा ही किया, परन्तु अग्नि में डाले हुए बीज सब जल गये। मनुष्यों ने कुलकर से कहा, वह स्वयं भूखा है और हम जो कुछ उसे देते हैं, वह स्वयं खा जाता है। हाथी पर बैठे हुए कुलकर ने कहा, उस तालाब में से कुछ गीली मिट्टी लाओ। उन्होंने वैसा ही किया। कुलकर ने मिट्टी के पिण्डों को हाथी के कुम्भ स्थलों पर रख कर हाथों से थपथपा कर बर्त्तन का आकार बनाया, और उन्हें देते हुए कहा इनको धूप में सुखा कर तेज आग में डालो, जब यह पक कर ठंडा हो जाय तब

अमुक मात्रा में पानी डाल कर औषधियां डालो और आग पर रक्खो। जब वे पक कर तैयार हो जांय तब उन्हें खाया करो। उन भद्र मनुष्यों ने कुलकर की आज्ञा के अनुसार वैसा ही किया, और इस प्रकार भोजन पका कर खाने की प्रवृत्ति चलाई।

इस प्रकार अवसर्पिणी समा के तृतीयारक के अन्त में कुम्भकार कौशिल्य प्रकट हुआ। इसी प्रकार लोहकार चित्रकार वस्त्रकार और बाल बनाने वालों के शिल्प भी अस्तित्व में आये। इन पांच शिल्पों में से प्रत्येक के बीस बीस भेद होकर कुल सौ शिल्प प्रसिद्ध हुए। परन्तु तब तक जनता में अनीति का बीजारोपण तक नहीं था, अतः दण्ड नीति आदि राज्य विधान साधन मात्र था उसका प्रयोग प्रायः नहीं होता था। उस समय के मनुष्य सुखी सन्तोषी और भद्र परिणामी थे, वे वनस्पति का आहार और नदी-झरनों के पानी पीकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। उनमें घूत, मांस,-भक्षण, मदिरा-पान, वेश्यागमन, आखेटक करने की आदत, चोरी अथवा पर स्त्री गमन आदि कोई दुर्व्यसन नहीं था, दिन प्रतिदिन मानव समाज सभ्यता में आगे बढ़रहा था।

भगवान् ऋषभदेव के संसार-त्याग के उपरान्त उनके बड़े पुत्र भरत भारतवर्ष के राजा हुए, उन्होंने राज्य की व्यवस्था के लिये चतुरङ्ग सैन्य का संग्रह किया, स्थान-स्थान पर नगर-निवेश करवा कर मनुष्यों को बसतियों में बांट दिया, जो कुछ उनके लिये जरूरी साधनों की कमी थी वह पूरी की, वे चक्रवर्त्ती

राजा बने, मानव-गण को व्यवस्थित रखने के लिए राज नीति का निर्माण हुआ।

भरत चक्रवर्ती की माहणशाला

भगवान् ऋषभदेव प्रव्रज्या लेकर देश भ्रमण करते और तपस्या करते हुए केवलज्ञानी हुए। कालान्तर में वे भरत की राजधानी विनीता से कुछ योजनों की दूरी पर रहे हुए अष्टापद पर्वत पर पधारे। भरत को उनके आगमन की पर्वत-पाल ने बधाई दी। भरत बड़े विस्तार के साथ उनको वन्दन करने गया, साथ में गाड़ियों-बन्द पका-पकाया भोजन भी ले गया था, इस विचार से कि इसका भगवान के मुनिगण को दान करेंगे। बन्दन धर्म श्रवण के उपरान्त भरत ने मुनिगण को निमन्त्रण दिया कि निर्दोष आहार तैयार है, कृपा कर उसे ग्रहण कीजिए। भगवान् ने "राज पिण्ड अकल्प्य है" कह कर भरत की प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया। भरत बहुत निराश हुए, इस पर इन्द्र ने कहा राजेन्द्र! निर्ग्रन्थ श्रमण अभिषिक्त राजा के घर से भोजन वस्त्र आदि पदार्थों को ग्रहण नहीं करते। तुम अपने भारतवर्ष भर में श्रमणों को अवग्रहदान देकर लाभ ले सकते हो। इस पर से भरत ने अपने अधिकार के भू भाग में विचरने-रहने की आज्ञा दे दी, और इन्द्र से पूछा कि लाये हुए इस भोजन की क्या व्यवस्था की जाय। इन्द्र ने कहा, यह अन्न साधर्मिक गृहस्थ श्रावकों को जिमाइये और भक्ति का लाभ लीजिये। भरत ने वैसा

ही किया और सदा के लिये गृहस्थ धर्मियों को इसी प्रकार भोजन पानी वस्त्र आदि देकर लाभ लेने का निश्चय किया।

उन्होंने एक बड़ा-सा मकान धर्मार्थी श्रावकों के लिये खुलवाया और वहाँ रहने खाने-पीने की सदा के लिये व्यवस्था की। वहाँ रहने वालों को यह सूचित किया कि जब-जब मुझे जाते-आते देखो, तब तब ऐसे उपदेशिक शब्द मेरे कानों में पहुँचाओ कि उन्हें सुन कर मैं सावधान हो जाऊँ। राजा की इस सूचना के अनुसार वे श्रावक हर समय उन्हें जाते-आते देखकर कहते "जितो भवान्" "वर्द्धते भयन्" तस्मान्मा हन मा हन" इसका मतलब भरत सोचता मैं किस से जीता गया, और मुझ पर किस से भय बढ रहा है, उसके मन का समाधान स्वयं हो जाता था कि क्रोध लोभ आदि शत्रुओं से मैं जीता गया हूँ, और मुझ पर संसार भ्रमण का भय बढ रहा है, इसलिये मुझे प्राणि हिंसा नहीं करनी चाहिये।

जो गृहस्थ श्रावक अपने में साधु होने की योग्यता नहीं पाते और संसारिक प्रवृत्तियों में जिनको रस नहीं होता, वे सभी भरत-स्थापित इस माहनशाला में रहते और भरत निर्मापित आर्यवेदों का अध्ययन करते थे। उन वेदों में मुख्य वस्तु तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों की स्तुतियां और गृहस्थ धर्म का निरूपण होता था, पिछले जैन ग्रन्थकारों ने इन्हीं नियमों का आर्यवेद इस नाम से वर्णन किया है।

इन नियमों के पढ़नेवाले श्रावक बार-बार "मत मार मत मार" इस अर्थ को सूचित करने वाला "मा हन मा हन" पद बोलने के कारण वे माहन नाम से प्रसिद्ध हो गये थे, जो बाद में जैन ब्राह्मण कहलाये।

माहनों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती थी, बिना परिश्रम भोजन वस्त्राच्छादन की प्राप्ति होती देख कर अनेक मनुष्य माहन शालाओं में दाखिल होते गये। भोजन बनाने वालों ने शिकायत की कि भोजन करने वालों की संख्या का कोई ठिकाना नहीं रहता, इस पर राजा ने माहनों की वृद्धि पर नियन्त्रण करने के लिये उनकी परीक्षा का क्रम रक्खा, दाखिल होते समय उनकी परीक्षा ली जाने लगी, और परीक्षा में जो वास्तविक धर्मार्थी श्रावक पाये जाते वे ही माहनशाला में दाखिल किये जाते थे, और उनकी पहचान के लिये बांये कन्धे से दाहिने उदर भाग तक यज्ञोपवीत की तरह काकणीरत्न से तीन रेखा खींचली जाती थी। जिसके शरीर पर यह चिन्ह पाया जाता वही माहन माना जाता और माहनशाला में रहने का अधिकार पाता।

भरत के उत्तराधिकारी आदित्ययशा आदि माहनों को सुवर्ण का यज्ञोपवीत देते थे। भरत के अष्टम उत्तराधिकारी राजा दण्ड वीर्य ने माहनों को रजत का यज्ञोपवीत दिया, और उसके बाद के राजाओं ने सूत का यज्ञोपवीत देना शुरू किया। जैन माहनों की यह परम्परा और उनके आर्यवेद बहुत काल तक चलते रहे।

सुविधिनाथ नामक नवम तीर्थङ्कर के धर्मशासन के अन्त समय में जैन श्रमणों का अस्तित्व लुप्त हो गया था, और धर्म सम्बन्धी कोई भी निर्णय जैन माहनों के विचारों पर निर्भर रहता था। माहनों ने इस स्वातंत्र्य लाभ का दुरुपयोग किया। मूलनिगम जो केवल अहिंसा धर्म का प्रतिपादन करने वाले थे, उनको वस्त्रों में बांध कर उनके स्थान नये निगमों का निर्माण किया, जिनमें यज्ञों में सुवर्ण-दान, भूमि-दान, आदि दानों का प्रतिपादन किया गया। जैनाचार्यों ने इन नये वेदों के निर्माताओं के रूप में याज्ञवल्क्य सुलसादि का नाम-निर्देश किया है।

२—वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में मनुष्य का आहार

वेदों का अनुशीलन करने वाले आधुनिक विदेशी विद्वानों तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों की ऐसी मान्यता हो गयी है कि ऋग्वेद संहिता जो सब से प्राचीन ग्रन्थ है, उसमें यव के अतिरिक्त व्रीहि आदि धान्यों का नाम-निर्देश नहीं मिलता, अतः उस समय के आर्यों में धान्य का आहार के रूप में व्यवहार अत्यल्प होता होगा। विद्वानों की इस मान्यता को हम प्रामाणिक नहीं कह सकते, प्राचीन संस्कृत शब्दों-खास कर वैदिक शब्दों का प्रयोग रहस्य-पूर्ण होता था। वह रहस्य उनका प्रयोग करने वाले अथवा उनके शिष्य ही यथार्थ रूप में जान सकते थे, अथवा तत्कालीन निघण्टुकार उन शब्दों का रहस्य खोल सकते थे।

ऋग्वेद में आने वाला "यवास" शब्द केवल यव धान्य को ही सूचित नहीं करता, किन्तु उसकी जाति के गोधूमादि सर्वधान्यों

का सूचन करता था। चिरकाल के बाद उस रहस्य को जानने वाले ऋषि तथा प्राचीन निघण्टु अदृश्य हो गये, और यवास शब्द का वास्तविक अर्थ भी विस्मृत होकर, यवास केवल यव रह गया। इसी प्रकार अपना मौलिक अर्थ खोने वाले सैकड़ों शब्द हमारे दृष्टिपथ में आते हैं कि जिनका मौलिक अर्थ बदल चुका है, और कल्पित अर्थ में आजकल वे प्रयुक्त होते हैं। इस विषय में कुछ उदाहरण हम नीचे उद्धृत करते हैं।

(१)—"कपोत" यह शब्द अतिपूर्व काल में पक्षिमात्र का वाचक था, "के—आकाशे पोतः-प्रवहणम् कपोतः" इस व्युत्पत्ति से पक्षिमात्र कपोत कहलाता था, परन्तु आज कपोत शब्द से केवल कबूतर पक्षी का ही बोध होता है।

(२):—"मृग" यह शब्द हजारों वर्ष पहले वनचर पशुओं का वाचक था। जिनमें हिरण, भेड़िया, बाघ, भैंसा, [२]हाथी,

---

१—"कपोतः पक्षिमात्रेऽपि" इत्यादि अभिधान कोशों के प्रतीकों से आज भी कपोत शब्द का पक्षिमात्र वाच्यार्थ होने का संकेत रह गया है, फिर भी व्यवहार में इस अर्थ में प्रयोग नहीं होता।

"वराह महिषन्यङ्कु रुरु रोहित वारणाः ॥ २० ॥
समरश्चमरः खड्गो महिषः ॥ २१ ॥

२—कल्पद्रु शब्द कोश के उपर्युक्त उद्धरण में आये हुए वराह महिष आदि सभी नाम वन्य पशुओं के है, जिन्हें कोशकार ने महा मृग कहा है। शृगाल भी मृग जाति का ही क्रव्याद प्राणी है, परन्तु वह विशेष चतुर होने के कारण कोशकारों ने उसे मृगधूर्तक कहा है। पर्णमृग, शाखामृग (बन्दर) आदि अनेक जानवर मृग जाति में सम्मिलित हैं।

अष्टापद आदि तृण भक्षी और मांस–भक्षी वन्य पशु आ जाते थे। इनमें सिंह अधिक पराक्रमी होने से इनका राजा माना जाता था, इसी कारण से आज भी मृगपति कहलाता है, और अपना आधिपत्य जमाए हुए है, परन्तु मृग शब्द का वास्तविक अर्थ आज संस्कृत शब्द कोष लेखक भी भूल चुके हैं। मृग शब्द को आज केवल हरिण तथा कहीं–कहीं "याचक" के अर्थ का प्रति पादक बताते हैं।

(३)—"असुर" शब्द वेद-काल में प्राणवान् शक्ति का प्रति पादक था, परन्तु आज वह पौराणिक दैत्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(४)—"प्रवीण"[1] यह शब्द पहले प्रकृष्ट वीणा वादक के अर्थ में प्रयुक्त होता था, परन्तु आज इसमें अपना मूल अर्थ तिरोहित कर दिया है, और वह चतुर अथवा दक्ष के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(५)—"उदार"[2] शब्द प्रारम्भ में इसारे से चलने वाले बैल अथवा घोड़े के अर्थ में प्रयुक्त होता था, परन्तु आज इसका मूल अर्थ बदल गया और वह इच्छा से अधिक देने वाले वदान्य पुरुष के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

टिप्पणी १—"प्रकृष्टो वीणायां प्रवीणो गान्धर्वे अत्र हि अस्य मुख्या वृत्तिः। स एष स्वमर्थमुत्सृज्यैव गान्धर्वमभ्यासपाटवमत्र सामान्यमाश्रित्यसर्वत्रैवाभिप्रवृत्तः यो हि यस्मिन् कृतयत्नः उत्पन्न कौशलोभवति स तत्रोच्यते प्रवीण इति तद् यथा "प्रवीणो व्याकरणे" "प्रवीणो निरुक्ते" इति "यास्क निरुक्त भाष्ये"

टिप्पणी २—"उदार', इति प्राणार सन्निपाताद् व्याहृतिमात्रेणैव-वाक्-संकेतेनैवसारथे यो वहत्यश्वोऽनड्वान् वा स उद्गतारत्वात् उदारः। तत्र हि समञ्जसा वृत्तिरस्य शब्दस्य। स एष उत्सृज्यैव स्वमर्थमाकूतानुविधायित्वमात्रमेव सामान्यमाश्रित्य प्रवृत्तः योहि कश्चित् कस्मैचिदाकूतं लक्षयित्वा प्रागेव प्रार्थनात् ददाति स उदार इत्युच्यते।
"यास्क निरुक्त भाष्ये"

(६)—"निस्त्रिंश"[1] शब्द प्रथम उस तलवार के अर्थ में प्रयुक्त होता था, जिसकी दाहिनी बाँयी और अगली तीनों धारायें तीक्ष्ण होती थीं। परन्तु निस्त्रिंश का आज वह अर्थ नहीं रहा, आज तो यह शब्द सामान्य तलवार और निर्दय प्राणी के अर्थ में व्यवहृत होता है।

(७)—"मधु" शब्द वेद काल में केवल जल के अर्थ में प्रयुक्त होता था। कालान्तर में वह पुष्पस्थित मकरन्द रस का वाचक भी होगया और धीरे धीरे मक्षिका संचित मकरन्द और उस के संचय का अनुरूप मास चैत्र और ऋतुवसन्त ये सभी मधु शब्द-वाच्य हो गये पिछले लेखकों ने तो मधु शब्द का मद्य के अर्थ में भी प्रयोग कर डाला।

इन थोड़े से उद्धरणों से वाचक-गण को यह ज्ञात हो जायगा कि कोई भी शब्द अपना वाच्यार्थ सदा के लिए टिका नहीं सकता। कई अनेकार्थक शब्द अनेक अर्थों को छोड़ कर एक आध अर्थ को टिकाये रखते हैं, तब अनेक एकार्थक शब्द अनेकार्थक बन जाते हैं। इस दशा में यव आदि शब्दों को पकड़ कर अन्य धान्य वाचक शब्दों और उनके वाच्यार्थ धान्यों का अभाव मान लेना अदूरदर्शिता है।

टिप्पणी १—"निस्त्रिंशं शब्दः त्रिभिः प्रदेशैः द्वाभ्याम् धाराभ्याम् अग्रेण च निशितः श्यतीतिच निस्त्रिंशः खड्गः स्य ग्रहणात् तत्र ह्यस्य शब्दस्य समञ्जसा वृत्तिः। स एष छेदनसमानरूपं क्रौर्य-सामान्य माश्रित्य सर्वत्रैवाभि प्रवृत्तः यो हिलोके क्रूरो भवति, स निस्त्रिंशः इत्युच्यते।

"यास्क निरुक्त भाष्ये"

ऋक् संहिता में धान्य शब्द का उल्लेख—

"यस्ते सूनो सहसो गीर्भिरुक्थै यज्ञैर्मर्त्यो निशितं वेद्यानट्
विश्वं स देव प्रतिवार मग्ने धत्ते धान्यं प्यते व सव्यै ॥

(ऋक् संहिता ६।१३४)

अर्थात्—हे बलके पुत्र तुम्हारा क्षीणता जो मर्त्य (मनुष्य) स्तुति और यज्ञ द्वारा वेदी (यज्ञभूमि पर पाते हैं) हे द्योतमान ! अग्नि ! वे समस्त धान्य प्रतिधारण करते और धन सम्पन्न होते है ।

कृष्ण यजुर्वेद में शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार के ब्रीहि का का उल्लेख है यथा—

"ब्रीहीनाहरेच्छुक्लांश्चकृष्णांश्च"

(तैत्तरीयसंहिता ।८।२।१।२।)

अर्थात्—शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार के ब्रीहि को इकट्ठा करो ।

ब्रीहि शब्द का उल्लेख अथर्ववेद के पूर्ववर्त्ती तैत्तरीय और वाजसनेय संहिता में मिलता है । यथा—

यवं ग्रीष्मायौषधीर्वर्षाभ्यो । ब्रीहीन शरदे माषतिलौ हेमन्त शिशिराभ्याम्"

(तैत्तरीय संहिता ७।२।१०।२)

ब्रीहिश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्" ।

(वाजसनेय संहिता १८।१२।)

अर्थात—ग्रीष्म ऋतु से यव जाति के धान्यों का, वर्षा से

औषधियों का, शरद से व्रीहि धान्यों का और हेमन्त शिशिर से माष तिलों का संग्रह करो।

मेरे व्रीहि, यव और माष यज्ञ के काम में प्रस्तुत हों।

षड्विंश ब्राह्मण में

"वीर्यमन्नाद्यं धेहीत्याह"

प्र० प्र० २ खं०पृ.२

अर्थात्—अन्न भोजन से उत्पन्न बल को धारण कर।

"अस्मात पितरो जन्येतैवान्नेना (अन्नेन) अमस्यन्नादो भवति" ॥ ७ ॥ प्र० प्र० ७ खं० पृ० ६

"नित्यतन्त्रे गौदन कृशर यवागू रक्त पायस दधिक्षीर घृत पायसं घृतमिति घृतोत्तराः पृथक् चरवः सर्वे सर्वेषाम् वा पायसः ॥ २ ॥ प्र० पञ्चमे २ खं० पृ० ३३

"देवाश्च वासुराश्चेषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त ते देवाः प्रजापतिमुपाधावन् तेभ्यः एतां शान्तिं त्रेवीं प्रायच्छत् ते ततः शान्त्येका असुरानभ्यजयन्, ततो देवा अभवन्, परा सुरा भवत्यात्मना परास्य भ्रातृव्यो भवति य एवं वेदाथ पूर्वाह्न एव प्रातराहुतिं हुत्वा दर्भाच्छमीं वीरणां, दधि सर्पिः सर्षपान् फलवती मपामार्गन्तः शिरीष मित्येतान्याहरेदाहारयेद्वा स्नातः प्रयतः शुचिः शुचिवासाः स्थण्डिलमुपलिप्य प्रोद्यल्लक्षणमुल्लिख्याद्भिरभ्युक्ष्याऽभिमुपसमधाय नित्यतन्त्रेण।

(घृतोत्तरा पृथक् चरवः सर्वे सर्वेषां वा पायसः) इत्यनेन प्रत्येकं इन्द्र-यम-वरुण-वैश्रमण-अग्नि-वायु-विष्णु-रुद्र-मृत्यो-दिभ्यः अरिष्टशान्त्यर्थं पञ्च पञ्चाहुतयः ददुः ।

"षड्विंशब्राह्मण पृ० ३४-३८

उपर्युक्त अनेक उल्लेखों में अन्न, अन्नाद्य, अन्नाद, आदि शब्द प्रयोग में आये हैं । इतना ही नहीं, देवासुर संग्राम के प्रसङ्ग पर देवों ने प्रजापति से जो अरिष्ट शान्ति का विधान प्राप्त किया, उसमें सभी देवों के नाम के अन्नमय चरु बनाकर पांच-पांच आहुतियाँ देने का विधान बताया है ।

गोपथ ब्राह्मण में--

"भूम्याऽन्नमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्, अन्नेन प्राणोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टः, प्राणेन मनोऽभिन्नं ग्रसितं परामृष्टम्," ॥ ३७ ॥

"प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठितः, अन्नं भूमौ प्रतिष्ठितम ॥ ३८ ॥

"विचारी ह वै काबन्धिः कबन्धस्याथर्वणस्य पुत्रो मेधावी मीमांसकोऽनूचान आस, सह स्वेनेनातिमानेन मानुषं वित्तं नेयाय, तं मातोवाचत एवैतदन्नमवोचंस्त इममेषु कुरु पञ्चालेषु अङ्गमगधेषु काशि-कौशल्येषु शाल्वमत्स्येषु शवसउशीनरेषु उदीच्येष्वन्न मदन्ति' ।

'अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत ततः उच्छिष्टमश्नात् सा गर्भ मधत्त, ततः आदित्या अजायन्त य एष ओदनः पच्यते आरम्भण-मेवैतत्" पूर्व भाग २ प्रपा० पृ० २७

ऊपर लिखे तीन अवतरणों में से पहले में अन्नोत्पत्ति का क्रम बता कर अन्त में प्राण का आधार अन्न बताया है, और अन्न का आधार भूमि।

द्वितीय अवतरण में कावन्धि नामक अनूचान को उसकी माँ ने अपने निवास को छोड़ कर उदीच्य देशों में चलने की प्रेरणा की और कुरु, पाञ्चाल, अङ्ग, मगध, काशी, कोशल, शाल्व, मत्स्य शिवि, उशीनर, आदि भारत के उत्तरीय देशों में सभी लोग अन्न भोजी हैं, इसलिये हम वहां चले जायें। काबन्धि के इस वृत्तान्त से यह सिद्ध होता है, कि गोपथ ब्राह्मण के निर्माणकाल में उत्तर भारत की प्रजा केवल अन्न भोजी थी। वहां पर मांस मच्छी खाने वाला कोई नहीं था।

गोपथब्राह्मण के तृतीय अवतरण में पुत्र कामा अदिति के यज्ञार्थ ओदन पकाने तथा यज्ञशेष पुरोडाश खाने से आदित्यों का जन्म होने का कथन है। इसमें भी गोपथब्राह्मण के समय में अन्न ही से देवताओं का यजन किया जाता था, पशुबलि की प्रथा नहीं थी।

"अन्नं वै सर्वेषां भूतानामात्मा तेनैवैनच्छमयाञ्चकार प्राशित्र मनुमन्त्रयते" उ० भा० १ प्रपा० पृ० ७८

"याज्यया यजति, अन्नं वै याज्या, अन्नाद्यमेवास्य तत्कल्पयति, मूलं वा एतद् यज्ञस्य यद्धायाश्च याज्याश्च" ॥ २२ ॥

उ० भाग० प्रपा पृ० ११५

गोपथ के उपर्युक्त दो अवतरणों में से पहले में अन्न को सर्व भूतों का आत्मा बताया, तब दूसरे प्रतीक में अन्न को ही यज्ञ का मूल बताया है।

"त्रयाणां भक्षयाणामेकमाहरिष्यन्ति सोमं वा दधि वापो वा स यदि सोमं ब्राह्मणानां स भक्षः ब्राह्मणांस्तेन भक्षेण जिन्विष्यसि"

"अथ यदि दधि वैश्यानां स भक्षो वैश्यान तेन भक्षेण जिन्विष्यसि"

"अथ यद्यपः शूद्राणां स भक्षः शूद्रांस्तेन भक्षेण जिन्विष्यसि"
म० पं० अ ४, प० १४ पृ० २

ऐतरेय ब्राह्मण के उपर्युक्त अवतरण में ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, का भक्ष्य क्रमशः सोम, दधि, और जल बताया है।

क्षत्रिय के भक्ष्य का उल्लेख नहीं किया, यही नहीं परन्तु इसी ब्राह्मण में आगे जाकर यह लिखा है, कि क्षत्रिय राजा के हाथ का हव्य देवता ग्रहण नहीं करते, इससे ध्वनित होता है कि उस समय में क्षत्रियों में अन्न के अतिरिक्त दूसरे प्राणि जात खाद्य भी हो गये होंगे।

उपर्युक्त वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त शांख्यायान ब्राह्मण (११।८) शतपथ ब्राह्मण (१४।६।३।२२।) कात्यायन श्रौतसूत्र (२२।११।१) अथर्ववेद के कौशिक सूत्र आदि वैदिक ग्रन्थों में भी धान्य शब्द का प्रयोग देखने में आता है।

उपनिषदों के अनुसार सृष्टि और मनुष्य का आहार

तैत्तरीयोपनिषद् में अधोलिखित प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है।

(२) "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। औषधिभ्योऽन्नम। अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्न रसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।"

"तैत्तरीयोपनिषद्" पृ० ४३

अर्थात्--अनन्तर इस पुरुष से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधि, औषधि से अन्न और अन्न से पुरुष। यह पुरुष अन्न रसमय है। उसका यही शिर है। यह दक्षिण भाग, यह वाम भाग, यही आत्मा और यह पुच्छ ही प्रतिष्ठा है।

"अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीः श्रिताः। अथोऽन्ने नैव जीवन्ति। अथैतदपि यन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद् भूतानि जायन्ते, जातान्यन्नेन वर्धन्ते।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते इति"।

"तैत्तरीयोपनिषद्" पृ०२३

अर्थात्—अन्न से निश्चित रूप से प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। जो कोई पृथिवी को आश्रय करके रहती हैं, और वे अन्न से ही जीती हैं। अन्त में इसी को प्राप्त होती हैं। अन्न ही प्राणियों के लिये सब से बड़ी चीज है। इसी कारण वह सर्वौषध कहलाता है। अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न प्राणी अन्न से जीते हैं। प्राणियों द्वारा खाया जाता है, अथवा प्राणी उसे खाते हैं अतः वह अन्न कहलाता है।

(२) "पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्यु ति तृप्यन्त्यां, यत्किंचिद् यद् द्युश्च पर्जन्यश्चा धितिष्ठतस्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति',

"छान्दोग्योप निषद्" पृ० ५८

अर्थात्—मेघ से बिजली तृप्त होती है, बिजली के तृप्त होने पर वे सब कुछ तृप्त हों, उनके तृप्ति होने पर वह तृप्त हो, जिस पर द्यु और मेघ रहते हैं, उसकी तृप्ति के अनन्तर, प्रजा से पशुओं से अन्नादि तेज से और ब्रह्मवर्चस से (पुरुष) तृप्त होता है।

(३)—"यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत् पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारण मन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रां ह्येतद्वै देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्मान् देवेभ्यो जुह्वति च प्रजुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति । तस्मान्नेष्टियाजकः स्वाहा स्यात् पशुभ्यः एकं प्रायच्छदिति तत्पयः पयोह्यग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात् कुमारं जातं घृतं वै वाग्रे

प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानु धापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद् इति। तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसीदं सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न'।

"यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न कस्मात्तानि क्षीयन्ते ऽद्यमानि सर्वदा। यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीतिश्लोकाः

"बृहदारण्योपनिषद्' पृ० ८१

अर्थात्—पालन करने वाले ने अपने मेधा बल तथा तपोबल से सात प्रकार के अन्नों का सर्जन किया, मेधा और तप से पिता ने जो अन्न उत्पन्न किया उसमें एक उसका साधारण अन्न था, साधारण अन्न वही है जो खाया जाता है, जो इस की उपासना करता है, वह पास से व्यावृत नहीं होता। जो मिश्र था वह देवताओं में बांटा हुत और प्रहुत के रूप में, इसलिए देवों को आहुतियाँ प्राहुतियां दी जाती हैं, इसीलिए कहते हैं दर्श और पौर्णमास, उससे इष्टयाजुक न हो एक भाग पशुओं को दुग्ध के रूप में प्रदान किया, जिस दूध से मनुष्य तथा पशु अपना पोषण करते हैं। इसीलिए तत्काल जात बालक को प्रथम घृत चटाते हैं और स्तनपान कराते हैं यही कारण है कि बछड़े को भी अतृणाद कहते हैं। इस अन्न में प्राणवान् अप्राणवान् सब कुछ प्रतिष्ठित हैं। पालने वाले ने जिन सप्त अन्नों का सर्जन किया,

उनमें से एक सर्व साधारण के लिए रक्खा, दो देवों को अर्पण किये, तीन अपने स्वाधीन किये, और एक पशुओं को दिया। जो भाग पशुओं को दिया उसमें प्राणवान् सभी तत्त्व विद्यमान थे। इस कारण से सर्वदा खाये जाने पर भी वे क्षीण नहीं होते, जो उस अक्षय को जानता है, वह अन्न खाता और प्रतीक रूप से वह देवताओं को भी प्रदान करता है। वह धान्य का स्वयं उप जीवन करता है।

"दशग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवा-स्तिलमाषा अणु प्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान् दधनि घृतमधुनिसिञ्चत्यास्ये जुहोति"

'बृहदारण्योपनिषद्" पृ० ११७

अर्थात्—दस ग्राम्य धान्य होते हैं, व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु, प्रियङ्गु, गेहूँ, मसूर, खल्व, खलकुत्र, इनको पीस कर ही दही मधु, घृत में मिलाकर अग्नि में आहुतियां देते हैं।

(४) पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

'श्वेताश्वतरोप निषद्" पृ० १२३

अर्थात्—जो पहले था, वर्त्तमान में है, भविष्य में होगा वह सब पुरुष ही है, जो अमृत का स्वामी है, और अन्न से बढ़ता है।

(५) "अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय-मानन्दमय-मात्मा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥ ६६ ॥

"नारायणोपनिषद्" पृ० १४६

अर्थात्—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्द-मय, मेरी आत्मा विशुद्ध हो, मैं ज्योति स्वरूप बनूँ, रजोहीन और पापहीन बनूँ।

"याभिरादित्यस्तपति रश्मिभि स्ताभिः पर्जन्यो वर्षति, पर्जन्येनौषधि वनस्पतयः प्रजायन्त, औषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिः स्मृत्या स्मारं स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति तस्मादन्नं ददन् (त्) सर्वाण्येतानि ददाति"।

"नारायणोपनिषद्" पृ० १४१

अर्थात्—जिन किरणों से सूर्य्य तपता है, उन किरणों से मेघ वर्षता है। मेघवृष्टि से औषधि वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं। औषधि वनस्पतियों से अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राण बनते हैं। प्राणों से बल, बल से तप, तप से श्रद्धा, श्रद्धा से मेधा, मेधा से मनीषा, मनीषा से मन, मन से शान्ति, शान्ति से चित्त, चित्त से स्मृति, स्मृति से स्मार, स्मार से विज्ञान, और विज्ञान से आत्मा, आत्मा को जानता है। इसलिये अन्न को देने वाला सब को देता है।

(६) "केनान्न रसानिति जिह्वयेति"

"कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्" पृ० १६७

अर्थात—अन्न रसों को किस से चखे ? जिह्वा से।

"अथ पौर्णमास्यां पुरस्ताच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता सोमो राजासि विचक्षणः पञ्चमुखोऽसि प्रजापति ब्राह्मणस्त एक मुखं, तेन मुखेन राज्ञोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। श्येनस्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोऽत्सि राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोऽत्सि, तेनैव मुखेन मामन्नादं कुरु। श्येन स्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नाद् कुरु। अग्निस्त एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमत्सि, तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। सर्वाणि भूतानि इत्येव पञ्चमं मुखं तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्यसि, तेन मुखेन मामन्नाद् कुरु।

"कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्" पृ० १६०

अर्थात—पूर्णमासी के शाम को सामने चन्द्रमा को देख कर खड़ा होकर इससे प्रार्थना करे, हे विचक्षण! सोम! राजा तू है, पञ्चमुख प्रजापति है, तेरा एक मुख ब्राह्मण है, उस मुख से राजाओं को खाता है, उस मुख से अन्नाद् (अन्न खाने वाला) कर। क्षत्रिय तेरा एक मुख है, उस मुख से मुझे अन्नाद् कर। श्येन तेरा एक मुख है, उस मुख से पक्षियों को खाता है, उस मुख से मुझे अन्नाद् कर। अग्नि तेरा एक मुख है, उस मुख से इस लोक को खाता है, उस मुख से मुझे अन्नाद कर। सर्वभूत तेरा

पाँचवा मुख है, उस मुख से तू सर्वभूतों को खाता है, उस मुख से मुझे अन्नाद कर।

"पुत्रोऽन्न रसान् मे त्वयि दधानीति पिताऽन्न रसान्स्ते मयि-दध इति पुत्रः"

"कौषीतकि ब्राह्मणोप निषद्" पृ० १५०

अर्थात्—पुत्र कहता है, अन्न रसों को तुम्हारे में स्थापनकरूँ, पिता कहता है, हे पुत्र! तू मेरे में अन्न रसों को स्थापित कर।

"स एवैष बालाकिर्य एवैष चन्द्रमसि पुरुषतमेवाहं ब्रह्म उपास इति, तं होवाचाजानशत्रुर्मामैतस्मिन् समवदिथिष्ठा सोमो राजा अन्न रसस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो ह्येतमेव-मुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति"।

"कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्" पृ० १५३

अर्थात्—बालाकि कहते हैं—चन्द्रमा में जो पुरुष है, उसकी मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ। उसको अजातशत्रु ने कहा, इस विषय में ऐसा मत बोल, सोम राजा है, वह अन्न का आत्मा है, इसलिये मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो इस की उपासना करता है, वह अन्न का आत्मा होता है।

"ॐ नारायणाद्वाऽन्नमागतं पक्वं ब्रह्म लोके महासंवर्त्तके पुनः पक्वमादित्ये पुनः पक्वं क्रव्यादि पुनः पक्वं जालकिलक्लिन्नं पर्युषितं पूतमन्न मयाचितमसंक्लृप्तंमश्नीयान्न कञ्चन याचेत"।

"मुद्गलोपनिषद्" पृ० २११

अर्थात्—नारायण से अन्न आया, ब्रह्मलोक महासंवर्त्त कमें पका, फिर सूर्य्यलोक में पका, फिर क्रव्याद में पका, फिर पका, जालकिलक्लिन्न वासी और पवित्र अन्न अप्रार्थित अनुद्दिष्ट को भक्षण करे पर किसी से याचना न करे।

(८)—ऐं ह्रीं सौं श्रीं क्लीमोन्नमो भगवत्यन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा"

"अन्नपूर्णोनिपद्" पृ० २२७

अर्थात—ऐंकारादि मन्त्र विशिष्टे! भगवति! अन्नपूर्णे! मेरा अभिलषित अन्न दो।

(९)—"अभक्ष्यस्य निवृत्या तु, विशुद्धं हृदयं भवेत्।
आहार-शुद्धौ चित्तस्य, विशुद्धिर्भवति स्वतः ॥३६॥
चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं, त्रुट्यन्ति ग्रन्थयः स्फुटम्।
अभक्ष्यं ब्रह्म विज्ञान-विहीनस्यैव देहिनः ॥३७॥
न सम्यग् ज्ञानिनस्तद्वत्, स्वरूपं सकलं खलु।
अहमन्नं सदान्नाद, इति हि ब्रह्मवेदनम् ॥३८॥

"पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्" पृ ४५६

अर्थात्—अभक्ष्य की निवृत्ति से हृदय विशुद्ध होता है, और आहार की शुद्धि स्वतः होजाती है। चित्त शुद्धि से क्रमशः ज्ञान प्राप्त होता है, और ज्ञान से हृदय की ग्रन्थियां टूट जाती हैं। ब्रह्मविज्ञान विहीन मनुष्यों के लिये भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार

आवश्यक है, परन्तु सम्यग्ज्ञानी के लिये भक्ष्य अभक्ष्य का कोई विचार नहीं है। उसको संवेदन तो यही होता है, मैं ही अन्न हूँ।

निष्कर्ष

ऊपर हमने कुछ उपनिषदों के अवतरण दिये हैं। उन सभी से यही सिद्ध होता है कि मनुष्य का जन्म से मरण पर्यन्त का भोज्य पदार्थ अन्न ही था। तैत्तरीयोपनिषद् में जो सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम दिया है, उसमें यह स्पष्ट लिखा है पृथिवी से औषधियाँ उत्पन्न हुई, औषधियों से अन्न, और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ, इसीलिये यह पुरुष अन्न-रसमय है।

इसी उपनिषद् में अन्न को सर्वौषध और प्राणियों के जीवन की वृद्धि करने वाला कहा है। प्राणियों के लिए सबसे बढ़ कर पदार्थ अन्न माना है।

छान्दोग्योपनिषद् में अन्न को तैजस और ब्रह्मवर्चस का कारण मान कर उस की उत्पत्ति के साधनों की परम्परा जुटाने के लिये प्रार्थना की गयी है।

बृहदारण्योपनिषद् में ईश्वर द्वारा सात धान्यों की उत्पत्ति और उनके विभाजन की चर्चा की गयी है। लिखा है पिता ने सात धान्यों का सर्जन करके एक सर्वसाधारण के लिये रक्खे, और एक पशुओं को दिया, पशुओं को दिये गये अन्न से घृत दुग्ध आदि की उत्पत्ति हुई और वे मनुष्यादि सर्व का भोज्य बने। इसी कारण तत्कालजात बच्चे को घृत चटाया जाता है, और दूध पिलाया जाता है।

बृहदारण्यककार ने दश ग्राम्य धान्यों का नाम निर्देश करके लिखा है कि इनके पिष्ट को दही मधु घृत में मिलाकर हवन करना चाहिए। इससे प्रमाणित होता है कि उपनिषद्कारों की दृष्टि में धान्य ही यज्ञ में हवनीय पदार्थ होते थे, न कि पशु।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में सृष्टि के सर्व पदार्थों को पुरुष-रूप माना है, और उसकी वृद्धि का कारण अन्न बताया है।

नारायणोपनिषद् में आत्मा को अन्नमय माना है, और उसकी विशुद्धि के लिये प्रार्थना की गयी है, इतना ही नहीं बल्कि अन्न को ही परम्परा से आत्मज्ञान का कारण तक बताया है।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में सोम को पञ्चमुख वाला प्रजापति कहा है, और उनके सभी मुखों से अपने आपको अन्नाद बनाने की प्रार्थना की गयी है। पक्षियों को खाने वाले उनके श्येन मुख से भी अपने को अन्नाद बनाने की प्रार्थना करने से सिद्ध होता है कि उस समय के मनुष्य केवल अन्न भक्षी थे, मांस भक्षण को वे मनुष्य का भोजन नहीं मानते थे।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में बालाकि को अजातशत्रु ने चन्द्र मण्डल में पुरुष की उपासना न कर उस में अन्न की उपासना करने की सूचना की है। उन्होंने कहा है सोम राजा यह अन्न का आत्मा है, इसलिये मैं इनकी उपासना करता हूँ। जो इसकी उपासना करता है अन्न मय आत्मा बन जाता है।

सुबालोपनिषद् में कैसा भी पक्व क्लिन्न पर्युषित पवित्र अप्रार्थित अन्न मिलने पर भोजन करने का सूचन किया गया है।

अन्नपूर्णोपनिषद् में ऋभु ऋषि ने अपने पिता की सलाह के अनुसार अन्नपूर्णा की उपासना करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था, और उसके पास आये हुये निदाघ ऋषि को भी अन्नपूर्णा की उपासना से ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया था। ऋभु मुनि हमेशा एक मन्त्र द्वारा अन्नपूर्णा से अभिलषित अन्न की प्रार्थना करते थे।

पाशुपतब्रह्मोपनिषद् में आहारशुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का निरूपण किया है।

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में भी स्थान स्थान पर अन्न और अन्नाद शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन सब बातों का विचार करने से यही निश्चित होता है कि उपनिषद्कारों ने मनुष्य भोजन के लिए अन्न को ही प्रधान माना है। मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का कहीं भी नाम निर्देश तक नहीं मिलता। उपनिषदों का ज्ञान क्षत्रियवर्ग से ही प्रचार में आया है, अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि उपनिषद् लिखने वाले ब्राह्मण थे, और उन्होंने ब्राह्मणों के आचार का प्रतिपादन किया है। वास्तव में उपनिषद्काल में पशुयज्ञादि पर्याप्तरूप से भूतकालीन इतिहास बन चुके थे।

जैन सिद्धांत और वेद-उपनिषदों में हम देख चुके हैं कि मनुष्य का वास्तविक आहार अन्न ही था। दोनों सिद्धान्तकार मनुष्य का जन्मकालीन आहार घृत मधु बताते हैं। इससे मनुष्य के आहार

के सम्बन्ध में जैन आचार्य और वैदिक ऋषियों का एकमत्य था, इसमें कोई शंका नहीं रहती।

अब हम मानव-आहार के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के अभिप्रायों का संक्षिप्त सार लिखकर इस अध्याय को पूरा करेंगे।

वैज्ञानिकों के मतानुसार मानव आहार

वैज्ञानिक शब्द से हमारा अभिप्राय आहार विषयक खोजकर अपना मत प्रदर्शित करने वाले डाक्टरों, वैद्यों और इस विषय की गहराई में उतरकर भोजन सम्बन्धी गुण दोषों पर अपना स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त करने वाले विद्वानों से है।

जिन्होंने आर्य-सिद्धान्तों का थोड़ा भी अध्ययन किया है, अथवा आर्य परम्पराओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं उनको तो उक्त जैन, वैदिक सिद्धान्तों के निरूपण से ही विश्वास होजायगा कि मानव का भोजन घृत, दुग्ध और वनस्पतिजन्य पदार्थ ही हैं, परन्तु जो व्यक्ति पाश्चात्य संस्कृति के रंग में रंगे हुए हैं और पाश्चात्य विद्वानों व उनके शिष्य भारतीय मानवों की बातों पर ही विश्वास रखने वाले हैं, उनके लिए हम इस प्रकरण में वैज्ञानिकों के कुछ अभिप्रायों को उद्धृत करते हैं।

मनुष्य तथा मांसभक्षी पशुओं के शरीर की रचना पर ध्यान देते हुए प्रोफेसर विलियम लारेंस एफ० आर० एस० बताते हैं।

'आदमी के दांत गोश्त खाने वाले जीवों के दांतों से बिलकुल नहीं मिलते। मनुष्य के सामने के दो बड़े दांत शेष दांतों के साथ

एकही कतार में होते हैं। परन्तु मांसाहारी जीवों के आगे वाले जो दो बड़े दांत हैं वे दूसरे दांतों से बड़े तेज नुकीले और आगे की तरफ निकले हुए होते हैं, वे मांस खाने के लिए बड़ा सुभीता प्रदान करते हैं, किन्तु शाकाहारी जीवों के सब दांत एकही कतार में होते हैं, अतः किसी भी दृष्टिकोण से अर्थात् मनुष्य के दांत, शारीरिक ढांचा, जबड़ा तथा पाचक यन्त्रों को ध्यान में रखते हुये स्पष्टरूप से पता लगता है कि वह बन्दर से मिलता जुलता है जो कि कट्टर शाकाहारी है।

एक बड़ा भेद यह भी स्पष्ट है कि मांसाहारी जानवर जब पानी पीते हैं तब जबान से लपलपा कर पीते हैं, वे हाथी, घोड़ा व बैल आदि निरामिषाहारी जीवों की तरह दोनों होंठ मिला खींच कर पानी नहीं पी सकते। इससे भी यही मालूम होता है कि, मनुष्य का शरीर मांसाहारियों से नहीं मिलता।

मांसाहारियों की आंखें निरामिष भोजियों से भेद रखती हैं, मांसाहारी जानवरों की नेत्रज्योति सूर्य का प्रकाश सहन नहीं कर सकती। लेकिन वे रात को दिन की भांति देख सकते हैं, रात को उनकी आंखें दीपक के समान अङ्गारे की तरह चमकती हैं परन्तु मनुष्य दिन को भली भांति देख सकता है। सूर्य का प्रकाश उसका विघातक नहीं बल्कि सहायक है, और मनुष्य की आखें रात को न तो चमकती हैं और न प्रकाश के बिना वे देख सकती हैं।

मांसाहारी जीव का जब बच्चा पैदा होता है तब उसकी आंखें

बहुत दिनों तक बन्द रहती हैं, किन्तु निरामिषियों के बच्चे पैदा होते ही थोड़ी देर में आंख खोल देते हैं।

मांसाहारी जानवरों को गर्मी भी सहन नहीं होती। वे थोड़े परिश्रम से थककर हार जाते हैं, लेकिन मनुष्य गर्मी बरदाश्त कर सकता है, और थोड़े से काम से हार नहीं जाता।

मांसाहारी जीवों के शरीर से अधिक परिश्रम और दौड धूप के बाद भी पसीना नहीं निकलता विपरीत इसके मनुष्य एवं निरामिषाहारी जीवों को अधिक कार्य करने पर पसीना आजाता है।

पूर्वोक्त विभिन्नताओं से अच्छी तरह समझ सकते हैं कि मांस खाने वाले और निरामिष भोजियों के शरीर की बनावट व स्वभाव में बड़ा अन्तर है। मनुष्य के शरीर की बनावट व स्वभाव मांसाहारी जानवरों से बिलकुल नहीं मिलते। मनुष्य में मांसाहारी जानवरों की तरह पाचनशक्ति भी नहीं कि वह मांसाहारियों की तरह कच्चे मांस को पचा सके, बल्कि उसको कई तरह के मशाले आदि से विकृत करके पचाने की कोशिश करते हैं।

मनुष्य की खुराक में ऐसा कोई खाद्य पदार्थ नहीं जो बिना दाढों के नीचे दबाये साबित निगला जाय, किन्तु मांसाहारी चबाते नहीं, साबत ही निगल जाते हैं, चाहे मनुष्य के संसर्ग से अन्न खाने लगे पर उनके पास पीसने वाले दांत नहीं हैं, प्रकृति ने उनको पीसने वाले दांत दिये ही नहीं क्योंकि उनकी खुराक मांस (न पिसने वाली) वस्तु है, परन्तु मनुष्य के दांत हर वस्तु को पीसने वाले होते हैं।

रूस के प्रसिद्ध विद्वान नावलिस्ट और संसार के प्रसिद्ध वैज्ञानिक टालस्टाय ने मांस के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं :—

क्या मांस खाना अनिवार्य है ? कुछ लोग कहते हैं यह अनिवार्य तो नहीं लेकिन कुछ बातों के लिए जरूरी है। मैं कहता हूँ यह जरूरी नहीं। जिन लोगों को इस बात पर संदेह हो, वह बड़े बड़े विद्वान डाक्टरों की पुस्तकें पढ़ें जिनमें यह दिखाया गया है कि मांस का खाना मनुष्य के लिये आवश्यक नहीं।

मांस खाने से पाशविक प्रवृत्तियां बढ़ती हैं, काम उत्तेजित होता है, व्यभिचार करने और मदिरा पीने की इच्छा होती है। इन सब बातों के प्रमाण सच्चे शुद्ध सदाचारी नवयुवक हैं, विशेष कर स्त्रियां और जवान लड़कियां जो इस बात को साफ साफ कहती हैं कि मांस खाने के बाद काम की उत्तेजना और पाशविक प्रवृत्तियां आप ही आप प्रबल होजाती हैं, मांस खाकर सदाचारी बनना असम्भव है।

हमारे जीवन में सदाचारी और उपकारी जीवन के पहिले जीने की तह में अर्थात् हमारे भोजन में इतनी असभ्य और पापपूर्ण चीजें घुस गई हैं और इस पर इतने कम आदमियों ने विचार किया है कि हमारे लिए इस बात को समझना ही असम्भव होरहा है कि गोश्त रोटी खाकर आदमी धार्मिक या सदाचारी कदापि नहीं हो सकता।

गोश्त रोटी खाते हुए धार्मिक और सदाचारी होने का दावा सुनकर हमें इसलिए आश्चर्य नहीं होता कि हममें एक असाधारण बात पायी जाती है, हमारे आंखें हैं लेकिन हम देख नहीं सकते, कान हैं लेकिन हम सुन नहीं सकते। आदमी बदबूदार से बदबूदार चीज, बुरी से बुरी आवाज और बदसूरत से बदसूरत वस्तु का आदी बन सकता है जिसके कारण वह आदमी उन चीजों से प्रभावित नहीं होता जिससे कि अन्य आदमी प्रभावित होजाते हैं।

डा० किंग्स्फोर्ड और हेग ने मांस की खुराक से शरीर पर होने वाले बुरे असर को बहुत स्पष्ट रूप से बतलाया है। इन दोनों ने यह बात साबित करदी है कि दाल खाने से जो एसिड पैदा होता है वही एसिड मांस खाने से पैदा होता है। मांस खाने से दांतों को हानि पहुँचती है, संधिवात होजाता है। यहीं तक नहीं, बल्कि इसके खाने से मनुष्यों में क्रोध उत्पन्न होता है। हमारी आरोग्यता की व्याख्या के अनुसार क्रोधी मनुष्य निरोगी नहीं गिना जा सकता। केवल मांस-भोजियों के भोजन पर विचार करने की जरूरत नहीं, उनकी दशा ऐसी अधम है कि उसका खयाल कर हम मांस खाना कभी पसन्द नहीं कर सकते। इत्यादि'

(आरोग्य साधन—महात्मा गांधी)

डा० जोशिया आल्ड फील्ड डी० सी० एम० ए०, एम आर० सी०, एल० आर० सी० पी०, सीनियर फिजीसियन मारगेरेट-हास्पिटल ब्रामले, कहते हैं :—

"मांस अप्राकृतिक भोजन है। इसीलिये शरीर में अनेक उपद्रव करता है। आजकल का सभ्य समाज इस मांस के खाने से कैन्सर, क्षय, ज्वर, पेट के कीडे आदि भयानक रोगों से जो एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में फैलते हैं, बहुत अधिक पीड़ित होता है इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मांसाहार उन भयानक रोगों के कारणों में से एक कारण है जो १०० में निन्यानवे का सताते हैं।"

"मांसाहार-विचार"

"ऐसे सिलवेस्टर, ग्रेहम, ओ. एस. फौल्डर, जे. एफ न्यूटन, जे० स्मिथ, डा० ओ. ए. अलकट हिडकलेएड, चीन, लेम्ब वकान, ट्रूजी, ओलास, पेम्बरटन, हाईटेला इत्यादि कई डाक्टरों, प्रवीण चिकित्सकों ने अनेक दृढतर प्रमाणों से सिद्ध किया है कि मांस-मछली खाने से शरीर व्याधि-मन्दिर होजाता है। यकृत, यक्ष्मा, राज यक्ष्मा, मृगी, पादशोथ, वात रोग, संधिवात, नासूर और क्षय रोग आदि रोग उत्पन्न होते हैं। प्रशंसित डाक्टरों ने प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा यह प्रगट किया है कि मांस मछली खाना छोड देने से मनुष्य के उत्कट रोग समूल नष्ट होगये हैं वे हृष्ट पुष्ट हो जाते हैं, डा० एस० ग्रेहेमन, डब्ल्यू एस० फूलर, डा० पार्मली लेम्ब, बयानिस्टर बेलर, जे पोर्टर, ऐ० जे० नाइट, और जे. स्मिथ इत्यादि डाक्टर स्वयं मांस खाना छोड़ देने पर यक्ष्मा, अतिसार अजीर्णता और मृगी रोगों से विमुक्त होकर सबल और परिश्रमी हुए हैं। इसी प्रकार उन्होंने अन्य रोगियों को मांस छुडाकर अच्छा तन्दुरुस्त किया है एवं कई डाक्टरों ने अपने परिवार में मांस खाना छुडा दिया है।" "मांसाहार विचार"

"डाक्टर आलफ्रेड कार्पेन्टर ने जब जाहिर किया कि लंडन के बाजार में जो मांस बेचा जाता है, वह अस्सी टका से भी अधिक रोगी होता है। तब लोगों में भयंकर आशंका फैल गयी थी। मांस के सम्बन्ध में हर जगह इसी प्रकार होता है। और उससे असंख्य मनुष्य बिना मौत मृत्यु के मेहमान बनते हैं। कितनों ही की मान्यता है कि मांसों में खास कर गाय का मांस शक्ति प्रदान करता है परन्तु डा० केलोग के वचनानुसार विज्ञान की दृष्टि में तपास करने पर सिद्ध हुआ है कि यह बात बिलकुल झूंठ है। और सर टी. लोडर ब्रंटन के शब्दों में अगर कहे तो "मांसाहार शक्ति प्रदान करने के बदले निर्बलता का शिकार बनाता है और उससे जो नाइट्रोजीनस पदार्थ उत्पन्न होता है वह स्नायुजाल पर जहर का काम करता है।

मांसाहार से युरीक एसीड की वृद्धि होती है यह प्रत्यक्ष ही है, और डा० डौग्लास मेकडोनल्ड के अभिप्राय के अनुसार मांसाहार से युरीक एसिड की वृद्धि होती है और युरीक एसिड बढ़ने से नासूर का दर्द लागू होता है।

डा० विलियम्स रोवर्ट (मिडले सेक्स केन्सर अस्पताल) लिखते हैं कि आंकडों से साबित होता है कि मांसाहार की बढ़ती पाई जाती है।

डा० सर जेम्ब सोयर एम. डी. एफ. आर. सी. पी. लिखते हैं कि मेरे गहरे अनुभव के बाद यह सिद्ध हुआ है कि इंग्लैण्ड

में नासूर के दर्द होने के कारण खासकर मांस की खुराक का बढ़ना ही है।

डा० जे० एच० के० लोग लिखते हैं कि एक दर्दी को यह रोग तीन वर्ष से हुआ था। उसके मांसाहार के त्याग करने से वह निरोगी होगया जबकि वह बहुत ही भयंकर जाति का नासूर था।

डा० हेग लिखते हैं कि अन्न, फल, शाक के आहार से यह रोग होता ही नहीं।

डा० विलियम लेम्ब का कहना है कि एक ४० वर्ष की स्त्री को नासूर होने से उसको अन्न फलाहार पर रखने से वह निरोगी होगयी थी।

डा० लीओनार्ड विलियम्स का कहना है कि सुधरी हुई मांस खाने वाली प्रजा में ८५ टका छोटे से बड़े तक गले की बीमारियों, आंतों की व्याधियों से दुःख पारहे हैं। उसका मूल कारण उनका मांसाहार ही है।

चबाते वक्त मांस के छोटे छोटे रेसे दांतों की सन्धियों में भर जाते हैं। जहाँ वे सड़ा करते हैं, कारण दाँत साफ करने के चालू रिवाजों से वे बाहर निकलते ही नहीं, इसके साथ साथ दांत भी सड़ते हैं, और पायरिया जैसे दन्त रोग उत्पन्न होते हैं। इंग्लैण्ड अमरीका जहां मांसाहार प्रचलित है, वहां के मि० आर्थर अन्डर-वुड का कहना है कि १५० वर्ष पहिले की अपेक्षा दाँत के दर्द दश गुने बढ गये हैं। मि० थोमस जे० रोगन लिखते हैं कि ब्रिटिश

डेन्टल एसोसिएशन की स्कूल के विद्यार्थियों के दाँत तपासने से मालूम हुआ कि १०५००० में से ८६२५ दन्त रोगी पाये गये उसका कारण निरोगी आहार का अभाव है।

"प्रोफेसर कीथ का भी अभिप्राय है कि मांसाहार बराबर नहीं चबाया जाने से दाँत, गला और नाक के दर्दों को उत्पन्न करता है।"

"डा० पोल कार्टन कहते हैं कि डाक्टरी अनुभव से यह प्रमाण सिद्ध हुआ है कि मांस की खुराक डीस्पेसिया एपेन्डी साइटीस आदि दर्दों को उत्पन्न करने में अग्रतम स्थान रखती है। टाईफोर्ड संग्रहणी इत्यादि दर्दों को बढ़ाता है और क्षय एवं नासूर सदृश प्राण घातक दर्दों के जन्तुओं को प्रविष्ट होने में सहायक होता है।"

डा० कोफन्सबेली ने जाहिर किया है कि वर्त्तमान समय में एपेन्डी साइटीस यह सामान्य दर्द होरहा है और उसका कारण हम लोगों की खाने पीने की कुप्रथा के अन्तर्गत हैं। वे कहते हैं कि पशु पक्षियों के मांस में एपेन्डी साइटीस के जन्तु होने से शरीर में रहे हुए मांस को उसका चेप लगता है।

डा० शेम्पोनीजर को यह ज्ञात हुआ था कि रूमानियाँ के २०,००० दर्दी की जो अन्न, फल, शाक पर निर्वाह करते हैं उनमें से सिर्फ एक व्यक्ति को ही सताया था।

परन्तु मांसभक्षी दर्दियों से हर २२१ मनुष्य के पीछे एक मनुष्य को यह दर्द हुआ था। फ्रेंच लश्कर के सर्जन जनरल की

हेसियत से उन्होंने यह जाहिर किया था कि फ्रेंच सिपाही मांस पर निर्वाह करते हैं। इस कारण उनको एपेन्डी साइटीस का दर्द विशेष रूप से होता है और अरब लोग अन्न, फल, शाक पर रहते हैं वे इस रोग से मुक्त हैं।

डा० मेकफोर्ड, जिन्होंने नाताल में ३० वर्ष पर्यन्त वैद्यकीय व्यवसाय किया था, वे लिखते हैं कि वहां के लोग मांस भक्षी न होने से एपेन्डीसाइटीस का दर्द उनको शायद नहीं हो सकता है।

टाइफाइड नामक विषैला बुखार पोल कार्टन आदि कई अनुभवी डाक्टरों के मतानुसार मांस की खुराक से विशेष रूप से फैलता है क्योंकि मांस की खुराक ऐसे विषैले जन्तुओं के लिये बहुत ही अनुकूल है।

डा० एच. एस. ब्रुअर लिखते हैं कि मांस खाने वालों की नसें एवं धोरी नसें भर जाती है और पतली पड जाती हैं अत एवं उनको बुखार कम ज्यादा प्रमाण में निरन्तर सताता रहता है।

मि० जे० एच० ओलीवर लिखते हैं कि मांस खाने वालों के हृदय, अन्न, फल, शाक खाने वालों के हृदय से दशगुना अधिक जोर से धड़कता है।

सर विलियम ब्रोड वेन्ट लिखते हैं कि नाड़ी की चाल के खास कारणों में मांस की खुराक अग्रतम भाग लेतो है।

गठिया या जलोदर आदि लीवर एवं किडनी से सम्बन्ध रखने वाले दर्दों का मुख्य कारण युरिक एसीड गिना जाता है। और वह युरिक एसीड मांस की खुराक में अधिक प्रमाण में होने से मांसाहारियों में यह दर्द खास दृष्टि-गोचर होता है।

डा० बोन नुरडन लिखते हैं कि मांस सदृश नाइट्रोजन वाले पदार्थों से लीवर किडनी और ऐसे ही दूसरे भागों को अधिक बोझ होता है और इस से सन्धिवात और लीवर तथा किडनी सम्बन्धी अन्यान्य दर्द उत्पन्न होते हैं।

डा० पार्कर सब लिखते हैं मांस खाने से गाउट, सन्धिवात, और किडनी के दर्द उत्पन्न होते हैं।

डा० सेवेजे ने स्पष्ट रूप से जाहिर किया है कि पागलपन की बीमारी मांस भक्षी लोगों में ही विशेष पाई जाती है।

डा० ज्योर्ज कीथ के मतानुसार मांस की खुराक का मद्य के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है और खास करके युवान लोगों में यह इच्छा विशेष रूप से होती है।

वनस्पत्याहार के पक्ष में तथा मांसाहार के विपक्ष में अनेक अनुभवी डाक्टरों और वैज्ञानिकों के मतों का सारांश उद्धृत करने के बाद अब हम वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत किये गये भोज्य पदार्थों में रहे हुए तत्त्वों को प्रदर्शित करने वाले दो एक कोष्ठक देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

आहार विज्ञान

पदार्थों में प्रत्येक तत्त्व का अलग अलग परिमाण

नाम पदार्थ	प्रोटीन	चिकनाई	मेदा (चीनी)	नमक	पानी	भोजन योग
दाल	२५.१	२.३	५५.८	२.८	१.२	८५.६
मेवा	१८.५	५१.६	६.६	२.४	२६.२	८२.२
अनाज	१०.६	२.३	७२.५	२.१	१२.०	८७.८
सूखा मेवा	४.४	१.६	६८.५	२.५	१६.७	७७.१
सब्जी	१.४	०.३	८.६	०.८	८७.७	११.१
ताजा फल	१.०	०.६	१६.०	०.६	८१.४	१८.५
पनीर	२८.३	३१.०	०.०	४.५	३६.०	६४.०
मांस	१७.०	१७.६	०.०	२.१	६२.६	३७.०
अण्डा	१४.०	१०.५	०.०	१.५	६४.०	२६.०
मछली	११.६	१.२	०.०	१.२	८६.१	१.३
दूध	४.०	३.६	५.२	०.८	८६.५	११.८

ऐसे ही सर विलियम एनीशा कूपर सी. आई. ई. ने अपनी पुस्तक में भिन्न २ भोजनों का मिलान करते हुए उन शक्ति अंशों का परिमाण दिया है उसमें से कुछ भाग नीचे दिया जाता है।

नाम पदार्थ			प्रतिशत कितने अंश शक्ति है
बदाम की गिरी	....	....	६१
सूखे मटर चने आदि	....	....	८७
चावल (मांड सहित)		....	८७
गेहूं का आटा	....	....	८६
जौ का आटा	....	....	८४
सूखे फल किशमिश खजूर आदि			७३
घी	....	....	८७
मलाई	....	....	६६
मांस	....	....	२८
मछली	....	....	१३
अण्डे	....	....	२६

सृष्टि की आदि से जब तक मानव जाति की सभ्यता रहेगी तब तक मनुष्य का आहार भी वनस्पति ही रहेगा। घी, दूध, दही आदि खाद्य पदार्थ भी वनस्पति के ही रूपान्तरित सार है। मत्स्य आदि मनुष्य का प्राकृतिक आहार नहीं हैं किन्तु जंगली शिकारी लोगों का कल्पित खाद्य है। धीरे धीरे इन अनार्यों के खाने के पीछे सभ्यमानी आर्य भी पड़ गये हैं, जो एक भयंकर कुप्रथा है। हम आशा करते हैं कि विवेकी और विचारशील मानव समाज अपने मौलिक आहार पर अग्रसर होकर संसार में फैली हुई मांसाहार की प्रवृत्ति को मिटायेंगे और संसार के मानव समाज को अभक्ष्य भक्षण जनित सैंकडों रोगों से मुक्त करेंगे।

इति प्रथमोऽध्यायः।

द्वितीय अध्याय

(२)

ऋग्वेद समयेदव-यज्ञाः प्राच्यैर्महर्षिभिः ।
विहितास्ते यवव्रीहिमया, ज्ञेया विचक्षणैः ॥ १ ॥

अर्थ—ऋग्वेद के काल में पूर्व महर्षियों द्वारा जो देव यज्ञ किये गये थे वे यव-व्रीहि आदि धान्यमय थे, ऐसा चतुर विद्वानों को समझना चाहिये ।

१. प्राच्यवेदकालीन यज्ञ

प्राच्य वेदकालीन यज्ञ से यहां ऋग्वेद के समय के यज्ञों से तात्पर्य है । ऋग्वेद का अध्ययन करने वाले प्रोफेसर मैक्समूलर तथा उनके पृष्ठवर्त्ती विद्वानों ने यह बात तो मान ली है कि ऋग्वेद के निर्मापक ऋषि बड़े सीधे-सादे थे । वे अधिकांश नदियों के

पास रहते हुए अपना जीवन-निर्वाह करते थे, जब कभी अनार्यों से संघर्ष होता, तब वे रुद्र को अपनी सहायतार्थ प्रार्थना करते। अनावृष्टि अथवा जल की आवश्यकता के समय वे वरुण को ऋचाओं द्वारा जल वर्षाने की प्रार्थना करते थे। इसी प्रकार अन्यान्य आवश्यकताओं के उपस्थित होने पर उनकी पूर्त्ति करने वाले अन्यान्य देवताओं को प्रार्थना करते थे।

ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा रचे गये दश मण्डल थे, और दश ही उनके संस्तविक देव थे। जिनके नाम ये हैं—

अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, वृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु और वायु[१]।

यहां हम भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता के इतिहास के लेखानुसार ऋग्वेद का संक्षिप्त वर्णन देंगे, जिससे पाठक गण यह जान सकेंगे कि वेदकालीन यज्ञ कितने सरल और निर्दोष थे और उनके देवता भी मांसभक्षक नहीं, किन्तु व्रीहि-यवादि के पुरोडाश से सन्तुष्ट होने वाले थे।

ऋग्वेद का संक्षिप्त वर्णन

इतिहासकार लिखते हैं—

"ऋग्वेद में १०२८ सूक्त हैं, जिनमें दस हजार से ज्यादा ऋचायें हैं। बहुत करके ये सूक्त सरल हैं, और उन देवताओं में

अथास्य संस्तविका देवाः—

१. अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, वृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वतः, कुत्सः, विष्णुः, वायुरिति। "यास्कनिरुक्त भाष्ये"

बालक की नाँई सरल विश्वास झलकता है, जिन्हें बलि दिया जाता था, सोमरस चढ़ाया जाता था, और जिनसे सन्तान, पशु, और धन के लिये स्तुति की जाती थी, और पञ्जाब के काले आदि वासियों के साथ जो अब तक लड़ाई होती थी। उसमें आर्यों की मदद करने के लिये प्रार्थना की जाती थी।

ऋग्वेद में के सूक्त दश मण्डल के बंटे हैं। कहा जाता है कि पहिले और अन्त के मण्डलों को छोड़कर बाकी जो आठ मण्डल हैं, उनमें से हर एक को एक-एक ऋषि (अर्थात् उपदेश करने वालों के एक-एक घराने) ने बनाया है। जैसे दूसरे मण्डल को गृत्समद ने, तीसरे को विश्वामित्र ने, चौथे को वामदेव ने, पाँचवे को अत्रि ने, छठे को भारद्वाज ने, सातवें को वसिष्ठ ने, आठवें को कण्व ने और नवमे को अंगिरा ने बनाया है। पहिले मण्डल में एक-सौ इकानवे सूक्त हैं जिनमें से कुछ सूक्तों को छोड़कर और सबको पन्द्रह ऋषियों ने बनाया है। दसवें मण्डल में भी १६१ सूक्त हैं और इनके बनाने वाले प्रायः कल्पित हैं।

ऋग्वेद के सूक्तों को कई सौ वर्ष तक पुत्र अपने पिता से या चेले अपने गुरुसे सीखते चले आये। लेकिन उनका सिलसिलेवार संग्रह बहुत पीछे अर्थात् पौराणिक काल में हुआ। दसवें मण्डल का सब अथवा बहुत सा हिस्सा इसी काल का बना हुआ जान पड़ता है, जो कि पुराने सूक्तों में मिलाकर रक्षित रक्खा गया।

ऋग्वेद का क्रम और संग्रह जैसा कि वह अब है पौराणिक काल में समाप्त होगया होगा। ऐतरेय आरण्यक (२,२) में मडलों

के क्रम से ऋग्वेद के ऋषियों की कल्पित उत्पत्ति दी है, और इसके पीछे सूक्तोंकी, ऋक् की, अर्ध ऋक् की, पदकी और अक्षरों तक की गिनती दी है। इससे जान पड़ता है कि पौराणिक-काल में ऋग्वेद संहिता का मंडल-मंडल करके केवल क्रम ही नहीं कर लिया गया वरन् सावधानी से भाग उपभाग कर लिया गया।

पौराणिक काल के अन्त तक ऋग्वेद की हर एक ऋचा हर एक शब्द और हर एक अक्षर तक की भी गिनती करली गयी थी। इस गिनती के हिसाब से ऋचाओं की संख्या १०४०२ से लेकर १०६२२ तक, शब्दों की संख्या ४२२८७६, और अक्षरों की संख्या ४३२०००० है।

ऋग्वेद की प्रार्थना कितनी सरल होती थी इसके उदाहरण के रूप में एक इन्द्र की प्रार्थना का अनुवाद नीचे दिया जाता है, पाठकगण ध्यान से पढ़ें।

'हल के फाल से जमीन को आनन्द से खोदे, मनुष्य बैलों के पीछे आनन्द से चलें। पर्जन्य पृथ्वी को मीठे मेंह से तर करे। हे सुनासीर ! हम लोगों को सुखी करो।'

जौ और गेहूँ खेत की खास पैदावार और भोजन की खास वस्तु जान पड़ती है। ऋग्वेद में अनाज के जो नाम मिलते हैं, वे कुछ सन्देह उत्पन्न करने वाले हैं क्योंकि पुराने समय में जो उनका अर्थ था वह आजकल बदल गया है। आजकल संस्कृत में यव शब्द का अर्थ केवल 'जौ' है पर वेद में इसी शब्द का मतलब

गेहूँ और यव से लेकर अन्नमात्र से है। इसी तरह आजकल 'धान शब्द का अर्थ कम से कम बंगाल में चावल से है, पर ऋग्वेद में यह शब्द भूने हुए जौ के लिए आया है, जो कि भोजन के काम में आता था और देवताओं को भी चढाया जाता था।

ऋग्वेद में व्रीहि चावल का उल्लेख नहीं है। हम लोगों को इन्हीं अनाजों से बनी हुई कई तरह की रोटियों का भी वर्णन मिलता है जो खाई जाती थी, और देवताओं को भी चढाई जाती थी। 'पक्ति' (पच=पकाना) का अर्थ है 'पकी हुई रोटी।' इसके सिवाय कई दूसरे शब्द जैसे पुरोदास (पुरोडाश) 'अपूप' और 'करम्भ' आदि भी पाये जाते हैं।'

('प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का इतिहास'
पहिला भाग प्रक० वैदिककाल १ काण्ड)

ऊपर हमने वेदाभ्यासियों के अभिप्राय का संक्षिप्त विवरण दिया है, उससे सहमत होते हुए भी तदन्तर्गत कुछ बातों के सम्बन्ध में हम अपना मतभेद प्रदर्शित करते हैं। वेदानुशीलक विदेशी विद्वानों ने आर्यों तथा आदि निवासियों के विषय में जो अपने विचार प्रदर्शित किये हैं, वे यथार्थ नहीं। उनका कहना है, भारत में पहले सभी काले लोग रहते थे जो यहाँ के मूल निवासी थे, आर्य लोग मध्य एसिया से आकर भारत में घुसे और पञ्जाब के भूमिभाग तक अपना अधिकार जमा बैठे परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। भारत के जो आदि निवासी कहलाते थे और वे समभूमि तल पर अपने राज्य जमाकर रहते थे, उनके साथ कभी

कभी जिनका संघर्षण होता था, वे भारत के पहाड़ी लोग थे, जिनको विदेशी विद्वान् काले आदि निवासी के नाम से पुकारते हैं। वास्तव में वे दोनों ही प्रकार के मनुष्य भारतीय थे, जो पहाड़ों में रहते और कठिन परिश्रम करते थे। उनको यहां आर्य विद्वान अनार्य के नाम से पुकारते थे, बाकी काले यहां के मूल निवासी थे, और गोरे बाहर से आये हुये थे, इस कथन में में कोई प्रामाणिकता नहीं है। वेदकाल में आर्य जातियां पूर्व में अंग-मगध, (पूर्व-दक्षिण विहार) से लेकर पश्चिम में गान्धार शिवि देशों तक फैले हुये थे। उनके प्रदेश की दक्षिण सीमा नर्मदा और विन्ध्याचल तक पहुंचती थी। उत्तर में हिमालय की तलहटी तक। ऋग्वेद में पञ्जाब की नदियों का और अनार्यों से संघर्ष होने का विशेष वर्णन मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आर्य पञ्जाब में ही बसते थे, किन्तु पञ्जाब प्रदेश और उसके पश्चिम प्रदेश में पहाड़ी अनार्यों का प्राबल्य था, और बार-बार आर्यों का पशुधन चुरा लेजाते थे, इतना ही नहीं परन्तु पहाड़ों से निकलने वाली नदियों का जल तक दूषित करके आर्यों को तंग किया करते थे। इस कारण पञ्जाब प्रदेश के अनार्यों और वहां की नदियों की वेदों में विशेष चर्चा मिलती है। बाकी गङ्गा, सरस्वती, यमुना आदि भारत की पूर्वीय नदियों के भी नाम वेदों में अनेक स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं।

अनार्यों के साथ आर्यों का मध्य और पूर्व भारत में संघर्षण विशेष नहीं होता था, क्योंकि वहां की समतल भूमि अनार्यों के

लिए अनुकूल नहीं थी, और वे संख्या में भी अत्यल्प होने के कारण आर्यों से हिलमिल कर रहते थे।

प्राचीनकाल में भारतवर्ष का भ्रमण करने वाले विदेशी यात्रियों के यात्रा विवरणों से भी यही पाया जाता है कि उत्तर भारत सदा से सभ्य आर्यों से बसा हुआ था।

ग्रीकयात्री मेगास्थनीज जो चन्द्रगुप्त मौर्य की राज-सभा में राजदूत के रूपमें वर्षों तक रहा था, और उत्तरीय भारत के अनेक देशों का भ्रमण किया था, उसके यात्रा-विवरण से भी उत्तर भारत में आर्यों की प्रधानता और वहां वनस्पत्याहार की मुख्यता थी, उसके कहने के अनुसार वहां पहाडी अनार्यों को छोडकर नागरिक लोग खास प्रसङ्गों के बिना मांस-मदिरा का उपयोग नहीं करते थे।

बौद्धयात्री फाहियान जो ईसा की पञ्चमी शताब्दी के लगभग भारत में आया था वह उत्तर भारत के सीकाश्य देश के विषय में लिखता है—

'देश भर में कोई मांसाहारी नहीं है। नहीं कोई मादक द्रव्यों का उपयोग करता है। वे प्याज और लहसुन नहीं खाते। केवल चाण्डाल लोग ही इस नियम का उल्लंघन करते हैं। वे सब बस्ती के बाहर रहते हैं। और अस्पर्श कहाते हैं। इनको कोई छूता भी नहीं, नगर में प्रवेश करते समय लकड़ी से कुछ संकेत और आवाज करते हैं। इसको सुनकर नागरिक हट जाते हैं। इस देश

के लोग सुअर नहीं पालते। बाजार में मांस और मादक द्रव्य की दुकानें भी नहीं हैं। व्यापार के हेतु यहां के निवासी कौड़ी का व्यवहार करते हैं। केवल चाण्डाल मात्र ही मांस मछली मारते और शिकार करते हैं।

[फाहियान पृष्ट २६-२७]

गोपथ ब्राह्मण के निम्न अवतरण में भारत के उदीच्य देशों को अन्नभोजी लिखा है।

विचारीहवै काबन्धकिः कबन्धस्याथर्वणस्य पुत्रो मेधावीमीमांसकोऽनूचान आस। स ह स्वेनातिमानेन मानुषं वित्तं नेनाय। तं मातोवाच त एतदन्नमवोचंस्त इममेषु कुरुपञ्चालेषु अंगमगधेषु काशिकौशल्येषु शाल्वमत्स्येषु शवसउशीनरेषु उदीच्येष्वन्नमदन्ति। अथ वयं तवैवातिमानेनाद्यास्मो वत्स बाहनमन्विच्छेति।

जैन सूत्रों तथा पौराणिक ग्रन्थों में भी भारतवर्ष का उत्तरीय भाग आर्य-भूमि होने का और इसके चारों ओर अनार्यों की बस्ती होने का प्रतिपादन किया है।

उपर्युक्त लेख विवरण से यह बात निश्चित है कि मध्य एशिया के आर्य भारत में नहीं आये। यदि वे मध्य एशिया के आर्य पश्चिम की तरफ दूर तक गये हों तो असम्भव नहीं, भारत के आर्य न कहीं भारत के बाहर आक्रमण करने गये, न भारत के बाहर के आर्यों ने कभी भारत पर आक्रमण किया। यह बात सत्य है कि भारत के बाहर के अनार्यों ने भारत पर आक्रमण अवश्य किये थे परन्तु या तो वे यहां से हार कर वापस लौटे, अगर यहां रहे तो यहां की सभ्यता को स्वीकार कर आर्यों में मिल गये।

बलि शब्द से उत्पन्न भ्रम

वैदिक ग्रन्थों में आये हुए बलि शब्द ने आधुनिक विद्वानों में काफी भ्रांति उत्पन्न करदी है, वास्तव में बलि शब्द का अर्थ दान होता है, 'बल दाने' इस धातु से 'वल्यते दीयते इति बलि.' । अर्थात् देवता को चढ़ाने का उपहार इस बलि शब्द का यह वास्तविक अर्थ न समझकर अनेक विद्वान् मान बैठे कि वेदों के समय में भी पशुबलि की प्रथा थी। उनकी इस मान्यता में वेदों में पीछे से जोड़े गये सूक्त तथा ऋचाओं ने भी सहकार दिया। (और मूल ऋग्वेद संहिता तथा सामवेद के बाद के वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों में भी प्रक्षिप्त ऋचाओं के आधार से वैदिक यज्ञों में पशुबलि होने का अभिप्राय निश्चित किया, याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मवादी विद्वानों ने शतपथ ब्राह्मण में और उसके पीछे के ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में पशुबलि की प्रथा दाखिल करदी।

ऋग्वेद कालीन यज्ञों की वास्तविक 'स्थिति तो यह थी' कि वे केवल जौ व्रीहि और सोम रस की सामग्री से निष्पन्न होते थे। गोपथ ब्राह्मण के—

"याज्यया यजति, अन्नं वै याज्या, अन्नाद्यमेवास्य तत्कल्पयति। मूलं वा एतद् यज्ञस्य यद्धायाश्च याज्याश्च" ॥२२॥

उ० भा० ३ प्रपा० पृ० ११४

इन शब्दों से भी हमारे उपर्युक्त कथन का पूर्ण समर्थन होता है। इष्टि से पूजता है और अन्नोपहार ही पूजा है, जिसमें अन्न खाद्य है ऐसे यज्ञ को प्रस्तुत करता है और यही यज्ञ का मूल है।

इन बचनों से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि तत्कालीन यज्ञ निरारम्भ होते थे। अन्न और सोम के अतिरिक्त अन्य कोई चीज देवताओं को नहीं चढायी जाती थी।

यज्ञ के अनेक नामों में अध्वर यह प्रथम नाम है, जिसका अर्थ होता है अहिंसक अनुष्ठान। इस विषय में निरुक्त भाष्यकार यास्क मुनि के निम्नोद्धृत अवतरण पढिये।

"अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरति हिंसा कर्मा, ध्वरति धूर्वतीति हिंसार्थेषु पठितौ "तत्प्रतिषेधः अध्वरः "अहिंस्रः" इति।"

अर्थात्—"ध्वर धातु" हिंसार्थक है ध्वरति अथवा धूर्वति ये धातु हिंसार्थक धातुओं में पढे गये हैं। उस हिंसा का जिसमें प्रतिषेध हो उसका नाम अध्वर अर्थात् अहिंसक अनुष्ठान है।

निरुक्त कार यास्क के इस निरूपण से ऋग्वेदकालीन यज्ञ हिंसा रहित होते थे, यह बात पूर्णरूप से सिद्ध हो जाती है।

सामवेद का संक्षिप्त स्वरूप निर्देश

भारत वर्ष की सभ्यता का इतिहास लिखने वाले कहते हैं—

"सामवेद के संग्रह करने वाले का कोई पता नहीं। डा० स्टिवेन्सन के अनुमान को प्रोफेसर वेन ने सिद्ध कर दिखला दिया है कि सामवेद की कुछ ऋचाओं को छोड़कर और सब ऋचायें ऋग्वेद में पाई जाती हैं। साथ ही इसके यह भी विचार किया जाता है कि बाकी की थोड़ी ऋचायें भी ऋग्वेद की किसी प्रति में

जो अब हम लोगों को अप्राप्त हैं, अवश्य रही होंगी। अतः एव यह स्पष्ट है कि सामवेद केवल ऋग्वेद में से ही संगृहीत हुआ है और वह एक विशेष कार्य के लिये सुर ताल-बद्ध किया गया है।"

ऊपरके उद्धृत किये ऋग्वेद तथा सामवेद के वर्णन से यह तो निश्चित हो जाता है कि ये दोनों ही संहितायें वास्तव में एक ही संग्रह के दो स्वरूप हैं, पहले में जो ऋचायें हैं वे ही ताल स्वर बद्ध करके सामवेद के रूप में व्यवस्थित की गयी हैं।

यद्यपि इन दोनों संहिताओं में अनेक सूक्त तथा ऋचायें प्रक्षिप्त हो चुकी थीं, होती जा रही थी, फिर भी उन ऋचाओं के वास्तविक अर्थ की परम्परा प्रचलित होने से उनसे कोई अनर्थ कारक परिणाम उत्पन्न होने नहीं पाया था। प्रक्षिप्त ऋचाओं में निर्दिष्ट वनस्पतियों तथा अन्न आदि अन्य पदार्थों के नाम पशुओं के नामों तथा उनके अवयवों के नामों के सदृश होने पर भी तत्कालीन निरुक्त कार उनका खरा 'अर्थ' बता देते थे। इस कारण अनुष्ठानों में किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न नहीं हुई।

सैंकड़ों वर्षों के बाद वैदिक शब्दों का स्पष्टीकरण करने वाले निघण्टु का लोप हो गया था, इस का फल यह हुआ कि वेदों के शब्दों का अर्थ–कल्पना के बल से किया जाने लगा, इसके परिणाम स्वरूप वेदों में पर्याप्त अर्थ विकृति उत्पन्न हो गई. वनस्पति और प्राणियों के समान नामों में से कई स्थान पर प्राणियों को वनस्पति और वनस्पतियों को प्राणी मान लिया गया। परिणाम-स्वरूप उस

समय के बाद में बनने वाले यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, आदि वैदिक ग्रन्थों में याज्ञिक हिंसा प्रविष्ट हो गई।

यजुर्वेद और अथर्ववेद का संक्षिप्त परिचय

भारतीय सभ्यता के इतिहास लेखक कहते हैं—

"यजुर्वेद के संग्रह करने वालों का कुछ पता नहीं। श्याम यजुर्वेद तित्तिरि के नाम से तैत्तरीय संहिता कहलाता है, और कदाचित् इसी तित्तिरि ने इसे इसके आधुनिक रूप में संगृहीत या प्रकाशित किया था। इस वेद की आत्रेय वृत्ति की अनुक्रमणी में यह लिखा है कि यह वेद वैशम्पायन से यास्क पैंगी को प्राप्त हुआ, फिर यास्क से तित्तिरि को, तित्तिरि से उकथ को और उकथ से आत्रेय को प्राप्त हुआ। इससे प्रकट है कि यजुर्वेद की जो इस समय सब से पुरानी प्रति मिलती है वह आदि प्रति नहीं है।

श्वेतयजुर्वेद के विषय में हमें इस से भी अधिक पता लगता है। यह वेद अपने संग्रह करने वाले या प्रकाशित करने वाले याज्ञवल्क्य वाजसनेय के नाम से वाजसनेयी संहिता कहलाता है। याज्ञवल्क्य विदेह के राजा जनक की सभा में प्रधान पुरोहित थे, और यह नया वेद कदाचित् इसी विद्वान् राजा की सभा से प्रकाशित हुआ, श्याम और श्वेत यजुर्वेदों के विषयों के क्रम में सब से बड़ा भेद यह है कि पहिले में तो याज्ञिक मन्त्रों के आगे उनका व्याख्यान और उनके सम्बन्धी यज्ञ कर्म का वर्णन दिया है। परन्तु दूसरी संहिता में केवल मन्त्र ही दिये गये हैं, उनका व्याख्यान तथा यज्ञ कर्म का वर्णन एक अलग ब्राह्मण में दिया है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः पुराने कर्म को सुधारने और मन्त्रों को व्याख्या से अलग करने के लिये जनक की सभा के याज्ञवल्क्य ने एक नई वाजसनेयी सम्प्रदाय खोली, और इसके उद्योगों का फल एक एक नई (वाजसनेयी) संहिता और एक पूर्णतया भिन्न (शतपथ) ब्राह्मण का निर्माण हुआ।

परन्तु यद्यपि श्वेतयजुर्वेद के प्रकाशक याज्ञवल्क्य कहे जाते हैं, पर इस वेद को देखने से जान पड़ेगा कि यह किसी एक मनुष्य वा किसी एक ही समय का संग्रह किया हुआ नहीं है। इसके चालीसों अध्यायों में से केवल प्रथम अठारह १८ अध्यायों के मंत्र शतपथ ब्राह्मण के प्रथम नौ खण्डों में पूरे पूरे उद्धृत किये गये हैं और यथाक्रम उन पर टिप्पणी भी दी गयी है। पुराने श्याम यजुर्वेद में इन्हीं अठारहों अध्यायों के मन्त्र पाये जाते हैं। इसलिये ये अठारहों अध्याय श्वेतयजुर्वेद के सब से पुराने भाग हैं और सम्भवतः इन्हें याज्ञवल्क्य वाजसनेय ने संकलित व प्रकाशित किया होगा। इसके आगे सात अध्याय सम्भवतः उत्तर काल के हैं और शेष पन्द्रह अध्याय तो निस्संदेह और भी उत्तर काल के जो हैं अच्छी तरह से परिशिष्ट वा खिल कहे गये हैं।

अथर्ववेद के विषय में हमें केवल यह कहने ही की आवश्यकता है कि जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं उसके बहुत वर्ष पीछे तक भी इस ग्रन्थ की वेदों में गिनती नहीं की जाती थी। हां ऐतिहासिक काव्यकाल में एक प्रकार के ग्रन्थों की जिन्हें अथर्वाङ्गीर कहते हैं—उत्पत्ति अवश्य हो रही थी, जिसका उल्लेख

कुछ ब्राह्मणों के उत्तरकालीन भागों में हैं। हिन्दू इतिहास के तीनों कालों में और मनु की तथा दूसरी छन्दोबद्ध स्मृतियों में भी प्रायः तीन ही वेद माने गये हैं। यद्यपि कभी कभी अथर्वण, वेदों में गिनने जाने के लिये उपस्थित किया जाता था, परन्तु फिर भी ईसवी सन् के बहुत पीछे तक यह ग्रन्थ प्रायः चौथा वेद नहीं माना जाता था। जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं, उस काल की पुस्तकों में से बहुतेरे वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनमें केवल तीन ही वेद माने गये हैं, परन्तु स्थान के अभाव से हम उन वाक्यों को यहां उद्धृत नहीं कर सकते। हम अपने पाठकों को केवल इन ग्रन्थों के निम्न लिखित भागों को देखने के लिये कहेंगे अर्थात् ऐतरेय ब्राह्मण ५–३२। शतपथ ब्राह्मण ४-६-७, ऐतरेय आरण्यक ३–२–३, वृहदारण्यक उपनिषद् १–४, और छान्दोग्योपनिषद् ३ और ७। इसके अन्तिम पुस्तक में तीनों वेदों का नाम लिखने के पीछे अथर्वाङ्गीर की गिनती इतिहासों में की है। केवल अथर्ववेद के ही ब्राह्मण और उपनिषदों में इस पुस्तक को वेद मानने का काफी उल्लेख मिलता है। यथा गोपथ ब्राह्मण का मुख्य उद्देश एक चौथे वेद की आवश्यकता दिखाने का है। उसमें यह लिखा है कि चार पहियों बिना गाड़ी नहीं चल सकती, पशु भी चार पगों बिना नहीं चल सकता और न यज्ञ ही चार वेदों बिना पूरा हो सकता है। ऐसे विशेष युक्तियों से केवल यही सिद्ध होता है कि गोपथ ब्राह्मण के बनने के समय तक भी चौथा वेद प्रायः नहीं गिना जाता था। अथर्वण और अंगिरा प्रोफेसर किटनी के कथनानुसार प्राचीन और पूज्य हिन्दू वंशों के अर्द्ध पौराणिक नाम

हैं और इस आधुनिक वेद का इन प्राचीन नामों से किस प्रकार सम्बन्ध करने का प्रयत्न किया गया। इस वेद में बीस काण्ड हैं, जिनमें लग भग छः हजार ऋचायें हैं। इसका छठा भाग गद्य में है, और शेष अंश का छठा भाग ऋग्वेद के प्रायः दशवें मण्डल के सूक्तों में मिलता है। उन्नीसवां एक प्रकार से पहिले अठारह काण्ड का परिशिष्ट है, और बीसवें काण्ड में ऋग्वेद के उद्धृत भाग हैं।"

अध्याय १ पृ० १०४-१०७

ऋग्वेद के स्वरूप निदर्शन के बाद हम यह सूचित कर आये हैं कि मूल ऋक् संहिता में पिछले विद्वान् ब्राह्मणों ने अनेक सूक्त और ऋचायें निर्माण कर उसमें मिलाई थीं, और यह क्रम सैंकड़ों वर्ष तक जारी रहा। परन्तु वेदोक्त अनुष्ठानों में कोई गड़बड़ी नहीं हुई, क्योंकि तब तक अनेक ब्राह्मण ऋषियों के पास वैतिक निघण्टु और निरुक्त विद्यमान थे। जिस कारण से नये विषयों का वर्णन करने में विशेष कठिनाइयां उपस्थित नहीं हुई। परन्तु धीरे धीरे इन निघण्टुओं और निरुक्तों का लोप हो गया और तब से वेदों का अर्थ ऋषियों की कल्पनाओं का विषय हो गया। जो शब्द और धातु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होते थे, उनके सम्बन्ध में तो विशेप कठिनाइयां नहीं आई, परन्तु केवल वेदों में ही प्रयुक्त होने वाले शब्दों तथा धातुओं के अर्थविवरण में विवरणकारों की बुद्धि द्वारा की गई मनःकल्पना ही साधनभूत रह गई थी। इस परिस्थिति में वेदाध्यापक विद्वानों द्वारा वेदों में जो अर्थ-विकृति

प्रविष्ट हुई उसने वैदिक सभ्यता और धार्मिक अनुष्ठानों का स्वरूप बदल डाला। पहले जहां निर्दोष अन्न और सोम रस द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट किया जाता था, वहां सजीव पशुओं का बलि होने लगा, सोमके स्थान में मदिरा ने अपना स्थान जमाया। इस स्थिति का सामान्य दर्शन शुक्लयजुर्वेद में होता है। निघण्टु और निरुक्तों के अभाव से उत्पन्न होने वाली इस परिस्थिति से बड़े बड़े विद्वान् परेशान थे, और वैदिक शब्द कोशों तथा निरुक्तों की खोज में लगे हुये थे। और इस खोज में यास्क आदि कई ऋषियों को वैदिक निघण्टु और निरुक्त हाथ भी लगे। परन्तु वे सर्वाङ्गीण नहीं केवल मूल वस्तु का अवशिष्ट अंशमात्र थे।

टिप्पणी १—

महाभारत मोक्ष पर्व ३४२ अध्याय ६६–७०–७१ श्लोकों में नष्ट निरुक्तों के विषय में नीचे के अनुसार सूचित किया है—

शिपि विष्टेति चाख्यायां, हीनरोमा च यो भवेत्।
तेनाविष्ट तु यत्किञ्चित् शिपिविष्टेति च स्मृतः॥
यास्को मामृषिरव्यग्रो, ऽनेकयज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इति ह्यस्मा, गुह्यनाम धरोह्यहम्॥
श्रुत्वा मां शिपिविष्टेति, यास्कऋषिरुदारधीः।
मत्प्रसादादधो नष्टं, निरुक्तमधिजग्मिवान्॥

अर्थ—शिपिविष्ट इस नाम का अर्थ हीनरोमा और सब बीटने वाला ऐसा होता है, जिस समय मैं शिपविष्ट के गुह्यरूप में फिरता था, तब यास्क ऋषि ने सावधानी से मुझे पहिचाना और

इस बात के स्पष्टीकरण के लिए हम यास्क निरुक्त का ही थोड़ा सा स्वरूप वर्णन करेंगे।

यास्क निरुक्त में कुल बारह अध्याय हैं। जिनके अन्तर्गत वेदों में प्रचलित नामों का एक छोटा सा कोश दिया गया है, जो निघण्टु कहलाता है। इस निघण्टु में पदार्थ नामों और क्रियात्मक धातुओं का समावेश किया है। नामों की संख्या चारसौ अठावन है, तब धातुओं की संख्या तीनसौ तेरह ३१३, इन नामों के अभिधेय द्रव्य केवल चौपन हैं। जैसे—

पृथिवी के २१, हिरण्य के नाम १५ अन्तरिक्ष नाम १६, साधारण ६, रश्मिनाम १५, दिक्नाम ८, रात्रिनाम २३, उषा १६, मेघ ३०, उदक १०१, अश्व २६, ज्वलन्नाम ११, कर्म के २६, मनुष्य २५, अंगुलि २२, अन्न के २८, बल के २८, गो के ६, क्रोध के १०, अर्हन् के २२, वाङ्नाम ५७, नदी के ३७, आदिष्टपयो

अनेक यज्ञों में मेरी स्तुति की, उदार बुद्धि वाले यास्क ने मेरी स्तुति कर नष्ट हुए निरुक्त को मेरी कृपा से प्राप्त किया। यद्यपि महाभारत के इस उल्लेख से नष्ट निरुक्त यास्क को ही प्राप्त होने की बात कही गयी है, परन्तु यास्क स्वयं अपने निरुक्त भाष्य में शाकटायन, शाकपणि, गालव, काथक, औपमन्यव, तैटीकि, गार्ग्य आदि अनेक निरुक्तकारों का नाम निर्देश करते हैं। इससे इतना तो निश्चित होता है कि यास्क के समय में दूसरे भी अनेक निरुक्त विद्यमान थे।

१०, ज्वलति कर्मा ११, अपत्य के १५, बाहु के १२, कान्तिकर्मा १८, अत्तिकर्मा १०, धननामा २८, क्रुध्यतिकर्मा १०, गतिकर्मा १२२, क्षिप्तनाम २६, संग्राम के ४६, वधकर्माणः ३३, ऐश्वर्यकर्मा ४, वहु के १२, महत् के २५, परिचरण कर्माणः १०, रूप के १६, प्रज्ञा के ११, पश्यतिकर्माणः ८, उपमार्था, मेधावी के २४, यज्ञ के १५, दानकर्माणः १०, अध्येषणा कर्माणः ४ कूप के १४, निर्णीतान्तर्हितानि ६, पुराण के ६, दिशउत्तराणि २६, अन्तिक ११, व्याप्तिकर्मा १०, वज्र के १८, ईश्वर के ४, ह्रस्व के ११, गृह के २२, सुख के २०, प्रशस्य १०, सत्य ६, सर्वपद समाम्नात ६, अर्चतिकर्मा ४४, स्तोतृनाम १३, ऋत्विक के ८, याञ्चाकर्मा १७, स्वपितिकर्मा २, स्तेन के १४, दूत के ५ नवनामा० ६, द्यावापृथिव्योर्नामानि २४।

इस प्रकार नाम चारसौ अठावन इनके अभिधेय द्रव्य चौवन हैं। धातु तीनसौ तेरह केवल पन्द्रह कर्म के अर्थ में प्रयुक्त होते थे।

निघण्टु की इस स्थिति को पढ़कर कोई भी विद्वान् यह कहने का साहस नहीं करेगा कि वेदों में केवल चारसौ अठावन नाम और तीनसौ तेरह धातु थे। और ये क्रमशः ५४ चौपन द्रव्यों को और पन्द्रह कर्मों को प्रदर्शित करते हुए वेदोक्त विविध विषयों का ज्ञान कराने में पर्याप्त होते होंगे। वस्तु-स्थिति तो यह है कि वैदिक निघण्टु अधिकांश नष्ट हो चुका था। उसका अल्पमात्र यह अंश बचा था वह यास्क को मिला और उन्होंने अपने निरुक्त के अन्त-

गत कर दिया। यह तो हुई निघण्टु की बात, अब हम यास्क के निरुक्त भाष्य के विषय में कुछ लिखेंगे।

निरुक्त के चतुर्थ अध्याय में कुल ६२ पद हैं। जिनका भाष्य करते हुए यास्क ने चंवालीस पदों को अनवगत प्रकट किया है। इसी तरह निरुक्त के पञ्चम अध्याय में ८४ पद हैं, जिनमें से ६२ पदों को यास्काचार्य ने अनवगत होने का लिखा है। इसी तरह षष्ठ अध्याय के १३२ पदों में से १२५ अनवगत उद्घोषित किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन जिन पदों को इन्होंने अनवगत कहा है उनका परम्परागत अर्थ यास्क को मालूम नहीं था। इसलिए उन्होंने अपनी बुद्धि से दूसरा अर्थ कल्पित करके उन निगमों को व्यवस्थित किया। इस विषय में हम एकही उदाहरण देकर निरुक्त की अपूर्णता और अव्यवस्थितता दिखायेंगे।

ऋग्वेद की एक ऋचा में "शिताम" शब्द आया है जिसका भाष्य करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं।

"शिताम" ॥३॥ मूलम्

"पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः" (या० मा०)

पार्श्वं पर्शुमयमङ्गं भवति। पर्शुः स्पृशते संस्पृष्ट्वा पृष्ठदेशम्। पृष्ठं स्पृशते संस्पृष्टमङ्गैः। अंगमगनादञ्चनाद्वा। श्रोणिः श्रोणतेर्गति चलनकर्मणः श्रोणिश्चलतीव गच्छतः। दोः शिताम भवति। दो द्रवतेः। योनिः शितामेति शाकपूणिः विषितोभवति। श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः। श्यामं श्यामयतेः। यकृत् यथा कथा च कृत्यते। शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः।

'शिताम' शब्द के उपर्युक्त भाष्य में यास्क कहते हैं; शिताम का अर्थ "भुजा" है। शाकपूणि आचार्य कहते हैं शिताम का अर्थ "योनि" है। तैटीकि कहते हैं "कलेजा" है। गालव कहते हैं, 'शिताम' नाम श्वेत मांस अर्थात् मेदो धातु का है। इत्यादि अनेक निरुक्तकारों का मत प्राप्त होने पर भी अन्त में यास्क को शिताम शब्द को अनवगत कहना पड़ा। इस प्रकार सैकड़ों अनवगत शब्दों पर भिन्न भिन्न निरुक्तकारों ने अपनी कल्पनायें दौड़ायी हैं, और कोई न कोई अर्थ अपने निरुक्तों में लिख दिया है। और इस प्रकार के निरुक्तों तथा उनके भाष्यों को प्रमाण मान कर उव्वट महीधर सायण, आदि ने वेदों पर भाष्य बनाये हैं। जिनका आधार ही कल्पित और शंकित है। उन भाष्यों का बताया हुआ वेदार्थ कहाँ तक यथार्थ होगा, इस वस्तु का विद्वानों को गहरा विचार करना चाहिए। हमारा मन्तव्य तो यही है कि निघण्टु और निरुक्तों के अभाव के समय में और उनकी अर्थ विषयक कल्पित परम्पराओं से ही पिछले वैदिक साहित्य में हिंसामय अनुष्ठानों का प्रवेश हुआ है। और पवित्र वैदिक संस्कृति को हिंसात्मक होने का दाग लगाया है, यह वस्तु यजुर्वेद में बीज के रूप में थी, परन्तु शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों में और श्रौत सूत्रों में इसने बड़े वृक्ष का रूप धारण कर लिया। आश्वलायन श्रौत सूत्र के द्वितीय अध्याय में कोई तीस से अधिक याज्ञिक पशुओं का वर्णन मिलता है। इस श्रौत सूत्र के टीकाकार पण्डित नारायण लिखते हैं 'पशुगुणकं कर्म पशुः" अर्थात यहाँ पशु शब्द से तात्पर्य पाशविक

प्रवृत्तियों से है। परन्तु पिछले टीकाकारों के इस प्रकार के समाधानों से हिंसामय प्रतिपादनों की वास्तविकता छिपायी नहीं जा सकती। इतना तो हमको कहे बिना नहीं चलता कि महर्षि याज्ञवल्क्य और उनके अनुयायी ब्राह्मणों ने वेदों की मौलिक संस्कृति को पर्याप्त रूप से परिवर्तित कर दिया था, उसी के परिणाम स्वरूप पिछले श्रौत सूत्रों, धर्मसूत्रों और गृह्य सूत्र के निर्माताओं ने खास यज्ञों में, पितृकर्मों में यथा मधुपर्क आदि में मांस की आवश्यकता बतायी है, जो परमार्थतः अनावश्यक है।

ब्राह्मणकालीन यज्ञ

यज्ञ शब्द 'यज् धातु' को 'न' प्रत्यय लगने पर बनता है। और इसका अर्थ पूजा अथवा दान होता है 'इज्यते हविर्दीयतेऽत्र इति यज्ञः' अथवा 'इज्यते पूज्यते देवताऽत्र इति यज्ञः'। इस प्रकार मूल में यज्ञ यह अनुष्ठान देवताओं की पूजा के निमित्त किया जाता था, और उसमें घृत यव व्रीहि आदि से बने हुये पुरोडाश की आहुतियां दी जाती थीं। परन्तु ज्यों ज्यों पुरोहितों को इन अनुष्ठानों से अधिकाधिक लाभ होता गया, त्यों त्यों अनेक बड़े बड़े यज्ञों की सृष्टि करते गये। प्रारम्भ में प्रत्येक अधिकार प्राप्त वैदिक धर्मानुयायी गृहस्थ अपने घर में पांच प्रकार के यज्ञ करते थे—

'यदधीते स ब्रह्मयज्ञो, यज्जुहोति स देवयज्ञो, यत्पितृभ्यः स्वधा करोति स पितृयज्ञो, यद्भूतेभ्यो वलिं हरति स भूतयज्ञो, यद्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं ददाति स मनुष्य यज्ञः इति' ।।६।। एते पञ्चमहायज्ञाः।

अर्थात्—शास्त्राध्ययन को ब्रह्मयज्ञ कहते हैं, अग्नि में अपने भोज्य पदार्थ की आहुति देना देवयज्ञ हैं, पितरों के निमित्त स्वधाकार पूर्वक पिण्ड देना पितृयज्ञ, भूतों के निमित्त बलि देना भूतयज्ञ, और अतिथि रूप से आये हुए ब्राह्मणों को भोजन देना मनुष्य-यज्ञ कहलाता है।

इन पांचों यज्ञों को शास्त्र में महायज्ञ के नाम से निर्दिष्ट किया है। भारतीय वैदिक धर्म की सभ्यता की जड़ ये ही पञ्च-महायज्ञ थे। शास्त्र-पठन-पाठन की परम्परा देवताओं की पूजा, अपने पूर्व पुरुषों के प्रति श्रद्धा निम्नकोटि के देव जो पृथिवी की सतह पर अदृश्य रूप में फिरा करते हैं उनको सन्तुष्ट रखने की भावना, और आगन्तुक अतिथि (मेहमान) का सत्कार करना इत्यादि मानवोचित कर्त्तव्य आज भी हिन्दू जनता में दृष्टि गोचर होते हैं। वे उक्त पञ्च-महायज्ञों का ही रूपान्तर है।

उक्त पञ्च महायज्ञों का उद्देश कर पुरोहित वर्ग रह गये होते तो मूल वैदिक संस्कृति में जो प्रचुर परिवर्त्तन हुआ वह नहीं होता। परन्तु याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों ने और अगस्ति ऋषि जैसे वैदिक धर्म के प्रचारकों ने वेदों की मौलिकता और तज्जन्य वैदिक संस्कृति की उतनी चिन्ता नहीं की, जितनी कि उन्होंने अपने विचारों और उद्देशों की की। सभी ब्राह्मण विद्वान् दीक्षित अवस्था में मांस न खाने और गोवध न करने के विषय में एकमत थे, फिर भी याज्ञवल्क्य उनके साथ नहीं रहे क्योंकि वे ब्रह्मवादी थे अन्न और मांस में उन्हें कोई अन्तर नहीं दीखा, और

अपना वाजसनेय नामक सम्प्रदाय चला करके यज्ञों में पशुवध करना निर्दोष माना[१]।

अगस्त्य ऋषि ने नर्मदा और विन्ध्याचल पर्वत को लांघ कर वैदिक धर्म के प्रचारार्थ दक्षिणापथ में प्रवेश किया और धर्म का प्रचार शुरू किया। परन्तु उनको कई कठिनाइयाँ सामने आईं, तत्कालीन वहां के मनुष्य जंगली और मांसाहारी होने के कारण अगस्त्य को और खास करके उनके साथ के नौकरों को भोजन की कठिनाई उपस्थित हुई, अगस्त्य स्वयं तो कन्द फलादि खाकर भी रह सकते थे, परन्तु उनके आदमियों से इस प्रकार रहना कठिन था। परिणाम स्वरूप उन्होंने यज्ञ में पशुवध कर उसके मांस से नौकरों का पेट भरने की व्यवस्था की[२]।

---

१. "स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयात्। धेन्वनडुहौ वाइदं सर्वं बिभ्रतो देवा अब्रुवन् धेन्वनडुहौ वा इदं सर्वं बिभ्रतो हन्त! यदन्येषां वयसां वीर्यं तद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात् तदहोवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाहं मांसलञ्चेद् भवतीति।
'शतपथब्राह्मण' ३।१।२।२१

अर्थ—गाय और बैल को नहीं खाना चाहिये, क्योंकि गाय और बैल ये सबके आधार हैं। देवताओं ने कहा—हमने सर्व पशुओं की शक्ति गाय और बैल में रखकर इनको प्रजा का आधार बना दिया है इसलिए गाय और बैल न खाया जाय। इस पर याज्ञवल्क्य बोले—जो गाय और बैल मांसल होता है उसको मैं खाता हूं।

"यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः, प्रशस्ता मृगपक्षिणः ।
भृत्यानां चैववृत्त्यर्थं, मगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥२२॥
"मनुस्मृति"

अर्थः—यज्ञों के लिये, तथा भृत्यों की आजीविका चलाने के लिये, ब्राह्मणों को प्रशस्त पशु और पक्षियों का वध करना चाहिए, पूर्वकाल में अगस्त्य ऋषि ने इसी प्रकार आचरण किया था ।

यज्ञ करने और कराने के अधिकारी

वैदिक ग्रन्थों में उक्त पांच महायज्ञों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में अन्य बहुतेरे यज्ञों का निरूपण किया गया है । और इन सभी यज्ञों के करने का अधिकार ब्राह्मण को दिया गया है, तब कराने के अधिकारी सभी द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) माने गये । इन यज्ञों का क्रम नीचे मुजब है ।

अथातो यज्ञक्रमाः

"अग्न्याधेयमग्न्याधेयात्. पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्निहोत्राद् दर्शपूर्ण मासौ दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रहायणम, आग्रहाग्रहायणा च्चातुर्मास्यानि, चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः, पशुबन्धादग्निष्टोमोऽग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद् वाजपेयः, वाजपेयादश्व मेघः, अश्वमेधात्पुरुषमेघः पुरुषमेधात्सर्व मेघः, सर्वमेघाद् दक्षिणावन्तो, दक्षिणावद्भ्योऽदक्षिणाः, अदक्षिणाः सहस्र दक्षिणे प्रत्यतिष्ठं स्ते वा एते यज्ञक्रमाः । ॥६॥

पूर्वभाग ५ प्रपा० पृ० ४६
"गोपथ ब्राह्मण"

अर्थात्—अब यज्ञ क्रम कहते हैं सर्व प्रथम अग्न्याधेय (घर में अग्निस्थापन सम्बन्धी अनुष्ठान)। अग्न्याधेय के बाद पूर्णाहुति (अग्नि चयन सम्बन्धी कार्य की समाप्ति का अनुष्ठान) —पूर्णाहुति के बाद अग्निहोत्र (देवताओं की तुष्टि के अर्थ अग्नि में दी गई खाद्य पदार्थों की आहुतियां), अग्निहोत्र के बाद दर्श पूर्णमास अमावस्या और पूर्णिमा को किये जाने वाले यज्ञ-विशेष', दर्श पूर्णमास के बाद आग्रहायण (नये धान्य की इष्टि) आग्रहायण के बाद तीन चातुर्मासादिक यज्ञ, चातुर्मासिकों केबाद पशुबन्ध, पशुबन्ध के बाद अग्निष्टोम,अग्निष्टोम के बाद राजसूय,राजसूय के बाद वाजपेय, वाजपेय के बाद अश्वमेध. अश्वमेध के बाद पुरुषमेध, पुरुषमेध के बाद सर्वमेध,सर्वमेध के बाद दक्षिणावान् , दक्षिणावान यज्ञ के उपरान्त अदक्षिणयज्ञ, अदक्षिणयज्ञ हजार सुवर्णदान पर जाकर रुकते थे। इस प्रकार यज्ञों का क्रम है।

उपर्युक्त क्रमशः एक से अधिक आयोजन और खर्च से निष्पन्न होते थे, इन सभी यज्ञों का फल अन्तवान् होता था। लौकिक फल प्राप्ति की आशा के अतिरिक्त आत्मिक उन्नति का इनमें कोई संकेत नहीं होता था। इस प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान कराने वाले प्रजापति के दृष्टांत से इस विषय को समझायेंगे।

'प्रजापतिरकामयतानन्त्यमश्नुयेति—

सोऽग्नीनाधाय पूर्णाहुत्या यजेत सोऽन्तमेवापश्यत् सोऽग्नि-

होत्रेणाष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, स दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, स आग्रहायणेनेष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, स चातुर्मास्यैरिष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, स पशुबन्धेनेष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, सोऽग्निष्टोमेनेष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, स राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत्, स वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत्, सोऽश्वमेधेनेष्ट्वा स्वाराडिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत्, स पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराडिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत्, स सर्वमेधेनेष्ट्वा सर्वराडिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत्, स हीनैर्दक्षिणावद्भिरिष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, सोऽहीनैरदक्षिणावद्भिरिष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, सत्रेणोभयतोऽतिरात्रेणान्ततो यजेत, वाचं हवै होत्रे प्रायच्छत्, प्राणमध्वर्यवे, चक्षुरुद्गात्रे, मनो ब्रह्मणेऽङ्गानि होतृकेभ्यः, आत्मानं सदस्येभ्यः, एवमानन्त्यमात्मानं दत्त्वाऽनन्त्यमश्नूयेतेति, तद् या दक्षिणा अनयत, ताभिरात्मानं निष्क्रीणीय तस्मादेतेन ज्योतिष्टोमेनाग्निष्टोमेनात्मनिष्क्रयणेन सहस्रदक्षिणेन पृष्ठशमनीयेन, त्वरेत यो ह्यनिष्ट्वा पृष्ठशमनीयेन प्रेत्यात्मानं सो निष्क्रीणीय प्रैतीति ब्राह्मणम् ॥८॥

(पूर्वभाग ५ प्रपा० पृ० ६७ गोपथ ब्राह्मण)

अर्थ—प्रजापति ने इच्छा की कि यज्ञ करके अविनाशी बनूं। उसने अग्निस्थापन कर पूर्णाहुति यज्ञ किया और देखा तो अन्त ही पाया, अग्निहोत्र करके देखा तो अन्त ही पाया, फिर दर्शपूर्णमास यज्ञ किये और देखा तो अन्त ही पाया, आग्रहायण यज्ञ किया और देखा तो अन्त ही पाया, तब चातुर्मास्य यज्ञ किये और

देखा तो अन्त ही देखा, पशुबन्ध यज्ञ किया और देखा तो अन्त ही देखा अग्निष्टोम से यज्ञ किया और देखा तो अन्त ही देखा, राजसूय यज्ञ करके राजा नाम धारण किया और अपना अन्त ही देखा, वाजपेय यज्ञ करके सम्राट् पद प्राप्त किया पर देह का अन्त ही देखा, अश्वमेध यज्ञ कर के स्वाराट् पद प्राप्त किया और देखा तो अपना अन्त ही देखा, उसने पुरुषमेध यज्ञ करके विराट यह पद धारण किया और देखा तो अपना अन्त ही देखा, सर्व-मेध करके सर्वराट् पद धारण किया और देखा तो अपना अन्त ही देखा, उसने अहीन दक्षिणावन् यज्ञ किया और देखा तो अपना अन्त ही देखा, हीन दक्षिणावन् यज्ञ किया और देखा तो अपना अन्त ही देखा, उसने अन्त में सत्र द्वारा दो अतिरात्र तक यज्ञ किया, अपनी वाचा होता को अर्पण की, प्राण अध्वर्यु को, नेत्र उद्गाता को, मन ब्रह्मा को अन्यान्य अङ्गों को होतृकों को, और आत्मा को सदस्यों को प्रदान करके आनन्त्य लाभ किया उसने जो दक्षिणा दी थी उनसे आत्मा को ऋण-मुक्त कर इस ज्योतिष्टोम से अग्निष्टोम से आत्मा की ऋण-मुक्ति से सहस्रदक्षिणा वाले पृष्ठशमनीय के लिए जल्दी करे, जो पृष्ठशमनीय द्वारा इष्टि न कर परलोक जाता है, वह आत्मा का निष्क्रयण न करके जाता है यह ब्राह्मण समूह का मत है।

यज्ञ-क्रम और प्रजापति के अनुष्ठान के वर्णन से जो फलित होता है, वह यही कि प्रारम्भिक छः यज्ञ साधारण और समय प्रतिबद्ध यज्ञ थे, इनमें पशुबलि का कोई विधान मालूम नहीं

होता। पशुबन्ध द्वारा होने वाला सप्तम यज्ञ, और इसके आगे सभी यज्ञ राजा महाराजा द्वारा कराये जाते थे, जो कादाचित्क थे, इन यज्ञों में हिंसा अवश्य होती थी, परन्तु उनमें के अधिकांश पशु उन बड़े बड़े यज्ञों में उपस्थित होने वाले आमन्त्रित मेहमानों के भोजनार्थ मारे जाते थे, क्योंकि क्षत्रिय जाति में मांस भक्षण और मदिरापान का रिवाज बहुत पुराने जमाने से चला आता था।

अश्वमेधादि यज्ञ में घातित पशुओं की जो संख्या लिखी गई है, वह इन आमन्त्रित महमानों के भोजनार्थ ही समझना चाहिए। यज्ञ में जो पशु मारा जाता था वह यज्ञाधिकारियों में ही बांट दिया जाता था। यज्ञाधिकारी लोग उस उपहृत पशु को धन्य और स्वर्गीय विभूति मानकर अपने हिस्से को पवित्र पदार्थ के रूप में संचित रखते थे, न कि उनका भक्षण करते थे। भारतीय सभ्यता का खरा स्वरूप जाने बिना विदेशी वेदानुशीलक विद्वानों का यह कथन केवल हास्यास्पद है कि भारतीय आर्य देवता के तुष्टयर्थ घोड़े का बलिदान कर उसे पकाकर खाते थे। उनका यह कथन प्राचीन भारतीय आर्यों को तो लागू नहीं होता, क्योंकि उनके समय में पशुबलि प्रचलित नहीं थी। अश्वमेध आदि यज्ञों की सृष्टि ही ब्राह्मणकाल में हुई है, जो वैदिककाल से हजारों वर्ष पीछे का समय है। और अश्वमेदाधि में अश्व का जो वध होता था, वह खाने के लिए नहीं परन्तु उसको स्वर्ग प्रदान कराने की भावना से होता था. और उनके पवित्र अंगों को यज्ञाधिकारी इसलिये बांट लेते थे कि यह स्वर्गीय और धन्यपशु है।

जर्मनी के आर्यों की तरह भारतीय आर्य घोड़ा नहीं खाते थे, केवल घोड़ा ही नहीं एक शफजाति के सर्वप्राणी अभक्ष्य माने गये हैं[1] और इनको खाने वालों के लिए वैदिकशास्त्रों में प्रायश्चित्त विधान किया गया है। इस परिस्थिति में भारतीय आर्यों के ऊपर घोड़ा खाने का आरोप देना अविचारपूर्ण है।

पाकयज्ञ और हविर्यज्ञ

वैदिक शास्त्रकारों ने यज्ञों को सामान्यरूप से दो विभागों में बांट दिया है, जिनके नाम पाकयज्ञ और हविर्यज्ञ है।

'सायं प्रातरिमौ होमौ स्थाली पाको नवश्च यः।
बलिश्च पितृयज्ञश्चा-ष्टकश्च सप्तमः स्मृतः॥

इत्येते पाकयज्ञाः

अर्थ—प्रात और शाम के होम, नया स्थाली पाक, बलि, पितृ-पिण्ड, अष्टक और पशुयज्ञ ये पाकयज्ञ हैं।

टिप्पणी—१

क्रव्यादाञ्छकुनान् सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफान्, टिट्टिभं च विवर्जयेत्॥११॥

अर्थः—सर्व प्रकार के मांस भक्षक पक्षी, तथा अनुक्त ग्राम्य पक्षी, एक-शफ अर्थात् एक खुरवाले सभी प्रकार के पशु और टिट्टिभ इनके भक्षण का त्याग करें।

'अग्न्याध्येयमग्निहोत्रं, पौर्णमास्यमावास्ययोः ।
नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि, पशुबन्धोऽत्रसप्तमः ॥

इत्येते हविर्यज्ञाः

अर्थ—अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पौर्णमास्यमावास्या को किये जाने वाले यज्ञ, नया धान्य आने पर किया जाने वाला यज्ञ तीनों चातुर्मास्यों सम्बन्धी किया जाने वाला यज्ञ, और सातवां पशुबन्ध यज्ञ ये सात हविर्यज्ञ कहलाते हैं।

बौधायन गृह्यसूत्र में यज्ञ इक्कीस प्रकार के बताये गये हैं—

'एक—विंशतिसंस्थोयज्ञः ऋग्यजुस्सामात्मकच्छन्दोभिश्चितो ग्राम्यारण्य-पश्वोषधिभिर्हविष्मान दक्षिणाभिरायुष्मान ॥

स चतुर्धा ज्ञेयः उपास्यश्च—स्वाध्याययज्ञः, जपयज्ञः कर्मयज्ञः, मानसश्चेति ॥ तेषां परस्पराद् दशगुणोत्तरो वीर्येण ब्रह्मचारि-गृहस्थ-वनस्थ-यतीनामविशेषेण प्रत्येकशः ॥ सर्व एवैते गृहस्थस्याप्रतिषिद्धाः क्रियात्मकत्वात् ॥ ना क्रियोब्राह्मणो नासंस्कारो द्विजो, नाविद्वान् विप्रो नैतैः हीनः श्रोत्रियः, नाश्रोत्रियस्य यज्ञः ॥

(परिभा० प्रक० प्र० प्र० पृ० १२१)

अर्थ—यज्ञ इक्कीस प्रकार का है-
ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदों के छन्दों से रचित है, ग्राम्य, आरण्यक, पशु और औषधियों के हविष्य से किया जाने वाला, दक्षिणाओं से आयुष्मान् , इक्कीस प्रकार का यह यज्ञ मौलिक चार

विभागों में विभक्त जानना चाहिए और इसकी उपासना करनी चाहिए। वे चार विभाग ये हैं—

स्वाध्याय, जप, कर्म, मानसिक। इनमें से परस्पर एक से दूसरा दशगुणी शक्तिवाला है, जैसे स्वाध्याय से जपयज्ञ दशगुणा, जप से कर्मयज्ञ दशगुणा और कर्मयज्ञ से मानसिक जप दशगुणा वीर्यवान है। ये चारों प्रकार के यज्ञ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी के लिए निर्विशेषतया उपासनीय हैं और क्रियात्मक रूप होने से गृहस्थ के लिए ये सर्व विहित हैं, क्रियाहीन ब्राह्मण नहीं, संस्कार-हीन द्विज नहीं, विद्वत्ता-हीन विप्र नहीं। इन सब गुणों से हीन श्रोत्रिय नहीं होता और अश्रोत्रिय को यज्ञ करने का अधिकार नहीं।

शास्त्रकारों ने यज्ञ को गृहस्थों के लिए एक प्रकार का वृक्ष माना है। कहा है—

क्षमाऽहिंसादमःशाखा, सत्यं पुष्पफलोपमम् ।
ज्ञानोपभोग्यं बुद्धानां, गृहिणां यज्ञपादपं ॥

परिमा० प्र० प्र० अ० ६ पृ० १३१

अर्थ—क्षमा, अहिंसा, इन्द्रिय-दमन, ये जिसकी शाखायें हैं सत्य जिसका पुष्प और फल है, ऐसा जो गृहस्थों का यज्ञरूप वृक्ष है, वह विद्वानों के ज्ञान द्वारा उपभोग्य चीज है।

पशुहिंसास्थानानि

कतिपय आधुनिक विद्वानों के कथनानुसार सभी वैदिक-यज्ञ हिंसात्मक होते थे, परन्तु यह कथन यथार्थ नहीं। हमने ऊपर जिन

यज्ञों का निरूपण किया है उनमें अधिकांश यज्ञ तो व्रीहि यवादिक के पुरोडाश से ही होते थे। पाकयज्ञ जो सात प्रकार के कहे हैं, उनमें से भी एक पशुबंध को छोड़कर शेष अहिंसक हैं। हवि-र्यज्ञों में भी पशुबध तथा अन्य एक दो यज्ञों में पशुवसा से हविष्य का काम लिया जाता था, शेष सभी शुद्ध घृत के हविष्यान्न से किये जाते थे। इस विषय में वसिष्ठस्मृतिकार कहते हैं—

"पितृदेवाऽतिथि—पूजायां पशुं हिंस्यात्।
मधुपर्के च यज्ञे च, पितृदैवत कर्मणि।
अत्रैव च पशुं हिंस्यान्नान्यथेत्यब्रवीन्मनुः ॥१॥

अर्थ—पितरों के तर्पणार्थ, देवता की पूजा के लिये पशु हिंसा करे।

मधुपर्क में (अतिथि सत्कार में) यज्ञ विशेष में और पितरों की पूजा में ही पशु का वध करे अन्यत्र नहीं, ऐसा मनुजी ने कहा है।

उपर्युक्त वसिष्ठ के वचन से यह तो निश्चित हो गया, कि मधुपर्क १, अष्टका २, और खास प्रकार के दैवत यज्ञ बिना अन्य यज्ञों में पशुवध नहीं किया जाता था, और जिन जिन कामों में पशु वध होता था, उनको वेदविहित मान कर किया जाता था, और उसको वास्तव में वध नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में वसिष्ठ स्मृतिकार कहते हैं—

"नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां, मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणि वधः स्वर्ग्य, स्तस्माद् यागे वधोऽवधः ॥२॥

अर्थ—प्राणी वध किये विना कहीं भी मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणिवध स्वर्ग देने वाला नहीं है, इस स्थिति में यज्ञ में किये जाने वाले प्राणिवध को वध नहीं कहना चाहिए।

वसिष्ठ स्मृतिकार के उपर्युक्त मन्तव्य से हम सहमत नहीं हो सकते। यदि प्राणिवध स्वरूप से ही अस्वर्ग्य है तो यज्ञ में करने पर भी अस्वर्ग्य ही रहेगा, और उससे हिंसाजन्य दोष की आपत्ति अनिवार्य होगी, क्योंकि वैदिक मन्त्रों से अभिमन्त्रित करने पर भी वध्य पशु को वध के समय दुःख होता है यह निर्विवाद बात है, और पर प्राणी को दुःख उत्पन्न करना यह दोष रूप है, इसका कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। मध्य काल के यज्ञों में पशुवध की प्रवृत्ति बढ़ जाने के कारण पिछले लेखक उसका सहसा विरोध नहीं कर सकते थे। पिछले लेखकों में उसका विरोध करने का साहस नहीं रहा। परिणाम स्वरूप "यज्ञे वधोऽवधः" कहकर उसका समाधान किया।

मधुपर्क

वैदिक धर्म साहित्य में "मधुपर्क" यह शब्द अतिप्रसिद्ध है, पर इसका वास्तविक अर्थ बहुत कम मनुष्य जानते हैं। मधु शब्द यहां पर मधुर याने मीठे पदार्थ का वाचक है, और पर्क शब्द का अर्थ है सम्पर्क याने सम्बन्ध, इससे सिद्ध हुआ कि मधुपर्क यह

नाम मीठे भोजन का द्योतक है। वैदिक कालीन आर्य लोग अपने यहां आने वाले किसी बड़े आदमी अथवा प्रिय मित्र का सत्कार कर उसे फलों, मेवों अथवा संस्कृत भोजनों से जिमाते थे, उसका नाम मधुपर्क प्रचलित हुआ। बाद के ब्राह्मणग्रन्थों, तथा धर्मशास्त्रों के समय में यह मधुपर्क कुछ विकसित हुआ, और उसके अधिकारियों की संख्या भी निश्चित कर दी गयी।

मधुपर्क के अधिकारियों के सम्बन्ध में गोभिल गृह्यसूत्रकार कहते हैं—

षडर्घ्याः भवन्ति ॥२२॥

आचार्य-ऋत्विक्-स्नातको-राजा-विवाह्य-प्रियोऽतिथिरिति।"

अर्थ— छः पुरुष अर्घ के योग्य होते हैं—आचार्य, (अपना वेदाध्यापक), ऋत्विक् (अपने ऋतुबद्ध नियत यज्ञों को कराने वाला), वेदाध्ययन समाप्त कर स्नातक बन कर आचार्य के घर आने वाला विद्यार्थी, देशपति राजा, कन्या परिणय के लिये आने वाला वर, और अतिथि होकर आने वाला प्रिय मित्र।

गौतम धर्म सूत्र में नीचे लिखे अनुसार पांच पुरुष मधुपर्क के अधिकारी माने गये हैं—

"ऋत्विगाचार्य श्वसुर पितृव्य मातुलानामुपस्थाने मधुपर्कः ॥२८॥

अर्थ—ऋत्विक् आचार्य, श्वशुर, चाचा, मामा, इन पांचों के अपने घर आने पर मधुपर्क करना।

बौधायन गृह्य सूत्र में निम्नोक्त पुरुष मधुपर्क के अधिकारी हैं—

"अथैते अर्घ्याः ऋत्विक् श्वसुरः पितृव्यः मातुलः आचार्यो राजा वा स्नातकः प्रिय वरोऽतिथिरिति।"

अर्थ—ऋत्विक्, श्वसुर, चाचा, मामा, आचार्य, राजा, स्नातक, प्रिय (स्नेही) कुँवारा वर, और मान्य अतिथि इतने पुरुष अर्घ के योग्य हैं।

खादिर गृह्य सूत्र में मधुपर्क के अधिकारी :—

"आचार्य—ऋत्विक्, स्नातको-राजा-विवाह्यः- प्रिय इति षडर्घ्याः"

अर्थः—आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक, राजा, विवाह्य (कन्या परिणय करने वाला वर) प्रिय, ये छः पुरुष मधुपर्क के अधि-कारी हैं।

व्यासस्मृति में मधुपर्क के अधिकारियों का निम्नोद्धृत वर्णन है।

"विवाह्य स्नातक क्ष्माभृदा—चार्यसुहृदृत्विजः।
अर्घ्या भवन्ति धर्मेण, प्रतिवर्षं गृहागताः ॥४१॥

अर्थः—विवाह योग्य वर, स्नातक, राजा, आचार्य, मित्र, ऋत्विक्, ये प्रतिवर्ष घर आने पर अर्घ्य के योग्य होते हैं।

उपर्युक्त भिन्न भिन्न ग्रन्थों में मधुपर्क के अधिकारी अर्घ्य पुरुष बताये हैं। उनमें मत भेद है, एक में पांच, तीन में छः और एक में दश की संख्या दी है। तीन ग्रन्थों में जो छः की संख्या दी है उनमें भी ऐकमत्य नहीं है। कोई किन्हीं

छः को अर्घ्य मानते हैं तो दूसरे किन्हीं को, कोई एक किन्हीं को अर्घ्य मानते हैं, तो कोई दूसरे किन्हीं को परन्तु इन मत-भेदों से हमें कोई परिणाम नहीं निकालना है। इन उल्लेखों से हमें जो सारांश मिला है, वह यही है कि प्राचीन भारतवासी आतिथ्य सत्कार में बड़े तत्पर रहते थे, यों तो कोई मनुष्य आर्य भारत-वासी के घर आता तो आतिथ्य सत्कार पाता था। परन्तु यहां मधुपर्क के सम्बन्ध में जो अर्घ्य कह गये हैं वे विशिष्ट प्रकार के मेहमान होते थे, उनके वर्ष या उससे अधिक समय के बाद अपने घर पर आने पर वैदिकधर्मी उनकी पूजा करते थे, जो प्राचीन परिभाषा में अर्घ्यदान कहलाता था। उनके लिये मिष्टान्न आदि भोज्य पथार्थ तयार किये जाते थे, उनको मधुपर्क के नाम से उद्घोषित करते थे।

अर्घ्य और मधुपर्क का लक्षण

बौधायन गृह्य सूत्रेः—

"अथ यदुत्स्रक्ष्यन् भवति तामनुमन्त्रयते "गौर्धेनुर्भव्या माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रणुवोचं चिकितुषे जनाय मा गाम मनागामदितिं वधिष्ट। पिब तूदकं तृणान्यत्तु। ओं ३ उत्सृजत इति॥

तस्यामुत्सृष्टायां मेषमजं वाऽऽलभते।
आरण्येन वा मांसेन।
नत्वेवाऽमांसोऽर्घ्यः स्यात्।
अशक्तौ पिष्टान्नं संसिध्येत्।

प्र० प्र० अ० ३-पृ० ८

मधुपर्क के लिये गाय बांधनी पडती है, गाय को देख कर अर्घ्य "गोर्धेनुर्भव्या" इत्यादि मन्त्र पढ़ कर उसको छोड़ने की आज्ञा दे दे तो छोड़ दे, उसके स्थान में मेष अथवा बकरे के मांस से मधुपर्क करे, बकरे के अभाव में किसी जंगली भक्ष्य पशु के मांस से मधुपर्क करना। परन्तु मांस बिना मधुपर्क नहीं होता, आरण्यक पशु का मांस प्राप्त करने की शक्ति न हो तो फिर पिष्टान्न को मांस के प्रतिनिधि के रूप में पकाये।

कात्यायन स्मृति में:—

माक्षतं सुमनो युक्त-मुदकं दधि संयुतम्।
अर्घ्यं दधि-मधुभ्यां च, मधुपर्को विधीयते ॥१८॥
कांस्येनैवार्हणीयस्य, निनयेदर्घं—मञ्जलौ।
कांस्यापिधानं कांस्यस्थं, मधुपर्कं समर्पयेत् ॥१६॥

खण्ड–२६, पृ० २०२

अर्थः—अक्षत, पुष्प, दधि, और जल इन चार पदार्थों से अर्घ्य बनाया जाता है, दधि और मधु से मधुपर्क किया जाता है ॥ १८ ॥

कांस्य के पात्र में रख कर अर्हणीय की अञ्जलि में अर्घ दें, और मधुपर्क कांस्य पात्र में रख कर उस पर कांस्य का ही ढक्कन देकर अर्घार्ह को अर्पण करे ॥ १६ ॥

शारदा तिलक में मधुपर्क का लक्षण—

सुधाणुना ततः _र्या—न्मधुपर्कं मुखाम्बुजे ।
आज्यं दधि–मधून्मिश्र–मेतदुक्तं मनीषिणा ॥६६॥

अर्थः—उसके बाद जल के साथ मुख कमल में मधुपर्क रक्खे, घृत, दधि, मधु, यह इन पदार्थों के समुदाय को विद्वानों ने मधुपर्क कहा है।

मधुपर्क का उल्लेख करने वाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण ऊपर दिये हैं, उनसे ज्ञात होगा कि प्राचीन काल में मधुपर्क किस प्रकार होता था। इन शास्त्रों में बौधायन गृह्य सूत्र सबसे प्राचीन है, इसके निर्माण समय में मांस का प्रचार सबसे अधिक था, इस लिये उन्हें यह लिखना पड़ा कि "न त्वेवा ऽ मांसो ऽ र्घ्यः" और मांस की अप्राप्ति में पिष्ट का कल्पित मांस बनाकर मधुपर्क करने की बात कहनी पड़ी।

गोभिल गृह्य सूत्रादि में भी बौधायन की तरह गोमोचन की विधि लिखी है। परन्तु उन में गौ के अभाव में भेड़ बकरा आदि के मांस से मधुपर्क करने का सूचन नहीं किया। इससे विदित होता है कि इन सूत्रों के बनने के समय तक मांसभक्षण का प्रचार बहुत कम हो गया था। और गौबन्धन तथा उसका उत्सर्ग एक प्रकार का रिवाज मात्र रह गया था।

यही कारण है कि पिछले ग्रन्थकारों के नाम पर अमुक विधानों को निषिद्ध करना पड़ा। बृहन्नारदीयकार ने इस विषय में लिखा है—

देवराच्च सुतोत्पत्ति—मधुपर्के पशोर्वधः ।
मांसदानं तथा श्राद्धे, वानप्रस्थाश्रमस्तथा ॥

अर्थः—देवर से पुत्र की उत्पत्ति, मधुपर्क में पशु का वध, श्राद्ध में पितरों को मांस-दान और वान प्रस्थाश्रम-निषेवण कलि में मना है

उत्क्रान्त मेध पशु

पुरुष पशु से लेकर प्रत्येक मेध्य पशु किस प्रकार उत्क्रान्त मेध हुए इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में नीचे लिखे अनुसार वर्णन मिलता है ।—

"पुरुषं वै देवा पशुमालभन्त तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्, सोऽश्वं प्राविशत्, तस्मादश्वो मेध्योऽभवत्, अथैन मुत्क्रान्त-मेध-मत्यार्जन्त,, (स किं पुरुषोऽभवत्) तेऽश्वमालभन्त, सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत्, सगां प्राविशत् तस्माद् गोर्मेध्योऽभवत्, अथैनमुत्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त (स गौर मेध्योऽभवत् ,) (अमेध्यो गौरभवत्) ते गामालभन्त, स गोरालब्धादुत्क्रामत्, सोऽविं प्राविशत्, तस्माद्विर्मेध्योऽभवत् (अथैनमुत्क्रान्तं मेधमत्यार्जन्त) (स गवयोऽभवत्, (तेऽविमालभन्त, सोऽवेरालब्धादुत्क्रामत्, सोऽजं प्राविशत्, तस्मादजो मेध्योऽभवत्, (अथैनमुत्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त) (स उष्ट्रोऽभवत्) (सोऽजेऽजोक्त मामिवारभत) (तस्मादेष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः) तेऽजमालभन्त, सोऽजादालब्धादुत्क्रामत् स इलां प्राविशत्, तस्मादियं मेध्याभवत्, (अथैनमु

त्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त) (स शरभोऽभवत्) त एव उत्क्रान्तमेधा,: अमेध्याः पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात्, तस्यामन्वगच्छन्सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्, (तद् यत् पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति, स मेधेन नः पशुनेष्टमसत्, केवलेन नः पशुनेष्टमसदिति स मेधेन हाऽस्य पशुनेष्टं भवति, केवलेन हाऽस्य पशुनेष्टं भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

अर्थः—देवताओं ने पुरुष को पशु मान कर उससे यज्ञ किया तब पुरुष में से मेध निकल गया, और उसने घोड़े में प्रवेश किया, तब घोड़ा मेध्य बना, फिर उस उत्क्रान्त मेधको अति पीडित किया तब वह कि पुरूष हो गया, उन्होंने अश्व का आलम्भन किया, आलब्ध अश्व में से मेध निकल गया, वह बैल में प्रविष्ट हुआ, तब से गौ मेध्य हो गया, उसका आलम्भ किया, आलम्भ करने पर गौ में से मेधतत्त्व निकल गया, उसने भेड़ में प्रवेश किया, तब भेड़ मेध्य हुआ और उसका बलि किया, फिर उसने अज में प्रवेश किया और अज मेध्य हुआ, फिर अजका बलि किया तब वह अज से निकलकर पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ, पृथ्वी मेध्य हुई, इनमें जो उत्क्रान्त मेध पशु हैं वे अमेध्य हैं। अतः उनको न खाना चाहिए, पृथ्वी में घुसा हुआ मेध व्रीहि के रूप में प्रकट हुआ।

ऐतरेय ब्राह्मण के उपर्युक्त वर्णन से यह ध्वनित होता है, देवताओं ने पुरूष, घोड़ा, बैल, भेड़, बकरे आदि का बलिदान

किया और बलि करने के बाद देखा तो बलि किये गये प्राणियों की जातियाँ ही अमेध्य पायीं, तब उन्होंने उद्घोषित किया कि मनुष्य, अश्व, वृषभ, भेड़, बकरा, सर्व अमेध्य जाति के पशु हैं। इसलिये इनका न यज्ञ में बलि किया जाय न इनका माँस खाया जाय केवल व्रीहि यव आदि धान्य ही मेध्य है, और उन्ही का पुरोडाश बना कर यज्ञ किये जायें।

इसी प्रकार शत पथ ब्राह्मण के आधार पर भी भारतीय प्राचीन सभ्यता का इतिहास लिखनेवालों ने देवताओं द्वारा बलि किये हुए उत्क्रान्त मेध्य पशुओं का नामावली दी है, जो नीचे उद्धृत की जाती है :—

"पहिले पहिले देवताओं ने मनुष्य को बलि दिया। जब वह बलि दिया गया तो यज्ञ का तत्त्व उस में से निकल गया और उसने घोड़े में प्रवेश किया। तब उन्होंने घोड़े का बलि दिया। जब घोड़ा बलि दिया तो यज्ञ का तत्त्व उस में से निकल गया और उसने बैल में प्रवेश किया। तब उन्हों ने बैल को बलि दिया। जब बैल बलि दिया गया तो, यज्ञ का तत्त्व उसमें से निकल गया, और उसने भेड़ी में प्रवेश किया। जब भेड़ी बलि दी गयी तो, यज्ञ का का तत्त्व उस में से भी निकल गया, और उसने बकरे में प्रवेश किया। तब उन्होंने बकरे को बलि दिया। जब बकरा बलि दिया तो, यज्ञ का तत्त्व उसमें से भी निकल गया, और तब उसने पृथिवी में प्रवेश किया, तब उन्हों ने उसे खोजने के लिये पृथिवी को खोदा, और उसे चावल और यव के रूप में

पाया। इसी लिये अब भी लोग इन दोनों को खोद कर पाते हैं। जो मनुष्य इस कथा को जानता है उस को (चावल आदि) का हव्य देने से उतना ही फल होता जितना कि इन सब पशुओं के बलि करने से"। [अ. ८ पृ. १०८]

इसके पूर्व दी गयी ऐतरेय ब्राह्मण की अमेध्य सूची में किंपुरुष, गवय, उष्ट्र, शरभ, इन नामों का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इन की क्रमबद्धता, ठीक ज्ञात नहीं हुई, इस कारण इन नामों को हमने कोष्ठक में रख दिया है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण के समय से ही पशुयज्ञों की वृद्धि के बदले उनकी निर्जीवता होने लगी थी। यज्ञ में जो भी पशु बलिदान के लिये मारा जाय, वह मेध्य होना चाहिए यह ब्राह्मण ग्रन्थों का अटल नियम था। मनुष्य, अश्व, बैल, भेड़ बकरों के मेध्य न होने के कारण यज्ञों में इतना पशुवध नहीं होता था, जितना अवैदिक विद्वान् मानते हैं। बहुतेरे पशु पक्षियों को पहिले से ही अमेध्य मान रक्खा था, इसलिये उन्हें यज्ञों के काम में नहीं ले सकते थे, और बैल भेड़ बकरे आदि अमेध्य हो जाने के बाद यज्ञों में से मांस और वया उठ से गये थे, केवल पितृ कार्य और मधुपर्क में मांस रह गया था, परन्तु इन दो कामों में भी मांस का उपयोग कम होता जाता था। यज्ञ में तो गौ अमेध्य उद्घोषित हो ही गया था, और मधुपर्क में भी अर्हणीय गौ का उत्सर्ग करवा देते थे, परिणाम स्वरूप मांस का स्थान पिष्ट साधित कृत्रिम मांस लेता जाता था। यही बात पितृ कार्य में भी थी। श्राद्ध जीमने वाले

पशुमांस के बदले पिष्ट- घृत साध्य सीरा अथवा अन्य पक्वान्नों को अधिक पसन्द करते ये, इस कारण पितर भी उन पकान्नों से ही सन्तुष्ट हो जाते थे।

हिंसा कम होने के कारण

ऊपर हम देख आये हैं कि ऋक् संहिता और सामसंहिता के सम्पन्न होने तक वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा का नाम तक नहीं था, परन्तु यजुः तथा अथर्व के समय से यज्ञों में पशुबलि की बाढ आने लगी थी, क्योंकि उक्त दो प्राचीन वेद संहिताओं में भी कई नये सूक्त मिल गये थे, जिनमें कि हिंसा को प्रोत्साहन देने वाले संदिग्ध वाक्य थे। पिछली दो कृतियों में तो भ्रामक सूक्तों से भी अधिक स्पष्ट हिंसा के विधान दृष्टिगोचर होते थे, दुर्भाग्य योग से उस समय में वेदों का स्पष्ट अर्थ बताने वाले निघण्टु भी नामशेष होगये थे। इस कारण से उस समय के विधानों में पशुबलि ने अपना स्थान जमा लिया, परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। प्रथम तो भारत के आर्यजनों की भावना ही ऐसी कोमल थी कि वे प्राणिवध जैसे निर्दय कामों में आनन्द नहीं पाते थे। अनार्य जातियों के अतिरिक्त केवल द्विजाति ही नहीं शूद्र भी प्राणीहिंसा करने से हिचकिचाया करते थे। इसमें क्षत्रिय जाति अपवाद रूप अवश्य थी, परन्तु वैदिक धर्म के उपदेशकों ने उन्हें भी ऐसी शिक्षा दे रखी थी कि, यज्ञ में की गई पशुहिंसा ही पाप-जनक नहीं होती, इस शिक्षण से क्षत्रियजाति का भी अधिकांश भाग अहिंसक होगया था। केवल छोटे बड़े राजा जो यज्ञ कराके

ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देने में समर्थ होते थे, वे ही यज्ञ कराते थे, और उनके यज्ञों में वैध हिंसा होती थी। ईशा के पूर्व षष्ठ शताब्दी तक इस प्रकार की हिंसा होती रही, तब तक मधुपर्को पितृयज्ञों में भी मांसका व्यवहार सर्वथा बन्द नहीं हुआ था. परन्तु उनके बाद सभी प्रकार के हिंसात्मक अनुष्ठान धीरे धीरे अदृष्ट होने लगे, जिसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो राजा लोग और सेठ साहूकार लाखों रुपया खर्च कर जो बड़े-बड़े अनुष्ठान करवाते थे, उनकी भावनायें, दिशायें बदल चुकी थीं। अधिकांश क्षत्रियों की मनो-भावनायें उपनिषदों की चर्चा की तरफ झुक गयी थीं। कुछ यजमान बनने वाले धनाढ्य गृहस्थ भगवान बुद्ध और महावीर के उपदेशों से अहिंसा धर्म के उपासक बन चुके थे, और बनते जारहे थे। इस परिस्थिति में श्रोत्रिय ब्राह्मणों को यज्ञार्थ आमन्त्रण आने बन्द होगये, फिर भी कुछ पीढियों तक यज्ञ परम्परा चलती रही, परन्तु इस समय के यज्ञों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, आचार्य, पुरोहित आदि को वह दान दक्षिणा कहां जो पूर्वकाल में प्रति अधिकारी को सौ से लगाकर हजार हजार सुवर्ण सिक्के के रूप में मिलती थी। अन्त में याज्ञिकों ने अपनी दिशा बदली और पूर्वकालीन कई पशुवध आदि की कई प्रवृत्तियां कलियुग के नाम से बन्द करदी, और वैदिक धर्म के स्थान स्मार्त्त पौराणिक आदि अनेक सम्प्रदायों का संगठन किया और ऐसा करके वे जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों के साथ खड़े रह सके।

ऊपर के विवरण से ज्ञात होगा कि धार्मिक हिंसा बौद्ध और जैनों के उपदेश से नहीं, परन्तु उसके साथ प्रजा के मनो-भाव का बदलना और यजमानों का घटना यह भी याज्ञिक हिंसा का ह्रास करने में मुख्य कारण था। इन सब कारणों से आज वैदिक यज्ञ और पितृयज्ञ पशुबलि से मुक्त हैं। इतना ही नहीं किन्तु मधुपर्क पद्धति भी आज आमूल चूल परिवर्त्तित हो चुकी है, "मांस बिना अर्घ्य नहीं हो सकता" बौधायन के इस सिद्धांत को मानने वाला आज कोई भी ब्राह्मण दृष्टिगोचर नहीं होता।

गोमांस भक्षण का निराधार आरोप

अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी का यह मत है कि बौद्ध और जैनों के विरोधी प्रचार ने बड़ी मुश्किल से ब्राह्मणों में से गौ-बैल का मांस खाने का रिवाज बन्द करवाया। हमारी राय में कौशाम्बी जी का यह मत प्रामाणिक नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य के गोमांस भक्षण का स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि उस समय सारा ब्राह्मण-समाज गौ-मांस खाता था। देवताओं ने जब गो-मेध किया और गौ अमेध्य होगया, उसके बाद याज्ञवल्क्य के सिवाय न किसी ब्राह्मण ने गौ का यज्ञ में बलिदान किया, न गौ-मांस ही खाया, गाय और बैल सर्व-साधारण के लिए विशेष उपयोगी प्रतीत होने लगे, तब देवताओं ने याज्ञवल्क्य से कहा:—गाय, बैल अनेक प्रकार से संसार के उपयोगी प्राणी हैं, हमने इनमें सभी प्राणियों की शक्ति रखदी है, अतः गाय बैल को न

मारना चाहिए न खाना चाहिए। देवताओं के उक्त कथन का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा मैं इनका मांस अवश्य खाता हूँ, यदि ताजा हो तो। यह हकीकत नीचे लिखे शतपथ ब्राह्मण के उद्धरण से प्रकट होती है।

'स धेन्वैषानडुहश्च नाश्नीयात्। धेन्वनडुहौ वा इदं सर्वं विभृस्ते देवा अब्रुवन धेन्वनडुहौ वा। इदं सर्वं विभृतो हन्त। यदन्येषाम वयसां वीर्यं तद् धेन्वनडुहयोर्दधामेति– तस्माद् धेन्वनडुहौ नाश्नीयात् तदुहोवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाहं मांसलं चेद् भवतीति'

'अश्नाम्येवाहं मांसलं चेद् भवति' इस वाक्यांश में आये हुये 'अश्नामि' इस वर्त्तमान सूचक क्रिया पद का कौशाम्बी 'खाऊंगा' ऐसा भविष्य-सूचक अर्थ करते हैं, यह भूल है। याज्ञवल्क्य ने अपनी वर्त्तमान स्थिति का स्वीकार मात्र किया है न कि भविष्य में खाने का आग्रह। 'मांसलं चेद् भवति' इस वाक्य-खंड का वे मांस बढ़ना अर्थ करते हैं, यह दूसरी भूल है, मांस बढ़ने के साथ इस वाक्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। मांसल शब्द प्रयोग पर याज्ञवल्क्य यह कहना चाहते हैं कि, मैं मांस खाता अवश्य हूँ पर सभी गाय बैलों का नहीं, किन्तु जो मोटा ताजा और तन्दुरुस्त होता है उसीका खाता हूँ।

याज्ञवल्क्य ने वाजसनेयन में गौ को को मेध्य माना है, इस बात को हम स्वीकार करते हैं, परन्तु गौतमधर्म सूत्र के अतिरिक्त

किसी धर्मशास्त्र में 'गोवध का निषेध नहीं'— कौशाम्बी महाशय का यह कथन केवल भ्रम-पूर्ण है। 'वसिष्ठ धर्मशास्त्र' में वध्या-वध्य प्राणियों के निरूपण में 'गौरगवयशरभाश्च' ॥४३॥ इस सूत्र में वसिष्ठजी ने गौ तथा गवयवर्जित शरभ जाति को अवध्य बताया है, इतना ही नहीं उन्होंने गौ-वध का कड़ा प्रायश्चित भी लिख दिया है जो इस प्रकार है—

गां चेद्धन्यात्तस्याश्चर्मणार्द्रेण परिवेष्टितः षण्मासान् कृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं वा तिष्ठेत ॥ १८ ॥

अर्थात्—अगर कोई गौ का वध करे तो उसके आले चमड़े से अपने शरीर को वीट कर छः मास तक कृच्छ्र अथवा तप्त कृच्छ्र करे।

अध्यापक धर्मानन्द कहते हैं— दीक्षितों के लिए गोमांस खाने न खाने की चर्चा थी, दूसरे बिना विरोध गौमांस खाते थे। हम समझते हैं-अध्यापक धर्मानन्द का यह कथन ब्राह्मण जाति विषयक अरुचि मात्र का द्योतक है। गो-मांस के सम्बन्ध में उस समय के ब्राह्मणों में कितनी घृणा फैली हुई थी, यह तो ब्राह्मणों के धर्मशास्त्र पढ़ने से ही जाना जा सकता है। उनकी दृष्टि में जो पदार्थ अभक्ष्य होता, उसकी निवृत्ति के लिए वे उसे गो-मांस तुल्य बताकर छोडने का उपदेश करते थे। इस विषय के दृष्टान्तों से उनके शास्त्र भरे पड़े हैं, हम उनमें से केवल एक ही उदाहरण यहां प्रस्तुत करेंगे।

घृतं वा यदि वा तैलं, विप्रोनाद्यान्नखस्थितम् ।
यमस्तदशुचि प्राह, तुल्यं गोमांसभक्षणैः ॥३०॥

अर्थ—नखों पर रहा हुआ घृत अथवा तैल ब्राह्मण न खाय, क्योंकि यमऋषि उसे गोमांस भक्षण के बराबर अपवित्र कहते हैं।

वैदिक निघण्टु तथा यास्क निरुक्त में गौ का नाम अघ्न्या लिखा है, इससे भी सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों की दृष्टि में वैदिक काल से ही गौ अवध्य प्रतीत होती आई है. इस स्थिति में यह कहना कि बौद्ध और जैनों ने ब्राह्मणों में से गोमांस भक्षण दूर करवाया इसका कोई अर्थ नहीं रहता।

हम ऊपर कह आये हैं कि यज्ञ में से तो गोवध देवताओं के यज्ञ के अनन्तर निकल ही गया था, केवल मधुपर्क में कभी कभी उसका वध अवश्य होता था, परन्तु अधिकांश अतिथियों के गो-मोचन करवा देने से बहुधा वहां भी गोवध बन्द सा होगया था, और कार्य अन्य पशु के मांस से अथवा पिष्टसाधित मांस से किया जाता था। धीरे धीरे अन्य पशु के मांस का स्थान भी पिष्टसाधित मांस के ले लेने से मधुपर्क में से भी पशुहत्या पौराणिक काल के पहले ही बन्द हो चुकी थी।

अध्यापक कौशाम्बी भव भूति के "उत्तर रामचरित" गत एक मधुपर्क विधि का उल्लेख कर यह बताना चाहते हैं कि भव भूति के समय तक अर्थात् ईशा की सप्तमी सदी तक ब्राह्मणों में गो मांस खाने की प्रथा प्रचलित थी। इसी कारण से भवभूति ने

वसिष्ठ के निमित्त किये गये मधुपर्क में कपिला बछिया के मारने की बात कही है।

श्रीयुत कौशाम्बी का उक्त कथन उनके नाटक विषयक अज्ञान को सूचित करता है। भव भूति अपने समयका नाटक नहीं लिख रहा है, किन्तु श्रीरामचन्द्र के समय त्रेता युग गत प्रसंगों को लिख रहा है। जिस समय का अभिनय हो उस समय की भाषा, भूषा वेष, अलंकार, रीति, रस्म, बताये बिना नाटककार अपने कार्य में कभी सफल नहीं हो सकता, भूतकालीन पात्रों को वर्त्तमान काल में तादृश रूप में खड़ा करने से ही ऐतिहासिक नाटकों का खरा आनन्द और पूर्व कालीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यदि भवभूति अपनी कृति में वर्णित पात्रों और रीति रस्मों को पूर्व कालीन रंग में न रंग अपने वर्त्तमान समय के रंग में रंगते और अपनी कृति को नाटक का नाम देते तो नाट्यकारों में वे अपयश के भागी बनते। इससे सप्तमी सदी में ब्राह्मणों में गो मांस भक्षण का रिवाज बताने वाला अध्यापक कौशाम्बी का कथन विद्वानों की दृष्टि में हास्यास्पद बन जाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति का प्रमाण

याज्ञ वल्क्यकृत शतपथ ब्राह्मण गत गो मांस भक्षण विषयक एक उल्लेख से अध्यापक श्रीधर्मानन्द ने ब्राह्मण जाति पर गो मांस भक्षण का जो निराधार आरोप लगाया है, उसका संक्षिप्त उत्तर ऊपर के विवरण से मिल जाता है।

अब हम याज्ञवल्क्य कृत स्मृति के आधार से इस विषय का विशेष निरूपण करेंगे ।

काम्यव्रत ब्रह्मयज्ञादि का फल निरूपण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं ।

"मधुना पयसा चैव, स देवांस्तर्पयेद् द्विजः ।
पितॄन्मधुघृताभ्यां च, ऋचोऽधीते च योऽन्वहम् ॥४१॥
यजूंषि शक्तितोऽधीते, योऽन्वहं स घृतामृतैः ।
प्रीणाति देवानाज्येन, मधुना च पितॄंस्तथा ॥४२॥
स तु सोमघृतैर्देवां–स्तर्पयेद् योऽन्वहं पठेत् ।
सामानि, तृप्तिकुर्याच्च, पितॄणां मधुसर्पिषा ॥४३॥
मेदसा तर्पयेद् देवानथर्वाङ्गिरसः पठन् ।
पितॄंश्च मधु सर्पिभ्या, मन्वहं शक्तितोऽन्वहम् ॥४४॥
वाको वाक्यं पुराणं च, नाराशंसीश्च गाथिकाः ।
इतिहासांस्तथा विद्याः, शक्त्याऽधीते च योऽन्वहम् ॥४५॥
मांसक्षीरौदन मधु, तर्पणं स दिवौकसाम् ।
करोति तृप्तिं कुर्याच्च, पितॄणां मधु सर्पिषा ॥४६॥
ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं, सर्वकामफलैः शुभैः ।
यं यं क्रतुमधीते च, तस्य तस्याप्नुयात्फलम् ॥४७॥

"याज्ञवल्क्य स्मृति" पृ-१३–४

जो द्विज निरन्तर ऋग्वेद का अध्ययन करता है, वह दूध मधु से देवों का और मधु-घृत से पितरों का तर्पण करे ।

जो द्विज शक्ति के अनुसार निरन्तर यजुर्वेद को पढ़ता है, वह देवों का घृत तथा अमृत (जल) से और पितरों का घृत मधु से तर्पण करे।

जो द्विज सामवेद का निरन्तर अध्ययन करता है, वह देवों का सोम घृत से और पितरों का मधु घृत से तर्पण करें।

जो द्विज अथर्वाङ्गिर को निरन्तर पढ़ता है, वह देवों का वपा से और पितरों का मधु घृत से तर्पण करे।

जो द्विज शक्ति के अनुसार नित्य अनुवाक वाक्य, पुराण नाराशंसी गाथा, इतिहास, और आन्वीक्षिक्यादि विद्यायें पढ़ता है, वह देवों को मांस, दूध, ओदन, मधु से और पितरों का मधु घृत से तर्पण करे।

वे देव तथा पितृ तृप्त होकर इस को सर्व शुभ काम फलों से तृप्त करते हैं, और वेद में जिस यज्ञ का अधिकार वह पढ़ता है, उस यज्ञ का वह फल प्राप्त करता है।

याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त निरूपण में अथर्वाङ्गिर पढने वाला वपा और अनुवाक, वाक्य, पुराण, आदि पढ़ने वाला मांस का देवताओं के तर्पण में उपयोग करता था। वेदत्रयी पढने वाले मधु घृत दूध से देवों का तर्पण करते थे, और पितरों का तर्पण सभी मधु घृत क्षीर आदि से ही करते थे। इस से भी स्पष्ट होता है कि याज्ञवल्क्य मांस भक्षण के हिमायती नहीं थे, किन्तु विधि वाक्यों के अनुरोध से वे यज्ञादि में पश्वङ्ग, वपा, मांसादि का

प्रयोग बताते थे, क्योंकि वे यज्ञों के पक्के अनुयायी थे, और उन के समय में निघण्टु आदि का लोप हो जाने के कारण यज्ञों में पशुबलि चल पड़ा था ।

याज्ञवल्क्य अविधि जात मांस भक्षण को भयङ्कर पाप मानते थे । यह बात हम इन्हीं के वचनों से प्रमाणित कर सकते हैं ।

याज्ञवल्क्य स्मृति के भक्ष्या भक्ष्यप्रकरण में याज्ञवल्क्य लिखते हैं ।

देवतार्थं हविः शिग्रुं, लोहितान व्रश्चनांस्तथा ।
अनुपाकृतमांसानि, विड्जानि कवकानि च ॥१७१ ॥
"याज्ञ० स्मृति" पृ० १७

देवतार्थ प्रस्तुत किया गया द्रव्य, सहेंजना, वृक्षों का रक्त निर्यास, वृक्षच्छेद से निकलने वाला रस, यज्ञ-बलि बिना का मांस, विष्ठा में उत्पन्न होने वाले पत्र शाक, और छत्राक इन सब का त्याग करे ।

मांस भक्षण के विषय में याज्ञवल्क्य का मन्तव्य

\+ + + + + +

अतः शृणुध्वं मांसस्य, विधिं भक्षण वर्जने ॥ १७८ ॥
प्राणात्यये तथा श्राद्धे, प्रोक्षिते द्विजकाम्यया ।
देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य, खादन् मांसं न दोषभाक् ॥१७९॥

वसेत्स नरके घोरे, दिनानि पशुरोमभिः ।
संमितानि दुराचारो, यो हन्त्यविधिना पशून् ॥१८० ॥
सर्वान् कामानवाप्नोति, हयमेधफलं तथा ।
गृहेऽपि निवसन् विप्रो, मुनिर्मांस-विवर्जनात् ॥ १८१ ॥

'याज्ञवल्क्य स्मृति' पृ० ६०–६१

अर्थ—अब मांस भक्षण तथा उसके त्याग सम्बन्धी विधि सुनो—

प्राण-सङ्कट में, श्राद्ध तथा यज्ञ में नियुक्त होकर, ब्राह्मणों की इच्छा को मान देकर, पितरों तथा देवों को बलि चढ़ाने के बाद शेष मांस को खाने वाला दोषी नहीं होता ।

जो दुराचारी मनुष्य वैदिक विधि के बिना पशु की हत्या करता है, वह हत पशु के रोम परिमित दिनों तक घोर नरक में बसता है ।

जो ब्राह्मण मांस को छोड़ता है, उसकी सर्व इच्छायें पूर्ण होती हैं, अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है, और वह घर में रहता हुआ भी मुनि कहलाता है ।

याज्ञवल्क्य स्मृति के उपर्युक्त वर्णन से यह निश्चित होजाता है कि याज्ञवल्क्य गौ को मेध्य मानते हुए भी गोवध के हिमायती नहीं थे, इतना ही नहीं बल्कि याज्ञिक विधि के बिना पशु-हत्या करने वालों को वे महापापी मानते थे, और मांस का त्याग करने

वाले गृहस्थ को मुनि-तुल्य कहते थे। क्या ? 'बैल तथा धेनु का मांस मांस बढाने वाला होने से मैं इनका मांस खाऊंगा' इस भाव वाले शब्द याज्ञवल्क्य के मुख से निकल सकते हैं ? जहां तक मैं थोड़े से वैदिक ग्रंथों का अर्थ समझ सका हूं, यह कहने में कोई संकोच नहीं कर सकता कि महर्षि याज्ञवल्क्य केवल प्रोक्षित मांस ही कभी परिस्थितिवश खाते होंगे, सर्वदा नहीं।

याज्ञवल्क्य स्मृति के मधुपर्क में उन्होंने गौ का उल्लेख न करके 'महोक्षं वा महाजं वा, श्रोत्रियायोपकल्पयेत' यह वाक्य लिखा है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि वे वाजसनेयी होने के नाते गौ को यज्ञ के लिए मेध्य मानते थे, न कि मधुपर्क में, अनेक गृह्यसूत्र-कारों ने मधुपर्क में गौ बांधने का विधान किया है, तब याज्ञवल्क्य उनसे जुदा पडकर बैल अथवा बकरा मधुपर्क के लिए उपकल्पित करने का कहते हैं। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि शतपथ ब्राह्मण का निर्माण होने के उपरांत इन्होंने गौ को अन्य अन्य ऋषियों की भांति 'अघ्न्या' मान लिया होगा।

ऊपर के विवेचन से पाठकगण अच्छी तरह समझ सकते हैं कि, अन्य ब्राह्मण तो क्या गौ को मेध्य मानने वाले याज्ञवल्क्य स्वयं भी मांस भक्षी नहीं थे। शतपथ ब्राह्मण में उनके मुख से 'अश्नाम्येवाहं' ये शब्द कहलाये हैं उनका सम्बन्ध केवल गोमेध यज्ञ में प्रोक्षित किये हुए मांस से है।

अध्यापक कौशाम्बी की निराधार और अर्थहीन कल्पना

जैन श्रमणोंका मांस-भक्षण सिद्ध करने की धुनमें श्रीकौशाम्बी ने 'भगवान बुद्ध' नामक अपनी पुस्तक में पृ० २७० में लिखा है।

'यह मत जैन श्रमणों को पसन्द नहीं आ सकता था, क्योंकि वे बार बार तपश्चर्या करते थे। तथापि उन्होंने मांसाहार का समर्थन इसी ढंग से किया होगा, क्योंकि वे पूर्वकालीन तपस्वियों के समान जंगल के फल-मूलों पर निर्वाह न करके लोगों की दी हुई भिक्षा पर निर्भर रहते थे, और उस समय निर्मांसमत्स्य भिक्षा मिलना असम्भव था। ब्राह्मण लोग यज्ञ के हजारों प्राणियों का वध करके उनका मांस आसपास के लोगों में बांट देते थे। गांव के लोग देवताओं को प्राणियों की बलि चढ़ाकर उसका मांस खाते थे। इसके अतिरिक्त कसाई लोग ठीक चौराहे पर गाय को मारकर उसका मांस बेचते रहते थे। ऐसी स्थिति में पक्व अन्न की भिक्षा पर निर्भर रहने वाले श्रमणों को मांस-रहित भिक्षा मिलना कैसे सम्भव हो सकता था?'

श्री कौशाम्बीजी के दो उपर्युक्त वक्तव्य की दो बातों पर हमें विचार करना है। एक यह कि उस समय 'ब्राह्मण लोग यज्ञ में हजारों प्राणियों का वध करके उनका मांस आसपास के लोगों में बांट देते थे'। दूसरी बात यह कि 'कसाई लोग ठीक चौराहे पर गाय को मारकर उसका मांस बेचते रहते थे।'

ब्राह्मण लोगों द्वारा यज्ञ में हजारों प्राणियों का वध कर गांव में मांस बांटने की बात कोरी डींग है, क्योंकि प्रत्येक घरमें होने वाले यज्ञोंमें पशुवध सर्वथा वर्जित था, केवल मधुपर्क और अष्टका श्राद्ध में मांस का प्रयोग होता था। परन्तु इन प्रसङ्गों में भी भगवान् महावीर तथा बुद्ध के समय में पशुवध करना लगभग भूत-

कालीन इतिहास बन चुका था, और पशुमांस के स्थान पिष्टमांस बनाकर मधुपर्क, अष्टका श्राद्ध आदि निपटा लेते थे। पशुबध कराने वाले दिन दिन अहिंसक होते जाते थे, इस कारण से यज्ञीय पशु पर तलवार चलाने वालों को प्रोत्साहित करने के लिए निम्न प्रकार से विधान करने पड़े हैं।

मधुपर्के च यज्ञे च, पितृदैवतकर्मणि
अत्रैव पशवो हिंस्या, नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥

"मनुस्मृति"

अर्थ—मधुपर्क में यज्ञ में, पितृदैवत कर्म में ही ब्राह्मणों को पशुवध करना चाहिए अन्यत्र नहीं, ऐसा मनुजी ने कहा है।

इस प्रकार मनुजी के नाम की दोहाई देकर प्रोत्साहित करने पर भी तलवार चलाने के लिये कोई तैयार नहीं होता था, तब नियुक्त को तलवार चलाने तथा मांस खाने को तैयार करने के लिये लिखना पड़ा।—

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रय-विक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः ॥५१॥

"मनुस्मृति"

अर्थः—(अरे! अभिनियुक्त! तुम तलवार चलाने में हिचकिचाते क्यों हो, इस वध में आज्ञा देने वाला, उसके अङ्गोपाङ्गों को जुदा करने वाला, घात करने वाला, उसका मांस खरीदने वाला,

मांस बेचने वाला, उसको पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला ये सभी घातक हैं (तुम अकेले नहीं)।

ऊपर लिखे अनुसार पशुघात जनित पाप को आठ भागों में बाँट देने पर कोई द्रव्य का लोभी ब्राह्मण घात करने को तैयार हो जाता, वह सोचता, दूसरे बलि मांस खाकर घात के पातकी बनेंगे, तब मैं तो घातकर के ही उस पापका अंशहर बन चुका हूँ, अब मांस खाकर पाप को दो भागों का भागीदार नहीं बनूंगा। इस पर अन्य ब्राह्मण उसे समझाते—

"प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं, ब्राह्मणानाञ्च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस्तु, प्राणानामेव चात्यये।

मनुस्मृति" अ० ५

अर्थः—यथाविधि पशुबध के लिये नियुक्त किये हुए ब्राह्मण को, ब्राह्मणों की इच्छा को मान देर प्रोक्षित मांस खाना चाहिए। इस विधि से अथा भूख से प्राण निकल जाते हों, उस स्थिति में मांस खाने में दोष नहीं है।

उक्त वचनों से स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति के समय तक पशु-बन्ध यज्ञोंमें नियुक्त होने वाले और मांस खाने वाले दुर्लभ होगये थे। इसलिये विशेष दक्षिणा देकर नियुक्त बनाया जाता था और ब्राह्मणोंकी इच्छा का अनुरोध दिखाकर मांस खिलाया जाता था, परन्तु हिंसा-यज्ञों की बाढ़ शतपथादि ब्राह्मण काल में ही उतर चुकी थी। उपनिषद्-काल में यह प्रवृत्ति नाम-शेष होरही थी, फिर

भी कोई कोई रूढ़िप्रिय ब्राह्मण शास्त्र का नाम लेकर पशुबन्ध यज्ञ कर लेते थे, परन्तु उन यज्ञों की संख्या और स्वरूप अत्यल्प होने के कारण आस पास के लोगों को मांस मिलना तो दूर रहा उनकी खबर तक नहीं मिलती थी। जिनमें हजारों पशुओं का आमन्त्रित मेहमानों के खाने के लिए वध होता था, वे अश्वमेध राजसूय यज्ञ आदि महायज्ञ भूतकालीन इतिहास बन चुके थे, राजा युधिष्ठिर के बाद न ऐसे यज्ञ हुये और न हजारों पशुओं का वध ही हुआ। भगवान् महावीर के समय में कोई कोई ब्राह्मण व्यक्तिगत छोटे यज्ञ करवाते अवश्य थे, परन्तु उनमें पशुओं का स्थान व्रीहि, यव और घृत ने लेलिया था।

मधुपर्क तथा पितृकर्म में भी पिष्टपशु और घृत पशुओं से काम लिया जाने लगा था, मात्र दैवत कर्म में क्षत्रिय अथवा शूद्रादि निम्न जातियां पशुवध किया करते थे, परन्तु ये कार्य भी वैयक्तिक होने से कोई भी जाति इनमें उत्तरदायी नहीं थी। ईशा की षष्ठी शताब्दी में वैदिक धर्म के यज्ञादि अनुष्ठानों का इतिहास ऊपर लिखे मुजब है। इस परिस्थिति में यह कथन कि ब्राह्मण हजारों पशु मारते और उनका मांस गांव में बांटते जिससे जैन श्रमणों को निर्मांसमत्स्य आहार न मिलने से उन्हें भिक्षा में मांस मत्स्य लेना पड़ता था, कपोल कल्पना से अधिक महत्त्व नहीं रखता। जब यज्ञ में नियुक्त होने वाले ही नहीं थे और प्रोक्षित बलि मांस भी खाने वाले नहीं मिलते थे, तब हजारों पशुओं का मांस कौन खाता होगा ? इस बातका कौशाम्बीजी ने विचार किया होता तो वे ऐसी निराधार बात लिखने को कभी तैयार नहीं होते।

अब रही चौराहे पर गाय का मांस बिकने की बात सो यह भी श्री कौशाम्बी ने ठंडे प्रहर की एक गप्प ही हांकी है। कौशांबी जिस समय की बात कहते हैं उस समय चौराहे पर तो क्या गौ-मांस-भक्षियों के लिए स्वप्न में भी गौ-मांस के दर्शन दुर्लभ होगये थे, सिवाय चमार के गोमांस किसी को दृष्टिगोचर तक नहीं होता था। अंग-मगध, काशी-कौशल, आदि देशों में बैल, बछड़ा, गौ अवध्य करार देने वाले राजकीय कायदे गो-वध पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये हुये थे। जिनका अस्तित्व मौर्य-राज्यकाल तक बना रहा और किसी ने गौवध नहीं किया। ब्राह्मणों के धर्मशास्त्रों में ही नहीं बल्कि तत्कालीन अर्थशास्त्रों में भी गोवध न करने कराने के नियम बने हुये थे, जिनका भंग करने वालों को कड़ी शिक्षा मिलती थी। एक याज्ञवल्क्य के सिवा न किसी धर्मशास्त्रकार ने गौ को वध्य माना, और वैदिक धर्मशास्त्रों के अनुसार बनने वाले किसी अर्थशास्त्र ने गोवध करने वाले को निरपराध ठहराया।

मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्यशासन का सूत्रधार कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में लिखता है—

'मृगपशूनामनस्थिमांसं सद्योहतं विक्रीणीरन्।
अस्थिमतः प्रतिपातं दद्युः। तुलाहीने हीनाष्टगुणम्।
वत्सो वृषो धेनुश्चैषामवध्याः।
घातः पञ्चाशत्कोदण्डः। क्लिष्टघातं घातयतश्च।
परिशूनमशिरःपादास्थि विगन्धं स्वयं मृतं च न विक्रीणीरन्।
अन्यथा द्वादशपणो दण्डः। कौटि० अर्थशा० पृ० १२२-२३

अर्थ—मृग पशुओं का, हड्डी बिना का मांस मारने के बाद तत्काल बेचा जाय। अगर हड्डी के साथ बेचे तो हड्डी के वजन के बराबर शुद्ध मांस अधिक दे। तौल में यदि कम दे तो जितना कम दे, उससे आठ गुणा दण्ड के रूप में दे। पशुओं में वृषभ (बैल) बछड़ा और गाय ये तीनों अवध्य हैं। पशु के जोरों का प्रहार दे अथवा किष्ट प्रहारों से मारे तो उस कसाई से पचास पण (रुपया) वसूल किया जाय।

फूगा हुआ, शिर पैर की अस्थि बिना का, गन्ध बदला और स्वयं मरे हुये का मांस न बेचे। इसके विपरीत चलने वाला बारह पण के दण्ड का भागी होगा।

कौटिल्य अर्थशास्त्र की उपर्युक्त बातें 'सूना' (कसाईखाना) चलाने वाले को उद्देश करके लिखी गई हैं। आज के सभ्यता मानी राज्यों के उन अधिकारियों को जो कसाईखानों के निरीक्षक हैं, उक्त बातों से बोध लेना चाहिए। पूर्व के सूनाघरों में ताजा और दुर्गन्धि बिना का मांस बेचने का कसाइयों को अधिकार मिलता था। एक के नाम से दूसरे का मांस देकर धोखाबाजी न करे, इसलिए जिस पशु का मांस हो उसका शिर और पांव की हड्डी शामिल रखने की सूना घरवाले को हिदायत की जाती थी। मांस में हड्डी होती तो उसके बराबर मांस अधिक देना पड़ता था। कसाई अपने बांट खोटे रखता और तोल में मांस कम देता तो दण्ड के रूप में कम की तादाद से आठगुणा अधिक देना पड़ता था। सूना में जिन वध्य पशुओं का वध होता था उनमें बैल, बछड़ा और गाय अवध्य होते थे।

जिन महाशयों ने चौराहे पर गाय का मांस बेचने की बात कही है, उन्होंने वैदिकधर्म सूत्र और प्राचीन आर्य राजाओं के राज्यों की व्यवस्था बताने वाले अर्थशास्त्रों का नाम भी सुना नहीं होगा यह निश्चित है। अन्यथा किसी बौद्ध लेखक के निराधार उल्लेख को पढ़कर अथवा अन्य किसी भी कारण से ऐसा नितान्त असत्य लेख नहीं लिखते।

श्रीयुत धर्मानन्द कौशाम्बी, इनके पुरोगामी गोपालदासजी वा भाई पटेल, और डा० हरमन जेकोबी ने जैन सूत्रों में आये हुये कुछ उल्लेखों से जैन श्रमण आदि के सम्बन्ध में जो मांस-भक्षण की कल्पना की थी, उसके उत्तर में दो बातें लिखनी पडी हैं। उक्त विद्वान् किस कारण से इस असङ्गत और असम्भाव्य बात को वास्तविक सत्य मानने को प्रेरित हुए उसके कारणों का स्पष्टी-करण अगले अध्याय में मिलेगा।

॥ इति ॥

❀ इति ❀

द्वितीयोऽध्यायः

मानव भोज्य मीमांसायाम्

तृतीयोऽध्यायः

(३)

मांसनामार्थनिर्णयः

मांसमत्स्यादिशब्दानां, शास्त्राधारेण निर्णयः ।
उच्यते भ्रान्त-चित्तानां भ्रमोच्छेदाय केवलम् ॥

अर्थः—इस तीसरे अध्याय में मांस-मत्स्य शब्दों के अर्थ का निर्णय शास्त्रों के आधार से कहा जाता है, जिसका उद्देश्य अविचारक लेखक के लेखों से भ्रान्त बने पाठकों के भ्रमका निवारण करना मात्र है ।

मांस की उत्पत्ति और इतिहास

मांस शब्द प्रारम्भ में किसी भी पदार्थ के गर्भ अर्थात् भीतरी सार भाग के अर्थ में प्रयुक्त होता था ।

धीरे धीरे यह शब्द मनुष्य आदि प्राणधारियों के तृतीय धातु अर्थ में और वनस्पतिजनित फल मेवा आदि के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

प्राण्यंगमांस

प्राण्यंगमांस खाद्य पदार्थ है, यह पहले कोई नहीं जानता था। परन्तु दुष्काल आदि विषम समय में सभ्य बसतियों से दूर रहने वाले अनार्य लोगों ने पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिये आरण्यक जानवरों को मार कर उनका मांस खाने की प्रथा चलायी और इस प्रथा का शिकार करने वाले क्षत्रिय वर्ग को भी चेप लग गया, जो कि पहले मानव-रक्षा के लिये केवल हिंस्र पशुओं का ही शिकार करना उनके कर्त्तव्यों में सम्मिलित था। परन्तु डायोनिसस आदि विदेशी आक्रमणकारों के सम्पर्क से यहां के क्षत्रिय लोग भी धीरे धीरे मांस मदिरा खाना सीख गये थे, फिर भी आर्य जातियों में यह पदार्थ सर्वमान्य कभी नहीं हो सका।

वैदिक धर्म के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ "ऋग्वेद" में पशु यज्ञों तथा ब्राह्मणों को मांस खाने का अधिकार नहीं है। वेदों का अनुशीलन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन कि ऋग्वेद कालीन ब्राह्मण भी अश्वमेध करते और उसका मांस खाते थे कोई सत्यता नहीं रखता।

ऋग्वेद यद्यपि प्राचीन वेद है, फिर भी उसमें कई सूक्त पिछले समय में प्रक्षिप्त किये गये हैं। जैसे कि पुरुषसूक्त। इसी

प्रकार ऋग्वेद के द्वितीय अष्टक के तृतीय अध्याय के सप्तम, अष्टम, नवम और दशमसूक्त हमारी राय में पिछले ऋषियों का प्रक्षेप है। क्योंकि ऋग्वेद का पहला मण्डल ही भिन्न २ कालीन अनेक ऋषियों द्वारा व्यवस्थित किया गया है। इस दशा में ऋग्वेद के प्रक्षेप अर्वाचीन कालीन होने विशेष सम्भव हैं।

ऋग्वेद के जिन चार सूक्तों का ऊपर निर्देश किया गया है। उनमें घोड़े के कच्चे तथा पक्के मांस की चर्चा है। क्या आश्चर्य है कि मध्य एशिया की तरफ से भारत के पश्चिम प्रदेश से आये हुए और पंजाब के लगभग फैले हुए आर्य कहलाने वाले मानवों की यह कृति हो और बाद में ऋग्वेद में प्रक्षिप्त हो गये हों ? क्योंकि वास्तव में ऋग्वेद के वक्ता आर्य विद्वान् गंगा सिन्धु के मध्य भाग में रहने वाले थे, और उनके प्राचीन ऋग्वेद में मांस का नाम तक नहीं था। सिन्धु के पश्चिमवर्त्ती आर्यों के पूर्व में आने के बाद वेदों में विकृति का प्रारम्भ हुआ और उसके बाद में सकारण अथवा स्वाभाविक दुर्भाग्य योग से वेद के निघण्टु का लोप हो जाने के कारण प्राचीन वेदों का अर्थ करने में कठिनाई ही नहीं हुई बल्कि अर्थ का अनर्थ तक हो गया।

ऋग्वेद में मांस और क्रविष् ये दो शब्द मिलते हैं दूसरा मांस का कोई पर्याय नाम नहीं मिलता।

शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयि-माध्यन्दिन-संहिता में अश्वमेधादि बड़े यज्ञों में अनेक प्रकार के पशुओं के नियोजन का वर्णन

मिलता है। परन्तु इसमें मांस के पर्याय नामों का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता।

अथर्ववेद संहिता में मांस शब्द के उपरान्त पिशित और क्रविष् ये दो इसके पर्याय मिलते हैं।

अथर्ववेद संहिता में यद्यपि गोमेधयज्ञ का वर्णन मिलता है, परन्तु वहां पर शतौदना अथवा वशा (बन्ध्या गौ) की प्रशंसा के पुल बांधे गये हैं। उसके शरीर के एक एक अवयव को आमिक्षा कहा गया है, यहां तक कि उसके सींग, खुर, पसलियां हड्डियां, चर्म, रोम, बाल आदि को आमिक्षा मान कर उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की गयी है। और इस वर्णन से तो यही ध्वनित होता है कि अथर्व वेद के समय में शायद गोमेध भूत-काल के इतिहास में रह गया था। क्यों कि इसी अथर्व के अन्य उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि उस समय गौ अवध्य और अभक्षणीय मानी जाती थी।

"ब्रह्मगवी पच्यमाना, यावत् साभिविजङ्गहे।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति, न वीरो जायते वृषा॥
क्रूरमस्या आशंसनं तृष्टं पिशितमश्यते।
क्षीरं यदस्याः पीयेत तद्वै पितृषु किल्बिषम्॥"

(अथर्व संहिता. पञ्चम काण्ड, सू० १६, ऋ.४

अर्थः—पकायी जाने वाली ब्रह्म गवी (भद्र स्वभाव की अथवा ब्राह्मण की) गौ जब तक वह स्मरण द्वारा दृष्टि के सम्मुख

उपस्थित होती है, तब तक राष्ट्र तेज को हानि करती है, जिस देश में उसकी हत्या होती है उस देश में पुरुषार्थी वीर पुरुष उत्पन्न नहीं होता।

इसका मारना क्रूरता का कार्य है इसका तृष्टमांस खाया जाता है और दूध पिया जाता है वह पितरों के लिए किल्बिष पाप जनक होता है।

"एतद्वा उ स्वादियो यदधिगवं सूचीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्।"

(नवम काण्ड, सूक्त ८ ऋचा)

अर्थः—यह गौ के शरीर में रहने वाला मांस तथा दुग्ध अतिशय स्वाद होता है, इसलिए इन्हें नहीं खाना चाहिए।

अथर्ववेद के उपर्युक्त उल्लेखों में मांस पकाना देश के लिए कितना हानिकारक और अपने पूर्व पुरुषों के लिए कितना पाप रूप है यह प्रथम उद्धरण में बताया गया है। द्वितीय उद्धरण में गाय का दूध तक पीना वर्जित किया है, तब मांस की अभक्ष्यता के लिए तो कहना ही क्या है?

यद्यपि वेद में आमशब्द कच्चे मांस के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, फिर भी आचार्य यास्क के "सिताम" शब्द की चर्चा में गालव के मत का—("सितिमांसतो मेदस्त गालवः")

इस प्रकार के उल्लेख से ध्वनित होता है कि वेद काल में आम शब्द सामान्य मांस में प्रयुक्त होता होगा, अन्यथा गालेव सिताम शब्द से श्वेत मांस अर्थ नहीं बताते।

वैदिक निघण्टु में मांस शब्द अथवा मांस का अन्य कोई नाम नहीं मिलता।

जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय के प्राचीन सूत्रों में आने वाले आम गन्ध शब्दों के आम इस अवयव का भी मांस अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। इस से प्रतीत होता है कि आज से ढाई हजार वर्ष और उसके पहले मांस, पिशित, आम और क्रविष् ये चार शब्द मांस के अर्थ में प्रयुक्त होते थे।

यास्क-निरुक्त-भाष्य में मांस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

"मांसमाननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदति वा" ऐसे लिखकर यह बताया गया है कि मांस मेहमान के लिये खाने का एक उत्तम भोजन होता है, और वह मानता है कि गृहपति ने हमारा बड़ा मान बढ़ाया।

मांस के नामों में वृद्धि

ईसा के पूर्व षष्ठी शताब्दी तक मांस के चार ही नाम प्रचलित थे, मांस, पिशित, आम, और क्रविष् इन में से आम और क्रविष् वैदिक नाम होने के कारण लोक व्यवहार में से हट गये हैं, तब कुछ मांस के नये नाम भी प्रचलित हुए हैं।

"अमर कोष" जो कि विद्यमान सर्व शब्द कोशों में प्राचीन है पञ्चमी शताब्दी की कृति है, उसमें मांस के छः नाम मिलते हैं। जो नीचे लिखे जाते हैं—

"पिशितं तरसं मासं पललं क्रव्यमामिषम्"

(अमरकोश)

अमर कोश के टीकाकार भानुजिदीक्षित मांस के उक्त नामों की निम्न प्रकार से व्याख्या करते हैं।

"पिशति" पिश् अवयवे (तु. प. से.) "पिशेः किच्च" ३।३।७४ इतीतन्। पिश्यते स्म वा क्तः (३।२।१०७)

पिश धातु अवयवार्थक है। इससे इतन् प्रत्यय लगने से पिशित शब्द बना। अथवा पिशित शब्द पिश् धातु से क्त प्रत्यय लगने से भी बन सकता है।

तरो बलमस्त्यस्मिन् "अर्श आद्यच्" (४।२।१२८) तरस् शब्द बल वाचक है इस से अच् प्रत्यय लगाने से तरस् शब्द बनता है

मन्यते "मन् ज्ञाने" (दि० आ० अ०) "मने दीर्घश्च" (उ० ३।६४) इति सः।

मन् धातु ज्ञानार्थक है इससे स प्रत्यय लगने और आदि स्वर के दीर्घ होने से मांस शब्द बनता है।

पलति पल्यते वा अनेन वा। "पल गतौ" (भ्वा० प० से०) "वृपादिभ्यश्चित्" (उ० १।१६) इति कलः।

क्रवते क्रव्यतेऽस्मात् वा । "क्लब भये" ण्यन्तो मित् "अचो यत्" (३।१।९७) रलयोरेकत्वम् ।

क्रव धातु भयार्थक है इससे यत्प्रत्यय लगाने और र ल का एकत्व मानने से क्रव्य शब्द बनता है ।

क्षीर स्वामी गत्यर्थक क्रुङ् धातु को यत्प्रत्यय लगाकर क्रव्य शब्द बनाते हैं ।

आमिषति 'मिष स्पर्धायाम्' (तु० प० से०) मेषति वा "मिषु सेचने" (भ्वा० प० से०) "इगुपध" (३।१।१३५) इति कः ।

मिष स्पर्धार्थक और मिषु सेचनार्थक धातु है इनसे क प्रत्यय लगने से मिष शब्द बनता है, और आङ् उपसर्ग पूर्व में आने से आमिष शब्द बनता है ।

इन छः नामों में से पिशित का अवयववान्, तरस का बलवान् मांस का मानकारक, पलल का गमन कारक, क्रव्य का भय कारक अथवा गतिकारक, और आमिष का किञ्चित स्पर्धा कारक, अथवा सेचन ऐसा अर्थ होता है ।

इन नामों में से एक भी नाम ऐसा नहीं है, कि जिसका अर्थ भोजन अथवा भक्षण ऐसा होता हो । इस से प्रतीत होता है कि अमरसिंह के समय में मांस भक्षण का प्रचार हो जाने पर भी कोशकार ने इन नामों का प्राणियों के तृतीय धातु के अर्थ में ही प्रयोग किया है ।

प्रत्येक नाम सदा के लिए एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता, कई ऐसे नाम हैं जो प्रारम्भ में एकार्थक होते हुए भी हजारों वर्षों के बाद अनेकार्थ बन चुके हैं। जैसे-अक्ष, मधु, हरि, आदि नाम कई अनेकार्थक नाम हजारों वर्षों के बाद एकार्थक बन जाते हैं। जैसे मृग, फल, मांस आदि।

कोशकार अपने समय में जो शब्द जिस अर्थ का वाचक होता है, उसी अर्थ का प्रतिपादक बताते हैं। विलीन अर्थों की अथवा भविष्यदर्थों की कल्पना में कभी नहीं उतरते।

ज्यों ज्यों जिस पदार्थ के नाम बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों पिछले कोशकार अपने कोश में संग्रह करते जाते हैं। अमरसिंह ने मांस के छः नामों का निर्देश किया तब इन के छः तथा सातसौ वर्ष पर अर्थात् विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में होने वाले वैजयन्ती तथा अभिधान चिन्तामणि कोशों में क्रमशः बारह तथा तेरह नाम संग्रह हुए हैं। जैसे—

"मांसं पललजांगले। रक्तात्तेजो भवे क्रव्यं, काश्यपं तरसामिषे ॥६२२॥ मेदस्कृत् पिशितं कीनं पलम्।

(अभिधान चिन्तामणि)

अर्थात्—मांस, पलल, जांगल, रक्ततेज, रक्तभव, क्रव्य, काश्यप, तरस, आमिष, मेदस्कृत्, पिशित, कीन और पल ये तेरह मांस के नाम अभिधान चिन्तामणि मे लिखे हुए हैं। वैजयन्ती में जांगल यह नाम नहीं मिलता।

अमरसिंह और वैजयन्तीकार तथा हेमचन्द्राचार्य के बीच लगभग छः सात सौ वर्ष का अन्तर है। अमर के छः नामों में वृद्धि होते होते वैजयन्ती में बारह और हेमचन्द्र के समय में मांस के तेरह नाम बन गये थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रति-शत वर्ष में मांस के नामों में एक एक की वृद्धि हुई।

हेमचन्द्र के बाद के कल्पद्रुम कोश में नामों की अधिक वृद्धि दृष्टिगोचर होती है, जो कि उक्त कोश हेमचन्द्र से अधिक परवर्त्ती नहीं था। परन्तु जिस देश में इस कोश का निर्माण हुआ उस देश में मांस भक्षण का अधिक प्रचार होने से नाम अधिक प्रचलित हो गये थे।

कल्पद्रुम में मांस के नाम निम्नलिखित उपलब्ध होते हैं मांस, पिशित, क्रव्य, आमिष, पलल, जंगल, कीर, लेपन, मारद, पल, तरस, जांगल, घस, बसिष्ठ, रक्ततेजोज, कीन और मेदस्कृत्।

अमर कोशोक्त छः नामों में नीचे लिखे छः नामों की वृद्धि होकर वैजयन्ती के वारह नाम बने हैं। जो ये हैं—

काश्यप, पल, रक्ततेज, रक्तभव, कीन, मेदस्कृत।

ये छः ही नाम यौगिक हैं। काश्यप यह नाम कश्यप शब्द से गढ़ा गया है। कश्यप का अर्थ है मदिरा पान करने वाला मनुष्य, और कश्यप का खाद्य काश्यप। पल यह नाम उन्मान वाचक शब्द है, जब मांस खाने वालों ने उक्त उन्मान से तोल कर लेने देने के कारण इस पदार्थ का नाम भी पल बना दिया, और बाद के

कोशकारों ने अपने कोशों में "पलमुन्मानमांसयोः" इस प्रकार अनेकार्थ में लिख दिया। मांस रुधिर के जैसा रंगदार तथा चमकदार होता है और रुधिर से ही बनता है, इस कारण से लोगों ने इसके रक्तस्तेज तथा रक्तोभव, दो नाम गढ़ दिये। कीन यह शब्द विदेशी है, इसका अर्थ होता है मनुष्य के शरीर का भाग, और जो मानव पीछे से किसी की बुराइयां करते हैं वे उस भाषा में कीनाखोर कहलाते हैं। संस्कृत ग्रन्थकार पीछे से चुगलीखोरी करने वालों को पृष्ठमांस भक्षी कहते हैं, इस प्रकार कीन शब्द धीरे धीरे संस्कृत में प्रविष्ट होकर मांस का पर्याय बन गया है, और कीन का वाच्यार्थ मांस हो जाने के बाद लेखकों ने "कीनमश्नातीति कीनाशः" अर्थात् मांस खाने वाला इस व्युत्पत्ति से यमराज को भी कीनाश बना दिया। जबकि वेदकाल में कीनाश का अर्थ कर्षक होता था। मांस से मेदो धातु की उत्पत्ति होने के कारण लेखकों ने मेदस्कर यह नाम भी प्रचलित कर दिया है।

अभिधान चिन्तामणिगत नामों के अतिरिक्त "कल्पद्रुम" कोश में नीचे के नाम अधिक बढ़े हैं।—

मारद, कीर, लेपन, जंगल, जांगल, वासिष्ठ, घस। मारद का अर्थ है विषय वासना वढ़ाने वाला। कीर यह अप्रसिद्ध नाम है, हिंसार्थक कृ धातु से बना हुआ प्रतीत होता है। लेपन यह नाम इसकी चिकनाहट के कारण गढ़ दिया गया है। जंगल तथा जांगल में केवल शब्द भेद है, ये दोनों नाम देशीय मालूम

होते हैं। वासिष्ठ नाम वसिष्ठ से बना मालूम होता है। इसका व्युत्पत्त्यर्थ वसा भेदः प्रयोजनमस्येति वासः, ततोऽतिशयार्थ इष्ठः। वासिष्ठः यों ज्ञात होता है। वैजयन्ती में वासिष्ठ शब्द रक्त का पर्याय बताया गया है। घस यह नाम भक्षणार्थक घस्लृ धातु से बना है। मांस के उक्त अठारह नामों में केवल घस नाम ही भक्षणार्थक धातु से बना हुआ है और यह नाम सबसे अर्वाचीन प्रतीत होता है।

उक्त मांस के नामों और उनके अर्थों से स्पष्ट होता है कि मांस मनुष्य के खाने का पदार्थ नहीं था। परन्तु दुर्भिक्षादि के समय में जंगली लोगों ने इसको अपना खाना बनाया और धीरे धीरे यह खाना बहुतेरे अनार्य देशों में फैल गया। इस खाने ने पृथिवी पर कितने अनाचार, कितनी अनीति और कितने रोग फैलाये इसका निर्देश प्रथम अध्याय के अन्त में कर आये हैं।

वनस्पत्यंग मांस

जिस प्रकार मनुष्य आदि प्राणधारियों के शरीर में रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्य, यह सात धातु माने जाते हैं, उसी प्रकार अति प्राचीनकाल में वनस्पतियों के भी रसादि सात धातु माने जाते थे। मनुष्य आदि प्राणधारियों का शरीरावरण चर्म अथवा त्वचा कहलाता है, उसी प्रकार वनस्पतियों के शरीर का आवरण भी चर्म अथवा त्वक् कहलाता था[१]।

१—"शमीपलाशखदिरविल्वाश्वत्थविकङ्कतन्यग्रोधपनसाम्रशिरीषोदुम्बराणां सर्वयाज्ञिकवृक्षाणां चर्मकषायकलशेनाभिषिञ्चति"

(बौधायनगृह्यसूत्र पृ० २५५)

प्राणधारियों के शरीर पर के रोम रोंगटे और शिर पर के रोम बाल कहलाते हैं, वैसे ही वनस्पतियों के शरीर पर भी रोम तथा बाल माने जाते थे[१]।

अर्थात्—शमी, पलाश, खदिर, विल्व, अश्वत्थ, विकङ्कत, न्यग्रोध, पनस, आम्र, शिरीष, उदुम्बर इन वृक्षों तथा अन्य सर्व याज्ञिक वृक्षों के चर्म (छल्ली) के चूर्ण से मिले जल भरे कलश से (विष्णु-मूर्त्ति का) अभिषेक करे।

कूष्माण्डबीजैर्निस्त्वग्भि-श्चिर्भटादिप्रियालजैः।
खण्डपाके विमिश्रैश्च कुर्यात्तेषां हि मोदकान्॥

"क्षेमकुतूहल"

अर्थ—कूष्माण्ड, चिर्भट, ककड़ी और पियाल, इनके बीजों को त्वचाहीन करके मज्जा निकाल कर घृत में भूनले और फिर खांड की चासनी में मिश्रित करके लाडू बनाले।

१—'स वा एष पशुरेवालभ्यते, यत् पुरोडाशस्तस्य किशारुकारुगितानि रोमाणि ये तुषाः सा त्वक् ये फलीकरणास्तदसृक् यत् पृष्ठं कीकनमाः, तन्मामं, यत्किञ्चित् कंसारं तदस्थि सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते, तस्मादाहुः पुरोडाशसत्रं लोक्यमिति'। द्वितीयपञ्जिका अ० पृ० ११५

अर्थ—यह पशु का ही आलम्भन किया जाता है, जो पुरोडाश तैयार करते हैं, यव व्रीहि पर जो किशारू (शूक) होते हैं वे इनके रोम हैं, इन पर के तुष इनका चर्म है, जो फलीकरण है वह इनका रुधिर है, जो पृष्ठ है वह इनका रीढ़ है, इनका जो कुछ सारभाग

मनुष्य के आहार से तैयार हुआ सत्व रसभाग कहलाता है, वैसे वनस्पतियों में रहा हुआ जल भाग रस कहलाता था [१]।

प्राणधारियों के रस से निष्पन्न तत्त्व रुधिर कहलाता है, वैसे बनस्पतियों के तैयार होने वाला स्राव उनका रुधिर कहलाता था [२]।

प्राणधारियों के रुधिर से बनने वाला ठोस पदार्थ मांस कहलाता है, वैसे वनस्पतियों में मिलने वाला सार भाग (गूदा) मांस कहलाता था।

प्राणधारियों के मांस से मेदस् धातु बनता है, वैसे वृक्षों के

है वह मांस है, इनका जो कंसार (ऊपर का कठोर भाग) है वह अस्थि है, (जो) इस पुरोडाश से यज्ञ करता है, वह सर्व पशुओं से यज्ञ करता है, इस वास्ते पुरोडाश को लोक-हितकारी सत्र कहते हैं।

१. तस्मात्तदा तृणात्प्रैति रशो वृक्षादि वाहतात ॥
"बृहदारण्यकोपनिषद्"

अर्थ—जिस प्रकार वृक्ष पर प्रहार करने से रस निकलता है, वैसे ही वृक्ष पुरुष के प्ररोह से रस निकलता है।

२. त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ॥
॥ बृहदारण्यकोप० ॥

अर्थ—इस का रुधिर स्राव है, जो त्वचा के भीतर से झरता है।

अङ्ग प्रत्यङ्गों में से मेदस् सदृश स्राव निकलता है, उसे वनस्पति का मेदो धातु माना जाता था।

प्राणधारियों के शरीर में रहने वाले कठोर दारु-भाग को अस्थि कहते थे, तथा वनस्पति के फलों में रही हुई गुठलियाँ तथा बीजों को भी अस्थिक के नाम से पहिचाना जाता था[१]। प्राणधारियों के अस्थियों में होने वाले स्निग्ध पदार्थ को मज्जा धातु कहते हैं, वैसे फलों की गुठलियों में तथा बीजों में से निकलने वाले स्निग्ध पदार्थ को वृक्ष की मज्जा कहते हैं[२]। प्राणधारियों के

---

१. कण्टाफलमपक्वं तु कषायं स्वादुशीतलम्।
कफपित्तहरं चैव, तत्फलास्थ्यपि तद्गुणम् ॥१०३॥ रा० व० नि०

अर्थ—कच्चा कटहल, कषाय रस वाला, स्वादिष्ट, और शीत वीर्य होता है, कफ, पित्त, का नाशक है, इसके फल का अस्थि (गुठली) भी फल के जैसा गुणवान होता है।

"अस्थि बीजानां शकृदालेपः शाखिनां गर्त्तदाहो गोऽस्थि शकृद्भिः काले दोहदं च।" अर्थ शा० पृ० ११७।

अर्थ—अस्थि और बीज वाले वृक्षों के बीजों को गोबर का लेप करके बोना चाहिए।

२. वातादमज्जा मधुरा वृष्यातिक्ताऽनिलापहा।
स्निग्धोष्णा कफकृन्नेष्टा, रक्तपित्त-विकारिणाम् ॥१२५॥
भाव प्रकाश निघण्टु।

अर्थ—बादाम की मज्जा (गिरी) मीठी, पुष्टिकारक, पित्त वात का नाश करने वाली, स्निग्ध, उष्णवीर्य, और कफ करने वाली होती है, इसका सेवन रक्त पित्त के रोगियों को हितकारी नहीं है।

अन्तिम धातु को रेतस् अथवा वीर्य आदि नाम प्राप्त हैं, वैसे वनस्पतियों में भी अमुक प्रकार की शक्तियां रहती हैं, जिनका शीत वीर्य उष्ण वीर्य आदि नामों से व्यवहार होता था, और आज भी वैद्य लोग उस प्रकार व्यवहार करते हैं।

भारतवर्ष में पूर्व काल में जितनी और जितने प्रकार की वनस्पतियां होती थीं, उनकी एक शतांश भी नहीं रही हैं। उस समय के मनुष्य प्राय: इन्हीं वनस्पतियों के अंगों, प्रत्यंगों फलों, पुष्पों से अपना जीवन निर्वाह करते थे। पश्वङ्ग मांस से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। मृत पशुओं, पक्षियों को खाने वाले गीध, गीदड, भेडिया, चीता, बघेरा, आदि क्रव्यादपक्षियों श्वापदों के सिवाय कोई नहीं था।

वनस्पत्यंगों और प्राण्यंगों की समानता

आज कल हमारे देश में वनस्पतियों का दुष्काल सा हो रहा है, जो अत्यल्प संख्या रही है उनके अंग प्रत्यंगों का भी प्राण्यंगों से कितना साम्य है, उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन करायेंगे।

"ऐतरेयब्राह्मण" में यव व्रीहि को पशु का प्रतिनिधि मान कर पशुओं के अंग प्रत्यंगों की जो तुलना की है उसे रोम शब्द की

पाद टीका में दिया जा चुका है। वृहदारण्योपनिषद्कार ने तो वनस्पति को पुरुष का रूप देकर उसके प्रत्येक अवयव का वर्णन क. दिया है जो नीचे दिया जाता है—

यथावृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।
तस्य लोमानि पर्णानि, त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥
त्वच एवास्य रुधिरं, प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तृणात्तदा प्रैति, रसो वृक्षादिवाहतात् ॥
मांसान्यस्य शकराणि, किनाटं स्नावतत्स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमाकृता ॥
यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।

(वृहदारण्योपनिषद्)

अर्थ—जैसा पुरुष है वैसा हीं सचमुच वनस्पत्यात्मक वृक्षपुरुष है। वनस्पति पुरुप के पत्र इस के रोम हैं। और बाहर भाग में दिखने वाली वक्कल इसकी त्वचा है। वक्कल के उखडने से इसमें से जो रस स्राव होता है वह वनस्पति पुरुष का रुधिर है। और वृक्ष पर प्रहार देने से जिस प्रकार रस स्राव होता है, वैसे ही इस के प्ररोह में से रस स्रवता है। इसमें रहे हुए सार भाग के टुकड़े इसका मांस है। और इसमें से निकला हुआ ठोस स्राव जो किनाट कहलाता है इसका मेदो धातु है। वनस्पति के अन्दर की लकडी इसकी अस्थियां हैं। और इसके बीजों तथा लकडी में से निकलने वाला स्नेह इसकी मज्जा है। यह वृक्ष रूपी धनद पुरुष मूल से नया नया उत्पन्न होता है।

आम्रादि फलों में मांस मज्जा अस्थि आदि माने जाते थे, इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। खजूर के गूदे को मांस बताने वाला चरकसंहिता का पाठोल्लेख मांस शब्द के नीचे पाद टीका में दिया जा चुका है। उसी प्रकार का बल्कि उससे भी विशद उल्लेख सुश्रत संहिता में मिलता है जो नीचे दिया जाता है:-

"चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः पृथक् पृथक् दृश्यन्ते कालप्रकर्षात्। तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मत्वात्। तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां कालः प्रव्यक्ततां करोति।

(सुश्रुत संहिता शा० अ० ३ श्लो० ३२)

अर्थ—पके आमफल में केशर, अस्थि, मांस, अस्थिमज्जा प्रत्यक्ष रूप में दीखते हैं। परन्तु कच्चे आम्र में ये अङ्ग सूक्ष्म अवस्था में होने के कारण भिन्न भिन्न नहीं दीखते, उन सूक्ष्म केशरादि को समय व्यक्त रूप देता है।

जैसे प्राणधारियों में आंत होती है, वैसे फलों में भी आंतें मानी गई हैं। जिनके द्वारा फल स्थित बीजों के शरीर मांस मज्जाओं को रस पहुँचता है उन रेशों को वैद्य लोग अन्त्र कहते हैं। जैसे—

समुत्सृज्य ततो बीजान् अन्त्राणि तु समुत्सृजेत्।
तानि प्रक्षाल्य तोयेन, प्रवण्यां निक्षिपेत् पुनः॥

(पाक दर्पण पृ० २५)

अर्थ—उसमें से बीज तथा आंतें निकाल दे फिर उसे धो डाले और बाद में प्रवणी में रक्खे।

फल मेवों के जिस भाग को आज कल गिरी अथवा मींगी कहते हैं, उसको वैद्यक शास्त्रों में मज्जा इस नाम से उद्धृत किया गया है। जैसे—

नारिकेलभवा मज्जा स्विन्ना दुग्धे सुखण्डिता।
भर्जिता घृतखण्डेन, स्वनिमित्त–गुणावहा॥

(क्षेम कुतूहल)

अर्थ—नारिकेल की गिरी को दूध में रांध कर सूक्ष्म टुकड़े कर घी में भुन कर खांड की चासनी में डालने से नारिकेल पाक बनता है, जिसका गुण नारिकेल की प्रकृति के अनुसार होता है।

वृक्ष के कठिन भाग को तथा फलों के बीजों (गुठलियों) को तो अस्थि नाम से निर्दिष्ट किया ही है, परन्तु कहीं फल के भीतर के कठिन परदे को भी अस्थि नाम से बतलाया है। जैसे—

कर्पासफलमत्युष्णं, कषायं मधुरं गुरु।
वातश्लेष्म–हरं रुच्यं, विशेषेणास्थिवर्जितम्॥

(क्षेम कुतूहल)

अर्थ—कपास का फल अति उष्ण प्रकृति वाला, कषाय तथा मधुर रस वाला, और गुरु होता है।

यह बात कफ को दूर करने वाला, तथा रुचिकर होता है। इसमें से अस्थि निकाल कर प्रयोग करने से विशेष लाभदायक होता है।

आज कल "पलल" यह मांस का नाम माना जाता है। परन्तु मूल में पलल नाम खड़े हुए तिल चूर्ण का था। ऊखली में तिलों को कूट कर सूक्ष्म कर देते हैं, फिर उसमें गरम पानी छिड़क कर खांड मिलाते हैं। इससे स्नेह प्रचुर तिल चूर्ण बनता है। जिसे मारवाड में 'सेली' कहते हैं।

यह पदार्थ मकर संक्रान्ति के दिन अधिक बनाया जाता है। पूर्व काल में इसे पलल कहते थे। स्नेहाक्त होने के कारण पिछले लोगों ने मांस को भी पलल मान लिया और कोशकारों ने इस शब्द को अनेकार्थक मान कर अपने कोशों में दाखिल कर दिया। जैसे—

पललं तिलचूर्णे स्यान्मांसकर्दम-भेदयोः।

(वैजयन्ती)

अर्थ—पलल यह तिल चूर्ण का नाम है, और मांस तथा कीचड़ के भेद में भी यह व्यवहृत होता है।

पललं तु समाख्यातं, सैत्वं तिलपिष्टकम्।
पललं मलकृद् वृष्यं, वातघ्नं कफपित्तकृत्॥
बृंहणं च गुरु स्निग्धं, मूत्राधिक्य-निवर्त्तकम्।

(भाव प्रकाश)

अर्थ—गुड अथवा खांड से बनाया हुआ तिलों का पिष्ट पलल कहा जाता है. यह मल वृद्धि कारक, पुष्टिकारक, वातनाशक, कफ पित्त करने वाला, शक्तिदायक, गुरुपाकी, चिकना, और मूत्राधिक्य को दूर करने वाला होता है।

कीनाश शब्द हजारों वर्ष पहले केवल कर्षक के अर्थ में प्रचलित था। परन्तु धीरे धीरे इसकी कुक्षि में अनेक वाच्यार्थ भर गये और आज यह शब्द चार अर्थ का वाचक बन बैठा है। जैसे-

कीनाशो रक्षसि यमे कदर्ये कर्षकेऽर्थवत् ॥

(वैजयन्ती)

अर्थ—कीनाश शब्द राक्षस, यम, कृपण, और कर्षक का वाचक है। और इसका लिङ्ग वाच्यार्थ के अनुसार होता है।

अनिमिष शब्द से आज कल के विद्वान् केवल मत्स्य को ही समझ लेते है, परन्तु अनिमिष शब्द की कुक्षि में कितने अर्थ भरे हुए हैं, इसका वे कभी विचार नहीं करते।

अनिमिष शब्द केवल मत्स्य का वाचक नहीं, पर यह नीचे लिखे अनुसार पांच अर्थ बताता है। जैसे—

अथामरे झषे। अनिमेषोऽप्यनिमिषोऽप्यथ चाण्डालशिष्ययोः। स्यादन्तेवासिनि।

"वैजयन्ती"

अर्थ:—अनिमेष तथा अनिमिष शब्द देव, मत्स्य, चाण्डाल,

शिष्य, और निकटवर्त्ती आज्ञाकारी मनुष्य के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

मधु शब्द का अर्थ आजकल लेखक शहद मात्र करते हैं। परन्तु यह कितने अर्थों का प्रतिपादक है, यह तो निम्नलिखित कोश वाक्यों से ही जाना जा सकता है।
जैसे—

मधुश्चैत्रर्त्तु दैत्येषु, जीवाशाक मधूकयोः।
मधु क्षीरे जले मद्ये, क्षौद्रे पुष्परसेऽपि च॥
"अनेकार्थ संग्रह"

अर्थः—मधु शब्द 'चैत्र मास, बसन्त ऋतु, दैत्य विशेष, जीवाशाक, महुआ, दूध, पानी, मदिरा, शहद, मकरन्द इन अर्थों का वाचक है।

पेशी शब्द आजकल के लेखकों के विचार से मांस वल्ली अथवा मांस के टुकड़ों के अथ में ही प्रचलित है। परन्तु वास्तव में पेशी कितने अर्थों को बताती है, यह नीचे लिखे कोश-वाक्य से ज्ञात होगा। जैसे:—

पेशी मांस्यसिकोशयोः। मक्ष्डभेदे पलपिण्डे सुपक-कणिके-ऽपि च। "अनेकार्थ संग्रह"

अर्थः—पेशी, तलवार का म्यान, पकान्न का भेद मांस के पिण्ड, घृत पक्ककणिका, इतने पदार्थों का नाम है।

कुक्कुट शब्द सामान्य रूप से मुर्गा के अर्थ में प्रसिद्ध है परन्तु यह शब्द दूसरे भी अनेक पदार्थों का वाचक होना कोशों तथा निघण्टुओं में लिखा है। जैसेः—

"कुक्कुटः कुकुभे ताम्रचूडे वह्निकणेऽपि च ॥६५४॥
निषाद शूद्रयोः पुत्रे × × × ।

अर्थः—कुक्कुट शब्द का अर्थ कुकुभ (कुम्हार का मुर्गा श्वेत तीतर) ताम्र चूड़ (मुर्गा) अग्नि का अंगार, चाण्डाल और शूद्र का पुत्र होता है।

कुक्कुट नाम सुनिषण्णक नामक वनस्पति के नामों में भी परिगणित है, जिसका प्रमाण अन्यत्र दिया गया है।

शश यह नाम खरहा नामक आरण्यक पशु का है, परन्तु दूसरे भी अनेक पदार्थों के अर्थ में पूर्वकाल में यह प्रयुक्त होता था। जैसेः—

"शशः पशौ ॥ ४४८ ॥ बोले लोध्रे नृभेदे च"

"अनेकार्थ"

अर्थः—शश शब्द का अर्थ खरगोश पशु, हीराबोल, लोध्र और पुरुष विशेष होता है।

वर्त्तमान समय में आमिष शब्द का अर्थ मांस किया जाता है, परन्तु आमिष के दूसरे भी अनेक अर्थ होते थे, जो कोशों से जाना जाते हैं। जैसेः—

"आमिषं पले ॥१३३०॥ सुन्दराकाररूपादौ सम्भोगे लोभल-ञ्चयोः" "अनेकार्थ"

अर्थः—आमिष का अर्थ मांस, सुन्दराकार रूप आदि, सम्भोग लोभ और रिश्वत होता है।

"लोभे कामे गुणे, रूपे आमिषाख्या च भोजने"

"अनेकार्थ"

अर्थः—लोभ में, काम गुण में, रूप में, और भोजन में, आमिष यह नाम प्रयुक्त होता है।

कुक्कुटी शब्द से वर्त्तमान समय के विद्वान मात्र मुर्गी का ही बोध करेंगे। किन्तु इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है सो तो कोशों से ही प्रतीत होगा। जैसेः—

शाल्मलौ तूलनी मोचा पिच्छिला विरजा विता।
कुक्कुटी पूरणी रक्त-कुसुमा घुण-वल्लभा ॥६७॥ निघण्टु-शेषे।

अर्थः—तूलिनी, मोचा, पिच्छला, विरजा, विता, कुक्कुटी, पूरणी, रक्तकुसुमा, घुणवल्लभा ये शेमल वृत्त के नाम हैं। जिनमें कुक्कुटी मुर्गी का प्रति रूपक जैसा दीखता है।

मार्जार नाम बिल्ली का ही प्रसिद्ध है, फिर भी यह पहले हिंगोट और अगस्त्य से अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। जैसेः—

"इङ्गुद्यां तापसतरु र्मार्जारः कण्टकीटकः।" "निघण्टु शेषः"

अर्थः—तापसवृत्त, मार्जार और कष्टकीटक ये हिंगोट वृत्त के नाम हैं। अगस्त्ये मुनि-मार्जारावगस्तिर्वङ्क सेनकः। "वैजयन्ती"

अर्थात्—मुनि, मार्जार, अगस्ति, वङ्गसेन इत्यादि अगस्त्य वृक्ष के नाम हैं।

मार्जार शब्द निघण्टु में रक्तचित्रक का भी पर्याय बताया है।

संस्कृत में कुक्कुर नाम कुत्ते का पर्याय बताया गया है और प्रत्येक पाठक कुक्कुर से 'कुत्ता' अर्थ ही समझेंगे; परन्तु यह शब्द ग्रन्थिपर्ण (गंठिवन) वनस्पति के नामों में भी परिगणित किया है। जैसेः—

"ग्रन्थिपर्णे पिष्टपर्णं विकीर्णं शीर्णरोमकम्।

कुक्कुरं च × × ×। "निघण्टु शेष"

अर्थात्—श्लिष्टपर्ण, विकीर्ण, शीर्णरोमक, कुक्कुर, ग्रन्थिपर्ण (गंठिवन) के नाम हैं।

'पल' शब्द आजकल एक जाति के तोल, काल विशेष और मांस के अर्थ में ही प्रसिद्ध है, परन्तु पहले 'पल' शब्द का अर्थ धान्य का भूसा भी होता था। जैसेः—

पलः, पललो, धान्यत्वक्, तुषो बुसे कडङ्गरः— । अभि० चि०

अर्थात्—पल, पलल, धान्यत्वक्, तुष और कडंगर ये भूसे के नाम हैं।

अज नाम से आज कल के सामान्य विद्वान् बकरा और विष्णु का बोध कराते हैं। परन्तु इस शब्द के अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—

सुवर्ण माक्षिक धातु, पुराने धान्य, जो उगने के काल से अतिक्रान्त हुए हैं।

(शालिग्रामौषध शब्दसागर)

कपोत शब्द से आज कल कबूतर का बोध होता है, परन्तु पूर्वकाल में कपोत पक्षी मात्र का वाचक था, और सौ वीर नामक श्वेत सुर्मा भी कपोत कहलाता था। क्योंकि सुरमे का वर्ण कपोत से मिलता जुलता होने से वह कपोत नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इसी प्रकार सज्जी, कापोत कहलाता था क्योंकि इसका भी वर्ण कपोत का सा होता है।

गोपी, गोपवधू गोपकन्या शब्दों से क्रमशः गोप स्त्री, गोप की बहू गोप की पुत्री, का अर्थ उपस्थित होता है, परन्तु इनका वास्तविक अर्थ वैद्यक ग्रंथों में निम्नलिखित बताया है। जैसे—

कृष्णा तु सारिवा श्यामा गोपी गोपवधूश्च सा।
धवला सारिवा गोपी, गोपकन्या च सारवी॥

(भावप्रकाश निघण्टुः)

अर्थात्—श्यामा, गोपी, गोपवधू ये कृष्ण सारिवा के नाम हैं। और गोपी, तथा गोप कन्या, ये दो नाम धवला सारिवा के हैं।

श्वेत कापोतिका और कृष्ण कापोतिका शब्दों से पाठक श्वेत तथा कृष्ण मादा कपोत पक्षी का ही बोध करेंगे, परन्तु वास्तव में ये शब्द किस अर्थ के बोधक हैं, यह तो नीचे के उद्धरण से ही समझ सकेंगे।

स्वल्पाकारा लोहिताङ्गा, श्वेतकापोतिकोच्यते ।
द्विपर्णिनीं मूलभवां, मरूणां कृष्णपिङ्गलाम् ॥५६१॥
द्विरत्निमात्रां जानीयाद्, गोनसीं गोनसाकृतिम् ।
सक्षारां रोमशां मृद्वीं, रसनेक्षुरसोपमाम् ॥५६२॥
एवं रूपरसां चापि, कृष्णकापोतिमादिशेत् ।
कृष्ण-सर्पस्य रूपेण, वाराहीं कन्दसम्भवाम् ॥५६३॥
एकपर्णां महावीर्यां, भिन्नाञ्जन-चयोपमाम् ।
छत्रातिच्छत्रके विद्याद्, रक्षोघ्ने कन्द-सम्भवे ॥५६४॥
जरामृत्यु-निवारिण्यौ, श्वेतकापोतिसम्भवे ।
कान्तैर्द्वादशभिः पत्रै-र्मयूराङ्गरुहोपमैः ॥५६५॥

(कल्पद्रुमकोशः)

अर्थ—जो स्वल्प आकार वाली और लाल अंग वाली, होती हैं वह श्वेत कापोतिका कहलाती है, श्वेत कापोतिका दो पत्तों वाली और कन्द के मूल में उत्पन्न होने वाली, ईषद् रक्त तथा कृष्ण पिङ्गला, हाथ भर ऊंची गौ की नाकसी और फणधारी सांप की आकृति वाली, क्षारयुक्त, रोंगटों वाली, स्पर्श में कोमल, जिह्वा से चखने पर ईख जैसी मीठी होती है।

इसी प्रकार के स्वरूप और रस वाली को कृष्ण कापोतिका कहना चाहिए। कृष्ण कापोतिका काले सांप के रूपमें वाराही कन्द के मूल में उत्पन्न होती है, वह एक पत्ते वाली महावीर्य दायिनी, और अति कृष्ण अञ्जन समूह सी काली होती है, पत्र मध्य से

उत्पन्न प्ररोह पर लगे हुए गहरे नील मयूर पंख जैसे—बारह पत्तों से छत्रातिछत्र वाली, राक्षसों का नाश करने वाली, कन्द मूल से उत्पन्न होने वाली, जरामरण का निवारण करने वाली दोनों कापोतिकायें जाननी चाहिए।

अजा शब्द सामान्य रूप से बकरी इस वाच्यार्थ को ही व्यक्त करता है, फिर भी अजा नामक एक औषधि भी होती है। जिसका वर्णन नीचे अनुसार है—

अजा महौषधिर्ज्ञेया शङ्ख-कुन्देन्दुपाण्डुरा ॥५६८॥

(कल्पद्रुमकोशः)

अर्थ—जो शंख कुन्द पुष्प और चन्द्र के समान श्वेतवर्ण की हो, अजा नामक महौषधि जाननी चाहिए।

वर्ण के ऊपर से पदार्थों के नाम

वनस्पति फलों के ही नहीं अन्य अनेक पदार्थों के नाम वर्णों के ऊपर से प्रसिद्ध हो जाते हैं। जैसे—

रुधिरं कुंकुमेऽपि च।

अर्थात्—केशर का भी नाम रुधिर पडना।

ताम्रं शुल्वे शुल्वनिभे च।

अर्थ—ताम्र नाम ताम्बे के अतिरिक्त ताम्रवर्ण के प्रत्येक पदार्थ का होना।

पाण्डुरो वर्णतद्वतोः ।

अर्थात्—पाण्डुर यह नाम श्वेत वर्ण और श्वेत वर्ण वाले का होना ।

इत्यादि अनेक उदाहरणों से पूर्व काल में पदार्थों के नाम वर्ण के नामानुसार प्रसिद्ध हो जाते थे । प्राण्यंग मांस रक्त वर्ण का होने से फल मेवाओं के रक्तवर्ण-गर्भ भी मांस कहलाते थे । गुड से बना सीरा, लापसी, और कुछ मिठाइयां जो रक्त वर्ण लिये होती थी, वे भी मांस के नाम से पहचानी जाती थी । परन्तु जिन पदार्थों में रक्त अथवा पीत वर्ण विल्कुल नहीं होता उनको रक्तवर्ण देकर बनाने वाले मांस का रूप दे देते थे । यह पद्धति क्षेमकुतूहल ग्रन्थ के निर्माण समय तक प्रचलित होगी । ऐसा उक्त ग्रंथ के निम्नोद्धृत श्लोक से जाना जाता है—

वर्णस्य करणे देयं, कुंकुमं रक्तचन्दनम् ।
ताम्बूलं यत्र यद्युक्तं, तच्च तत्र प्रयोजयेत् ॥६४॥

क्षेम कुतूहल ।

अर्थात्—खाद्य पदार्थ को रंग देने में केशर, रक्त चन्दन, और नागरवेल के पत्ते का उपयोग करना चाहिए । जिस पदार्थ के लिए जो रंग अनुरूप हो उसे उसी रंग से रंगना चाहिए ।

वनस्पत्यंग मांस के सम्बन्ध में हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राणधारियों के शारीरिक अवयव जिन नामों से पहिचाने जाते थे, उन्हीं नामों से वनस्पतियों के भिन्न भिन्न अव-

यवों का व्यवहार होता था। इतना ही नहीं बल्कि प्राणधारियों के सैंकडों नाम समान रूप से वनस्पतियों को भी वाच्यार्थ रूप से प्रसिद्ध करते थे। प्राण्यंग मांस को उसके खाने वाले अनेक प्रकार के उपस्कर से तैयार करते थे। उसी प्रकार अन्न भोजी मानव भी वानस्पतिक पदार्थों से अनेक खाद्य पदार्थ बनाते और उनको घृत, शक्कर, केशर, कस्तूरी आदि के संस्कारों से संस्कृत करके आकर्षक बनाते थे। इस परिस्थिति में लिखे गये शास्त्रों के अर्थ निर्णय में आजकल के विद्वानों द्वारा विपर्यास होना असम्भव नहीं है। वेदों, जैन सूत्रों और बौद्ध सूत्रों में आने वाले तत्कालीन खाद्य पदार्थों के अर्थ में आजकल के विद्वानों ने अनेक प्रकार की विकृतियां घुसेड दी हैं। इसका कारण वनस्पति तथा वनस्पत्यंगों के नामों, साथ प्राणी नामों तथा प्राण्यंग नामों की समानता ही है। अब हम इस प्रकार के ग्रन्थ पाठों के उद्धरण उनके अर्थ लिख कर विषय को नहीं बढ़ायेंगे, किन्तु प्राणी और वनस्पति को बताने वाले शब्दों को कोश के रूप में एक अनुक्रमणिका देकर इस प्रकरण को पूरा करेंगे।

उन शब्दों की अनुक्रमणिका जो प्राणधारी और वनस्पति के वाचक हैं।

नाम	प्रसिद्धार्थ	अप्रसिद्धार्थ
अज	बकरा	सोनामाखी
अमृत	देवभोज्य	अयाचितभिक्षान्न

इक्ष्वाकु	राजवंश विशेष	कड़वी तुम्बी
कञ्चुकी	नादर	यव, चणक, अमर वृक्ष
कंटक	कांटा	क्षुद्र शत्रु और बाँस
कपि	बन्दर	शिलारस
कटाह	कड़ाह	भैंस का बच्चा
कपोतक	छोटा कबूतर	सफेद सुर्मा
कपोतसार	कबूतर का सत्व	सुर्मा
कपोतांघ्रि	कपोत का पग	नलिका नाम औषधि
करभ	ऊंट	नख नामक गन्ध द्रव्य, हुर हुर वृक्ष,
कलभ	हाथी का बच्चा	धत्तूरा का वृक्ष
कलापी	मोर	लक्ष, पिलखन का वृक्ष,
काक	कौआ	अगस्त वृक्ष
काकशीर्ष	कौए का शिर	अगस्त वृक्ष
कापोत	कबूतर सम्बन्धी	सफेद सुर्मा, सज्जीखार
कुक्कुटी	मुर्गी	शाल्मलि वृक्ष
कुक्कुटाण्ड	मुर्गी का अण्डा	कृष्ण व्रीहि
कुक्कुर	कुत्ता	ग्रन्थिपर्ण
कृष्णचञ्चुक	काले चोंच वाला	चणक, चने
कौशिक	घूक	गुग्गुल
खर	गदहा	कण्टकि वृक्ष
खरस्वरा	कठोर स्वर वाली स्त्री	वनमल्लिका
गोशीर्ष	गाय का शिर	चन्दन विशेष

ग्रहपति	सूर्य्य	आक वृक्ष
डुली	कछुई	चिल्ली शाक
तपस्वी	तापस तप करने वाला	घृत करञ्ज वृक्ष
तपोधन	तपस्वी, मुनि	दमनक वृक्ष, दमना वृक्ष
ताम्रचूड	मुर्गा	ककरोंदा वृक्ष
ताम्रसार	ताम्बे का भस्म	रक्त चन्दन
तुरगी	घोडी	अश्व गन्धा
तुरंग	घोडा	सेन्धा नमक
दन्ती	हाथी	अजेपाल का वृक्ष
द्विज	ब्राह्मण	तुम्बरू वृक्ष
द्विजप्रिया	ब्राह्मण भार्या	सोमलता
द्विप	हाथी	नाग केशर
द्वीपी	व्याघ्र जाति विशेष	चित्रक
दीपक	लालटेन	केशर, अजवान, मोर शिखा
देवी	देवता	बांझी ककोरी
नखी	नख वाला	गन्ध द्रव्य विशेष
नीच	बदमाश	चोरक नामक गन्ध द्रव्य भटेउर
नीलकण्ठ	शिव मोर	मूली
पलाशी	राक्षस	पलाश वृक्ष
पार्वती	भवानी	सौराष्ट्र मृत्तिका
पुद्गल	शरीर	रूपादियुक्त द्रव्य

पेशी	मांस पिण्ड	जटामांसी
प्लवग	बन्दर	शिरीषवृक्ष
बभ्रु	नौवला (नेउला)	सितावर शाक
भल्लुक	भालू	सोनापाठवृक्ष,
भंडी	गाड़ी	शिरीषवृक्ष
भेकी	मेंढ़की	मण्डूकपर्णी, ब्रह्ममण्डूकी
मण्डूक	मेंढक	सोनापाठावृक्ष
मत्स्य	भृतक	उपवन
मड़	मृत	कष्ट
महामुनि	बड़ासाधु	धनियां
मातङ्ग	हाथी	पीपड़पेड़, ढाक का पेड़
मार्जार	बिल्ली	रक्तचित्रक, अगस्त्यवृक्ष, हिंगोटावृक्ष
मार्जारी	बिल्ली	कस्तूरी
मुनि	मौनव्रती	चिरौंजी का पेड़, ढाक का पेड़, अगस्त्यवृक्ष
मूर्ख	निर्बुद्धि मनुष्य	माष=उड़द
मेध्य	पवित्र	खदिर, यव
मृग	हरिण	कस्तूरी
योजनगन्धा	कीटिका	कस्तूरी
रथिक	सारथि	तिनिशवृक्ष
रसना	जिह्वा	रास्ना
राजन्य	क्षत्रिय	क्षीरिका वृक्ष, खिरनी पेड़

रस	मधुरादिरस	पारा
राजपुत्र	राजकुमार	कलमी आम
राजपुत्री	राजकुमारी	कड़वी तुम्बी, रेणुका, जाई, मालती,
लम्बकर्ण	गदहा	अंकोठ वृक्ष, ढेरावृक्ष
व्यसन	शिकार आदि	सत्तू
वराह	सूअर	नागरमोथा, वाराहीकन्द
व्याल	सर्प	कृष्ण चित्रक
वरिष्ट	बड़ा	ताम्र लाल मिर्च
बक	बगुला	अगस्तिया वृक्ष
वर्त्तिक	वर्त्तिक पक्षी	अश्वखुर, घोड़ा बज
वनशूकरी	वन्यशूकरी	कौंछलता, कपिकच्छू
वायसी	मादा कौआ	कलम्बु नाम की औषधि
विप्र	ब्राह्मण	पीपल वृक्ष
वृश्चिक	बिच्छू	ओषधि भेद मैनफल वृक्ष
वृष	बैल	अडूसा, ऋषभकौषधि
वृषा कपायी	आदित्य पत्नी	जीवन्ती, शतावरी
व्याध्र	बाघ	रक्तैरण्ड और करञ्ज का वृक्ष
व्याघ्री	बाघिन	कटेरी
शश	खरगोश	बोल, लोध्र
शार्दूल	बाघ	चीता वृक्ष

शिव	शंकरजी	गुग्गुल, काल धत्तूरा, पारा
पुण्डरीक	श्वापद (बघेरा)	श्वेत कमल
शुक	तोता	शिरीषवृक्ष
शूकरी	सूअरी	वाराह क्रान्ता
शैलसुता	पार्वती	माल कांगनी
शैलूष	नट	विल्व वृक्ष
शैव	शिव का उपासक	धतूरा
श्वेत सर्प	धौला सर्प	वरुण वृक्ष
सर्प	साँप	नाग केशर
सिंह	शेर	रक्त सैंजने का वृक्ष
सीता	जानकीजी	मदिरा
सुरभि	गौ	सुवर्ण, गन्धक, चम्पक वृक्ष, जाति फल वृक्ष
सोम	चन्द्रमा	काँजी

जैन साहित्य में प्रयुक्त मांस मत्स्यादि शब्दों का वास्तविक अर्थ

मांस, मत्स्य, पुद्गल, मड, प्रासुक, आमिष और मद्य शब्दों का प्रयोग तथा स्पष्टीकरण।

उपर्युक्त मांसादि शब्द जैन सूत्रों तथा प्रकरण ग्रन्थों में आते रहते हैं। परन्तु इनमें से बहुत से शब्दों के मौलिक अर्थ ईसा की प्रथम शताब्दी तक भूले जा चुके थे। मात्र आमिष शब्द अपना मौलिक अर्थ ईसा की बारहवीं सदी तक टिकाये रहा था, परन्तु उसके बाद आमिष का वास्तविक अर्थ भी चला गया।

अब हम उक्त शब्द कहां कहां प्रयुक्त हुए हैं, उनका स्थल निर्देश पूर्ण वर्णन करेंगे।

मांस शब्द "आचारांग" "निशीथाध्ययन" "सूर्य्य प्रज्ञप्ति" "चुल्ल कप्प सुत्त" आदि सूत्रों में, आमिष शब्द "सम्बोध प्रकरण" "धर्म रत्न करण्डक" आदि में, पुद्गल शब्द "आचारांग" दशवैकालिक सूत्र" आदि में, मड शब्द "भगवती सूत्र में, मत्स्य शब्द "आचारांग" "निशीथाध्ययन" आदि में, और मद्य शब्द "वृहत्कल्प" भाष्य, "चुल्ल कप्प सुत्त" में आया है। इनमें से मांस आमिष शब्द घृत पक्व मिष्टान्न के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

मड प्रासुक शब्द अचित्त (निर्जीव) भोजन पानी के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। मत्स्य शब्द जैन सूत्रों में मद कारक कोद्रव आदि असार धान्यों के तन्दुल के अर्थ में आया है। मद्य शब्द सन्धान जनित सौवीर जल आदि पेय पानीय के अर्थ लिखा गया है।

अब हम उक्त शब्दों के सूत्र स्थलों को उद्धृत करके उनका वास्तविक अर्थ समझायेंगे। आचाराङ्ग सूत्र द्वितीयश्रुतस्कन्धे संखडि सूत्रम्—

१—"से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा मंसखलं वा मच्छ खलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा समेलं वा हीरमाणं वा पेहाए अंतरासे मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहु ओसा बहु उदया बहुउत्तिंगपणग, दग मट्टिय मक्कडा संताणया बहवे तत्थ समण माहण अतिहि किवण वणी मगा उवागया उवागमिस्सन्ति, तत्था इन्ना वित्ती पन्नस्स निक्खमण पवेसाए नो पन्नस्स वायण पुच्छण पटियट्टणाणुप्पेह धम्माणु ओग चिन्ताए से एवं नच्चा तहप्पगारं पुरे संखडि वा पच्छा संखडि वा संखड़ि संखडि परियाये नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ।

से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा मंशाइयं वा मच्छाइयं वा जाव हीरमाणं वा पेहाए अन्तरा से मग्गा अप्पाणाणा जाव संताणगा नो जत्थ बहवे समण० जाव उवागमिस्संति अप्पाइन्ना वित्ती-पन्नस्स निक्खमण पवेसाए पन्नस्स वायण पुच्छण परियट्टणाणुप्पेह धम्माणु ओगचिन्ताए सेवं नच्चा तहप्पगारं पुरे संखडिं वा अभि-धारिज्जा गमणाए ॥ सू० २२ ॥ चू० १ पिण्डे १ उ० ३ ॥

अर्थ—वह भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि अमुक स्थान मांसा-दिक (जिस भोज्य में मिठाई आदि गरिष्ठ खाद्य पहले खाया जाता हो वह भोज्य) अथवा मांसादिक (जिस भोज में पकाये हुए तन्दुल ओदनादि पहले खाने को परोसा जाता हो वह भोज) बडा भोज है, और अमुक मांसादि तथा मत्स्यादि तैयार करने के स्थान है । भले ही वह आहेण (विवाह के अनन्तर वधू का प्रवेश होने पर वर के घर दिया जाने वाला) भोज हो, पहेण (वधू के ले जाने

के समय उसके पितृ घर में दिया जाने वाला) भोज हो, हिंगोल (मृतक भोजन अथवा यज्ञादि की यात्रा के निमित्त किया जाने वाला) भोज हो, और सम्मेल (कौटुम्बिक अथवा गोष्ठी) भोज हो, और एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता देख कर, उस स्थान पर जाने के मार्ग बहुत प्राणाकुल बहुत बीजाकुल, बहुत हरिताकुल, बहुत ओषाकुल, बहुत जलार्द्र बहुत कीटि का घर वाले बहुत काई वाले, बहुत जल वाले, बहुत मिट्टी वाले और बहुत मकडी के जाले वाले हों, वहां बहुत श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण, याचक, आगये हों अथवा आने वाले हो वहां भरा हुआ मार्ग बुद्धिमान् के लिए निकलने प्रवेश करने योग्य नहीं होता। न वह स्थान बुद्धिमान् के लिए वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा के अनुयोग के लिए उपयुक्त होता है। वह इस प्रकार की परिस्थिति को जान कर उक्त प्रकार की पुरस्संस्कृति (जहां भोज हो चुका हो) पश्चात् संस्कृति (जहां भोज होने वाला हो) ऐसे संस्कृति स्थान में संस्कृति (मिष्ट पक्वान्न) लेने के लिए जाने का विचार न करे।

यदि भिक्षु अथवा भिक्षुणी यह जाने कि मांसादि अथवा मत्स्यादि संस्कृति अमुक स्थान पर है और उसके निर्माण स्थान अमुक है। वह संस्कृति आहेण आदि अमुक प्रकार की है और पकान्न अमुक स्थान से अमुक स्थान ले जाये जाते हैं। और वहाँ जाने के मार्ग अल्पप्राण यावत् अल्प मकड़ी जालों वाले हैं, वहाँ श्रमण ब्राह्मण आदि नहीं आये हैं, न अधिक आने वाले

हैं, मार्गों में अधिक भीड़ नहीं है, बुद्धिमान सुगमता से निष्क्रमण प्रवेश कर सकता है। उसके वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना अनुप्रेक्षा, और धर्मानुयोग में कोई बाधा नहीं आती, इस परिस्थिति को देखकर भिक्षु उस महाभोज के स्थान पर प्रणीत आहार लेने को जाने निश्चय कर सकता है।

२--"से भिक्खु वा २ से जं बहु अट्ठियं वा मंसं वा मच्छं वा बहु कंटयं अस्सि खलु० तहप्पगारं बहु अट्ठियं वा मंसं लाभे सन्ते से भिक्खू वा सियाणं परो बहु अट्ठियं एण मंसेण वा मच्छेण वा उपनिमंतिज्जा-०आउ संतो समणा। अभिकंखसि बहु अट्ठियं मंसं परिगाहित्तए २ एवप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म से पुव्वामेव आलोइज्जा--आउ सोभि वा २ नो खलु में कप्पई बहु० पडिगा० अभिकंखसि में दाउं जावइयं तावइयं पुग्गलं दला हि मा य अट्ठियाइं, से सेवं वयंतस्स परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि बहु परिभाइत्ता निहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं पडिग्गहं पर हत्थं सि पर पायंसिवा अफा० अने० से आहच्च पडिग्गाहिए सिया तं नो हित्ति वइज्जा नो अणिहित्ति वइज्जा से तमायाय एगंत मवक्क मिज्जा २ अहे आसमंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पपंडे जाव संताण ए मंसगं मच्छगं भुच्चा अट्ठियाइं कंकए गहाय से तमायाय एगंत मवक्कमिज्जा २ अहे झाम थंडिलंसि वा जाव पमज्जिय परट्ठविज्जा ॥

(सू० ५८) चू० १ पिण्डै० १ उ० १ प० ३५४

अर्थ—वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी ऐसा फल मेवा का गूदा जिसमें से सार भाग ले लिया गया है और अधिक मात्रा में

गुठली तथा बीज शेष रहे हैं, ऐसा फल मेवा आदि मिलता हो तो ग्रहण न करे। गृहस्थ के घर में भित्तार्थ गये हुए भिक्षुणी को उस प्रकार के अधिक बीज गुठली वाले फल में वा लेने के लिए गृहस्वामी अथवा उसकी स्त्री उसे निमन्त्रण करे कि हेआयुष्मन्! श्रमण! यह अधिक बीजवाला फल मेवा तुम चाहते हो क्या? इस प्रकार का शब्द सुनकर वह पहले ही सोच कर कहे, हे आयुष्मान्। अथवा हे बहन! मुझे नहीं कल्पता, बहु गुठली और कांटों वाला फल मेवा यदि तुम मुझे देना चाहती हो तो इसमें से गूदा और गर्भ रूप जो सार भाग है उसे दे दो, गुठली आदि नहीं यह कहते हुए भी गृहस्थ एकदम वह कचरे वाली चीज के बहुत विभाग करके पात्र में डाल दे तो वह पात्र यदि दूसरे के हाथ में अथवा दूसरे के पात्र में रक्खा हो तो उसे कहना यह अप्रासुक अनेषणीय है, हमें नहीं कल्पता, यदि वह पात्र सहसा अपने हाथ में ले लिया हो तो न भला कहे, न बुरा कहे, वह उसको लेकर एक तरफ हट कर किसी उद्यान में वृक्ष के नीचे उपाश्रय में जहां कीटी आदि सूक्ष्म जन्तुओं के अण्डे न हों तथा मकडी के जाले न हों वहां फल का गर्भ तथा मेवा का गूदा खाकर गुठलियां बीज आदि कूडा कर्कट लेकर एकान्त में जा जली भूमि आदि निर्जीव भूमि को झाड कर वहां रख दे।

निशीथाध्ययन नवमोद्देश के

३—"मंस खायाणा वा मच्छ खायाणा वा वहिया निग्गयाणं असणं वा पाणं वा खाइमं साइमं वा पडिग्गा हेइ"

अर्थ—मांस खाने वालों से तथा मत्स्य खाने वालों से बाहर निकले हुए लोगों के यहाँ से अशन (भोज्य) पान (पेय) खादिम (मेवा फल आदि) स्वादिम (चूर्ण पान तम्बोलादि) ग्रहण करे तो प्रायश्चित का भागी हो।

निशीथाध्ययने एकादशोद्देशे

४—"मंसाईयं वा मच्छाइयं वा मंस-खलं वा मच्छ-खलं वा आहेणं वा पहेणं वा सम्मेलं वा हिंगोलंवा अन्नयरं वा तहप्पगारं विरूप-रूप हीरमाणं पे हाप ताए आसा ए ताए पिवा साए तं रयणि अन्नत्थ उवाइणा वेइ"

अर्थ—मांसादिक, मत्स्यादिक, मांस निर्माण स्थान, मत्स्य निर्माण स्थान, आहेण (विवाह के अनन्तर वधू का प्रवेश होने पर वर के घर दिया जाने वाला) भोज, पहेण (वधू को लेजाने के समय उसके पितृघर में दिया जाने वाला) भोज, सम्मेल (कौटुम्बिक अथवा गोष्ठी) भोज, हिंगोल (मृतक भोजन अथवा पत्न आदि की यात्रा के निमित्त दिया जाने वाला) भोज, तथा नसे अतिरिक्त इसी प्रकार के विशेष भोजनारम्भों में तैयार किया हुआ खाद्य पक्वान्न इधर उधर ले जाया जाता देखकर उसे प्राप्त करने की आशा से उसे खाने की तृष्णा से शय्यातर का घर छोड़कर उस रात्रि को अन्यत्र स्थान में जाकर विताये तो प्रायश्चित्त का भागी हो।

दशवैकालिक पिण्डैषणाध्याये प्रथमोद्देश के

"बहु अट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं ।
अच्छियं तिंदुयं विल्लं, उच्छुखंडंव सिंबलिं ॥ ७३ ॥
अप्पे सिया भोअणज्झाए, बहूउज्झिय धम्मियं ।
द्दितियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥

अर्थ—बहु गुठली वाला फल, तथा मेवों का सार भाग, तथा पिष्ट से बनाये गये सकंटक मत्स्य, अस्थिक वृक्ष, तिन्द वृक्ष और बिल्व वृक्ष के फल तथा गन्ने का टुकडा शिम्बा (फली) इत्यादि भोजन जात जिसमें खाने योग्य पदार्थ कम होता है, और फेंकने योग्य अधिक उसको देती हुई गृह स्वामिनी को निषेध करे कि इस का खाद्य मुझे नहीं कल्पता ।

६—मडाइणं भंते नियंठे निरुद्ध भवे निरुद्ध भयपयञ्चे याव निट्ठियट्ठकरणिज्जे णो पुण रवि इत्थं तं हव्व मागच्छति हंता गोयमा ! मडाईणं नियंठे जाव णो पुणरवि इत्थत्तं हव्व माग-च्छति सेणं भंते । किंतिवत्तव्वं सिया मुत्तेति वत्तव्वं सिया पारग एत्ति वत्तव्वं सिया परंपरा गएत्ति वत्त० सिद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे अंत कडे सव्व दुक्खप्प हीणेत्ति वत्तव्वं सिया, सेवं भंते । सेवं भंतेत्ति ।

अर्थ—हे भगवन् ! मडादी (मृतादी मृतभक्षक) निर्ग्रन्थ, जिसने भव प्रपञ्च को रोका है, जिसने अपना कार्य पूरा कर दिया है, वह फिर इस संसार में नहीं आता ? हाँ गौतम ! मृतादी निग्रन्थ फिर यहाँ नहीं आता भगवन् ! उसको क्या कहना

अर्थ—वर्षा निवास रहे हुए निर्ग्रंथ निर्ग्रंथिनियों को जो हृष्ट पुष्ट शरीर निरोग और बलिष्ठ शरीर वाले हैं, ये नवरस विकृतियां बार बार लेनी नहीं कल्पती है, वे रस विकृतियां ये हैं, क्षीर (दूध) दधि (दही) नवनीत (मक्खन) सर्पिष (घी) तैल, गुड, मधु (शहद) मद्य (सन्धान जल) मांस (पक्वान्न)

सूर्य्यप्रज्ञप्ति सूत्र में नक्षत्र भोजन

किस नक्षत्र के दिन किस प्रकार का भोजन करके जाने से कार्य सिद्ध होता है, इस बात को लेकर अट्ठाइस नक्षत्रों के भोजन बताये गये हैं। जो नीचे उद्धृत करते हैं—

८—"ता कहं ते भोयणा आहिताति वदेज्जा १ ता ए एसिणं अट्ठाविसाए णं णक्खत्ताणं"—

१—कत्तियाहिं दधिणा भोच्चा कज्जं साधियंति।

२—रोहिणीहिं ससमसं भोच्चा कज्ज साधेंति।

३—संठाणाहिं मिगमंसं भोच्चा कज्जं साधिंति।

४—अद्दाहिं णवणीतेन भोच्चा कज्ज साधिंति।

५—पुणव्वसुनाऽथ घतेण भोच्चा कज्जं साधिंति।

६—पुस्सेणं खीरेण भोच्चा कज्जं साधिंति।

७—अस्सेसाए दीवगमंसं भोच्चा कज्जं साधेंति।

८—महाहिं कसोतिं भोच्चा कज्जं साधेंति।

९—पुव्वाहिं फग्गुणीहिं मेदकमंसं भोच्चा कज्जं साधेंत्ति।

१०—उत्तराहिं फग्गुणीहिं णक्खीमंसं भोच्चा कज्जं साधेंति।

११—हत्थेण वत्थाणीएण भोच्चा कज्जं साधेंति ।

१२—चित्ताहिं मुग्ग सूवेणं भोच्चा कज्जं साधेंति ।

१३—सादिणा फलाइं भोच्चा कज्जं साधेंति ।

१४—विसाखाहिं आसित्तियाओ भोच्चा कज्जं साधेंति ।

१५—अणुराहाहिं मिस्सा कूरं भोच्चा कज्जं साधेंति ।

१६—जेट्ठाहिं लट्ठिएणं भोच्चा कज्जं साधेंति ।

१७—मूल

१८—पुव्वाहिं आसाढाहिं आमलगसरीरे भोच्चा कज्जं साधेंति ।

१९—उत्तराहिं आसाढाहिं बलेहिं भोच्चा कज्जं साधेंति ।

२०—अभिइणा पुप्फेहिं भोच्चा कज्जं साधेंति ।

२१—सवणेणं खीरेणं भोच्चा कज्जं साधेंति ।

२२—धनिष्ठा ।

२३—सयभिसयाए तुवराउ भोच्चा कज्जं साधेंति ।

२४—पुव्वाहिं पुट्ठवयाहिं कारिल्लएहिं भुच्चा कज्जं साधेंति ।

२५—उत्तराहिं पुट्ठवताहिं वराहमंसं भोच्चा कज्जं साधेंति ।

२६—रेवतीहिं जलयरमंसं भोच्चा कज्जं साधेंति ।

२७—अस्सिणीहिं तित्तिरमंसं भोच्चा कज्जं साधेंति ।

२८—भरणीहिं तलं तन्दुलकं भोच्चा कज्जं साधेंति । (सु० ५१)

वे नक्षत्र भोजन किस प्रकार कहे हैं, बताना चाहिए । इन अट्ठाइस नक्षत्रों के भोजन ये कहे हैं—

१—कृत्तिका नक्षत्र के दिन दही से भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं ।

२—रोहिणी नक्षत्र के दिन शशमांस अर्थात् लोध्र से बनाया हुआ पक्वान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

३—मृगशीर्ष नक्षत्र को कस्तूरी मिला पक्वान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

४—आर्द्रा नक्षत्र को मक्खन के साथ भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं।

५—पुनर्वसु के दिन घृत के साथ खाना खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

६—पुष्प के दिन दूध के साथ भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं।

७—अश्लेषा के दिन केशर मिश्रित पक्वान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

८—मघा के दिन कसोंजी मिश्रित खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

९—पूर्वा फाल्गुनी के दिन जीवक नामक शाक मिश्रित पक्वान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

१०—उत्तरा फाल्गुनी के दिन नखी नामक सुगन्धित द्रव्य मिश्रित पक्वान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

११—हस्त नक्षत्र के दिन अजमोदा को चबा कर भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं।

१२—चित्रा के दिन मूंग की दाल के साथ भोजन कर कार्य सिद्ध करते हैं।

१३—स्वाति को फल खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

१४—विशाखा को खाजे खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

१५—अनुराधा को खीचड़ी खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

१६—ज्येष्ठा को मधुयष्टि चबा कर भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं

१७—(मूल) इसका भोजन सूत्र में नहीं मिलता)

१८—पूर्वाषाढा के दिन दो आंवले खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

१९—उत्तराषाढा को बला के बीजों को चबा कर भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं।

२०—अभिजित् को गुलकन्द के साथ खाना खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

२१—श्रवण को दूध के साथ खाना खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

२२—(धनिष्ठा का भोजन सूत्र में नहीं मिलता है)

२३—शतभिषा के दिन तुम्बर को खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

२४ - पूर्वा भाद्रपदा के दिन करेलों के साथ भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं।

२५—उत्तरा भाद्रपदा को सकर कन्द का पक्वान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

२६—रेवती के दिन जलकर नामक वृक्ष के सार से मिश्रित पक्वान्न खाकर कार्यसिद्ध करते हैं।

२७—अश्विनी के दिन अश्वगन्धा चूर्ण डालकर बनाया हुआ मिष्ठान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

२८—भरणी को तिल के दाने डालकर बनाया हुआ खाना खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

मार्जारकृत कुक्कुट मांस क्या था ?

भगवान् महावीर ने अपनी बीमारी की अन्तिम हालत में अपने शिष्य सिंहमुनि को मेंढिय गाम निवासिनी रेवती नामक

गाथा पतिनी के घर भेजकर वहाँ से जो औषधीय खाद्य मंगवाया था, उसका भगवती-सूत्र के गोशालकशतक में सविस्तर वर्णन किया गया है। जिसका आगे पीछे का सम्बन्ध छोड़कर अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी विचले निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किये हैं, और उसके अर्थ में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि महावीर स्वामी भी मांस खाते थे। धर्मानन्द द्वारा उद्धृत पाठ और उसका अर्थ नीचे दिया जाता है—

"तं गच्छहणं तुमं सीहा मेंढिय गामं नगरं रेवतीए गाहा पतिणीए ममं अट्ठाए दुवे कवोय सरीरा उपक्खडिया तेहिनो अट्ठो। अत्थि से अन्ने परियासिए मज्जार कडए कुक्कुड मंसए तं आहाराहि एएणं अट्ठो।"

उपर्युक्त उद्धरण का धर्मानन्द कौशाम्बी नीचे लिखा अर्थ बताते हैं।

उस समय महावीर स्वामी ने सिंहनामक अपने शिष्य से कहा "तुम मेंढिय गाँव में रेवती नामक स्त्री के पास जाओ। उसने मेरे लिए दो कबूतर पका कर रक्खे हैं। वे मुझे नहीं चाहिए। तुम उससे कहना कि कल बिल्ली द्वारा मारी गयी मुर्गी का मांस तुम ने बनाया है, उतना दे दो"

उक्त अर्थ श्री कौशाम्बी ने अपनी तरफ से नहीं पर श्री गोपालदास जीवा भाई पटेल के कथनानुसार लिखा है। श्री गोपालदास और अध्यापक कौशाम्बी ने भगवान् महावीर की

तात्कालिक बीमारी का पूरा वर्णन पढ लिया होता तो हमें विश्वास है, कि वे भगवान् महावीर को मांस खिलाने को तैयार नहीं होते। इनता तो कौशाम्बी स्वयं स्वीकार करते हैं कि उस समय महावीर स्वामी को खून के दस्त लगते थे। यदि अध्यापक कौशाम्बी में समन्वय कारक बुद्धि होती तो इस प्रकार की शारीरिक बीमारी में महावीर पर मांस भक्षण का आरोप लगांने के पहले हजार बार विचार करते। भगवान् महावीर की तात्कालिक हालत कैसी थी इसका कुछ विस्तृत वर्णन देकर हम इस घटना का विशेष वर्ण स्फोट करेंगे। भगवान् की बीमारी के सम्बन्ध में सूत्रकार लिखते हैं।

"तेणं कालेणं २ मेंढियगामे नामं नगरे होत्था वन्नओ तस्सणं मेंढियगामस्स नगरस्स बहिया उत्तर पुरच्छिमें दिसि भाए एत्थाणं साल कोट्टए नामं चेइए होत्था वन्नओ जाव पुढवि सिला पट्टओ तस्सणं सालकोट्टगस्स णं चेइयस्स अदूर सामंते एत्थेणं महेगे भालुया कच्छए यावि होत्था किण्हे किण्हो मासे जाव निकरम्ब भूए पत्तिए पुप्फिए फलिए, हरियगरे रिज्झमाणे सिरिए अतीव २ उवसोभेमाणे चिट्ठति, तत्थणं मेंढियगामे नगरे रेवती नाम गाहा-वइणी परिवसति अड्डा जाव अपरिभूया।

तएणं समणे भगवं महावीरे अन्नया कदायि पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे जाव जेणेव मेंढियगामे नगरे जेणेव साल कोट्टए चेइए जाव परिसा पडिगया। त एणं समणस्सभगवओ महावीरस्स सरीरगंसी विपुले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले जाव दुरहियासे पित्त-

ज्जर परिगय सरीरे दाह वक्कंतीए यावि विहरति, अवियाइं लोहिय वञ्चाइंपि पकरेइ, चाउवन्नं वागरेति एवं खलु समणे भग० महा० गोशालस्स मक्खलिपुत्तस्स तवेणं ते एणं अन्ना इट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जर परिगय सरीरे दाह वक्कंतिए छउ मत्थे चेव कालं करेस्सति ।

तेणं कालेणं तेणं समयेणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी सीहे नामं अणगारे पगइ भद्दए जाव विणीए मालुया कच्छगस्स अदूर सामंते छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं २ तवो कम्मेणं उड्ढं बाहा जाव विहरति, तएणं तस्स सीहस्स अणगारस्सज्झाणं तरियाएवट्टमाणस्स अयमेयारूपे जाव समुप्प जित्था एवं खलु ममं धम्मारियस्स धम्मोवदेसगस्य समणस्स भगवओ महावीर सरीरगं-सिविउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले जाव चउमत्थे चैव कालं करिस्सति । वदिस्संति यणं अन्नतित्थिया छउ मत्थे चेव काल गए, इमेणं एयारूवेणं महामणो माणसि एणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे आयावण भूमिओ पच्चो रूभइ आया० २ जेणेव मालुया कच्छए तेणेवज्जवा मालुया कच्छगं अंतों अणुपविसइ मालुया० २ मह्या २ सद्देणं कहु कुहुस्स परुन्ने ।

अज्जोत्ति समणे भगवं महावीरे समणे निग्गन्थे आमंतेत्ति आ० २ एवं वयासी एवं खलु अज्जो ममं अंतेवासी सीहे नामं अणगारे पगइ भद्दए ते चेव सव्वं भाणियव्वं जाव परुन्ने तं गच्छ-हणं अज्जो २ तुब्भे सीहं अणगारं सद्दह,तएणं ते समणा निग्थंथा समणेणं भगवया महावीरेण एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं । मह्या

वीरं वं० नं० २ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ साल कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमंति सा० २ जेणेव मालुया कच्छए जेणेव सीहे अणगारे तेणेव उवाच्छंति २ सीहं अणगारं एवं वयासी सीहा। धम्मारिया सद्दावेंति तएणं से सीए अणगारे समणेहिं निग्गं थेहि सर्द्धि मालुया कच्छगा ओ पडिनिक्खमति प० २ जेणेव साल कोट्ठए चेइए जेणेव सीहे अणगारे समणे भगवं महावीर तेणेव उवा० समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आ० २ जाव पज्जुवासति।

सीहादि समणे भगवं महावीरे सीहं अणगारं एवं वयासी से नूणं ते सीहा! झाणं तरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे जाव परून्ने से नूणं ते सीहा। अट्ठे समट्ठे हंता अत्थि तं नो खलु अहं सीहा। गोसालस्स मक्खलि पुत्तस्स तवेणं तेएणं अन्ना इट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं जाव कालं करेस्सं अहन्नं अन्नाइं अद्ध सोलस वासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि। तं गच्छह णं तुमं सीहा! मेंढिय गामं नगरं रेवतीए गाहावतिणीए गिहे तत्थ णं रेवतीए गाहा-वतिणीए ममं अट्टाए दुवे कवोय सरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने परियासीए मज्जार कडए कुक्कुट मंसए तमा हाराहि एएणं अट्ठो।

त एणं सीहे अणकारे समणे णं भगवया महावीरेण एवं वुत्ते समाणे हट्ठ तुट्ठ जाव हियए समणं भगवं महावीरं वं० न० वं० न० अतुरिय मच वल मसं भंतं मुह पोत्तियं पडिलेहेत्ति मु० २ जहा गोयम सामी जाव जेणेव समणे भ० म० तेणेव उवा० समणं

भगवं महावीरं वंद० नम० समणस्स भ० महा० अंतियाओ साल कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमति प० २ अतुरिय जाव जणेव मेंढिय गामे नगरे तेणेव उवा० २ मेंढिय गामं नगरं मज्झं मज्झेणं जेणेव रेवतीए गाहा वइणीए गिहं अणुपविट्ठे त एणं सा रेवती गाहावतिणी सीहं अणगारं एज्जमाणं पासति पा० २ हट्ठ तुट्ठ खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेइ २ सीहं अणगारं सत्तट्ठ पयाइं अणुगच्छइ स० २ तिक्खुत्तो आ० वंदति न० २ एवं वयासी संदिसंतु णं देवाणुप्पिया। किमागणप्पयोयणं? त एणं से सीहे अणगारे रेवतिं गाहावइणीं एवं वयासी—एवं खलु तुमे देवाणुपिये। समण भग० महा० अट्ठाए दुवे कवोय सरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठे अत्थि ते अन्न परियासिए मज्जार कडए कुक्कुड मंसए एयमाहराहि, तेणं अट्ठो, त एणं सा रेवती गाहावइणी सीहं अणगारं एवं वयासी के सणं सीहा से णाणी वा तवस्सी वा जेणं तव एस अट्ठे मम ताव रहस्स कडे हव्व मक्खाए जओणं तुमं जाणासि २ एवं जहा खंदए जाव जओणं अहं जाणामि त एणं सा रेवती गाहावतिणी सीहस्स अणगारस्स अंतियं एय मट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठ तुट्ठा जेणेव भत्तघरे तेणेव उवा० २ पत्तगं मो एति पत्तगं मो एत्ता जेणेव सीहे अणगारे तेणेव उवा० २ सीहस्स अणगारस्स पडिग्गहगंसि तं सव्वं संमं निस्सिरति, त एणं तीए रेवतीए गाहावतिणीए तेणं दव्व सुद्धेण जाव दाणेण सीहे अणगारे पडिलाभिए समाणे देवाउए निवद्धे जहा बिजयस्स जाव जम्म जीविय फले रेवतीए गाहावतिणीए गिहाओ पडिनिक्खमति० २ मेंढिय गामं नगरं मज्झं मज्झेणं निगच्छति निगच्छ इत्ता जहा गोयम सामी जाव भत्त पाणं पडि-

दंसेति० २ समणस्स भगवओ महावीरस्स पाणिसि तं सव्वं संम निस्सरति त एणं समणे भगवं महावीरे अमुच्छिए जाव अणज्झोव वन्ने बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेण तमाहारं सरीर कोट्टगंसि पक्खिवति, त एण समणस्स भगवओ महा० तमाहारं आहारियस्स समाणस्स से विपुले रोगायके खिप्पामेव उव समं पत्ते हट्ठे जाए आरोगे वल्दिय सरीरे तुट्ठा समणा तुट्ठाओ समणीओ तुट्टा सावयां तुट्ठा ओ सावियाओ तुट्ठा देवा तुट्ठाओ देवीओ—स देव मणुया-सुरे लोए तुट्ठे हट्ठे जाए समणे भगवं महावीरे हट्ठ० २ ॥५५१॥

"भगवति सत" १५ पृ० ५५८

अर्थः—उस काल समय में मेंढिय गाम नामक नगर था। वर्णन—उस मेंढिय गाम नगर के बाहर ईशान दिश विभाग में साल कोष्ठक नामक चैत्य था, "वर्णन"। जहाँ पर विशाल पृथ्वी शिलापट्ट खुला आया हुआ था। उस शाल कोष्ठक नामक चैत्य से कुछ दूरी पर एक बड़ा मालुका कच्छ नामक निम्न भूमि भाग आया हुआ था। जो वृक्ष लताओं से सघन श्याम और श्याम कान्ति वाला पत्रों, पुष्पों, फलों से समृद्ध और हरियाली से भरा हुआ अतिशय सुशोभित वह कच्छ था।

उस मेंढिय गाम में रेवती नाम की गाथापतिनी रहती थी। वह बड़ी धनाढ्य थी। उसका नाम बड़े मनुष्यों में गिना जाता था। उस समय श्रमण भगवान् महावीर विहार क्रम से विचरते हुए मेंढिय गाम के बाहर शाल कोष्ठक चैत्य में पधारे, वहां नगर

वासियों की परिषद् मिली। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया और परिषद् अपने अपने स्थान की तरफ लौटी।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर के शरीर में बड़ा कष्टकर रोग उत्पन्न हुआ था, जो तीव्र और असह्य हो गया था। उनका शरीर पित्त-ज्वर से व्याप्त था और सारे शरीर में जलन हो रही थी। यही नहीं किन्तु उनको रक्तातिसार तक हो गया था, बार बार खून के दस्त लगते थे, भगवान् की इस बीमारी को देख कर चारों वर्ण के लोग कहते थे (छः महीने पहले श्रावस्ती के उद्यान में) मक्खलि गोशालक ने भगवान् पर जो अपनी तेजोलेश्या छोडी थी, उससे व्याप्त होकर महावीर का शरीर पित्तज्वर से व्याप्त और दाह से आक्रान्त हो गया है, क्या ? यह छः महीने के भीतर छद्मस्थ ही काल करेंगे ? उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य अनगार सिंह मालुका कच्छ से कुछ दूर निरन्तर दो दो उपवास करते हुए हाथ ऊँचे और दृष्टि सूर्य्य के सम्मुख रख कर आतापना कर रहे थे, तब ध्यान में लीन सिंह अनगार के कानों में महावीर के रोग से उनके मृत्यु की सम्भावना करने वाली रास्ते चलते लोगों की बातें पड़ी, उनका ध्यान विचलित हो गया वे लोगों की बातों का पुनरुच्चारण करते हुए ध्यान भूमि से नीचे उतर कर मालुका कच्छ के निम्न सघन प्रदेश में पहुंचे और अपने धर्माचार्य के अनिष्ट की चिन्ता से वे जोरों से रो पड़े।

भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को सम्बोधन करते हुए कहा आर्यों ! मेरा शिष्य सिंह अनगार लोगों की बातें सुन कर मेरे

अनिष्ट की चिन्ता से मालुका कच्छ के भीतर रो रहा है तुम जाओ और उसे यहां ले आओ।

भगवान् की आज्ञा पाकर निर्ग्रन्थ श्रमण वन्दन नमस्कार कर के मालुका कच्छ की तरफ रवाना हुए और सिंह अनगार के निकट जाकर बोले, हे सिंह ! चलो तुम्हें धर्माचार्य बुलाते हैं, तब सिंह आये हुए श्रमणों के साथ भगवान् महावीर के पास पहुँचा और वन्दन कर खड़ा हुआ। सिंह को सम्बोधन कर महावीर ने कहा, सिंह ! क्या तू मेरे मरण की अशंका से रो पड़ा ? सिंह ने कहा, हां भगवन् ! महावीर बोले सिंह ! मैं छः मास के भीतर नहीं मरूंगा, मैं अभी साढ़े पन्द्रह वर्ष तक सुख पूर्वक जिन रूप में विचरूंगा। इस वास्ते हे सिंह ! तू मेंढिका गांव में रेवती गाथापतिनी के घर जा। उसने मेरे लिये दो कूष्माण्ड फल पका कर तैयार किये हैं, उनकी तो आवश्यकता नहीं है पर उसके यहां कुछ दिन पहले अगस्त्य की शिम्बाओं के मावे में सुनिषण्णक ([1]कुक्कुट) वनस्पति के कोमल पत्तों से तैयार किया, घन मिला कर तैयार किया हुआ औषधीय पाक पड़ा हुआ है-उस की आवश्यकता है, सो ले आ।

टिप्पणी—१. कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी कुक्कुट शब्द का प्रयोग वनस्पति के ही अर्थ में हुआ है, देखिए—

"कुक्कुट कोशातकी शतावरी मूलयुक्त माहारयमाणो मासेन गौरो भवति"

अर्थ—सुनिषण्णक कुक्कुट कोशातकी (तुरई) शतावरी इनके मूलों के साथ एक मास तक भोजन करने वाला मनुष्य गौर वर्ण हो जाता है।

भगवान् का आदेश पाकर सिंह बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और भगवान् को वन्दन करके अपने स्थान गया और मुखवस्त्रिका तथा पात्र की प्रतिलेखना कर गौतम स्वामी की तरह फिर भगवान् के पास आ उनको वन्दन कर आज्ञा ले कर मेंढिय ग्राम की तरफ चला। मेंढियग्राम के मध्य में होकर रेवती के घर की तरफ गया। जब सिंह ने रेवती के घर द्वार में प्रवेश किया तो वह अपने आसन से उठी और साथ ही आठ कदम सामने जाकर विधि पूर्वक मुनि को वन्दन किया और बोली कहिए महाभाग! किस कारण से पधारे? रेवती का प्रश्न सुनकर अनगार सिंह बोले गाथापतिनि! तुमने भगवान् महावीर के लिये दो कूष्माण्ड फल-घृत-पक्व कर तैयार किये हैं उनकी तो आवश्यकता नहीं है, परन्तु अगस्त्य फली का मावा तथा सुनिषण्णक (कुक्कुट) वनस्पति के घन के योग से तैयार किया हुआ पाक जो तुम्हारे घर में पहले से विद्यमान है, उसकी आवश्यकता है। सिंह की बात सुनकर रेवती बोली, हे सिंह! ऐसा तुमको कौन ज्ञानी और तपस्वी मिला जिससे मेरी रहस्य भरी बातें तुमने जान कर कह दीं। इस पर सिंह ने कहा, मैं भगवान् महावीर के कहने से इन बातों को जानता हूँ। यह सुन कर रेवती बहुत हर्षित हुई और रसोई घर में जाकर सिंह का पात्र नीचे रखवाया और अन्दर से वह खाद्य पाक लाकर सब पात्र में डाल दिया, रेवती ने इस शुद्ध द्रव्य का शुभ भाव से दान देकर देव गति का आयुर्बन्ध किया।

बाद में सिंह रेवती के घर से निकल मेंढिय गाम के बीच में

होकर साल कोष्ठ, चैत्य में पहुँचे और भगवान् के पास जाकर गोचर चर्या की आलोचना कर आहार भगवान् को बताया और उनके दोनों हाथों में वह संपूर्ण खाद्य रख दिया भगवान् ने अमूर्च्छित भाव से आकांक्षा रहित होकर वह आहार मुख द्वारा उदर कोष्ठक में डाल दिया।

उस आहार के खाने से भगवान् महावीर के शरीर में जो पित्त ज्वरादि रोगआतंक थे, वे बहुत जल्दी शान्त हो गये और भगवान् का शरीर धीरे धीरे पूर्ववत् बलिष्ठ हो गया। इस घटना से श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ बहुत हर्षित हुआ। यही नहीं, पर महावीर की निरोगता के समाचारों को सुन कर देव-असुर-स्वरूप त्रैलोक्य भी सन्तुष्ट हो गया।

१०. आमिष शब्द सम्बोध प्रकरण में वर्णित चतुर्विध पूजा के द्वितीय भेद के रूप में उल्लिखित हुआ है। जो नीचे दिया जाता है—

पुप्फामिस थुइ पडिवत्ति भेएहिं भासिया चउहा।
जह सत्तीए कुज्जा पूया पूयप्प सब्भावा ॥१६०॥
(सम्बोध प्रकरण)

अर्थ—पुष्प, आमिष (नैवेद्य) स्तुति और प्रतिपत्ति इन भेदों से पूजा चार प्रकार की कही है, जो शक्ति के अनुरूप पूज्य पर प्रकृष्ट सद्भाव लाकर करनी चाहिए।

धर्मरत्नकरण्डक में त्रिविध पूजा में आमिष पूजा द्वितीय कही है। जो नीचे श्लोक से विदित होगी—

चारु पुष्पमिष स्तोत्रैस्त्रिविधा जिनपूजना।
पुष्पगन्धादिभिश्चान्यैरष्टधेयं निगद्यते ॥१॥
(वर्धमान सूरिकृत धर्मरत्नकरण्डके)

अर्थ—सुन्दर पुष्प बढिया आमिष (नैवेद्य) और अर्थगम्भीर स्तोत्र इन तीन से त्रिविध पूजा की जाती है।

अन्य आचार्य पुष्प, गन्ध, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, फल और जल इन अष्ट द्रव्यों से अष्ट प्रकारी पूजा कहते हैं।

११. चुल्लकप्प में नव रस-विकृतियों के नाम गिनाते समय सूत्रकार ने "मज्जं मंसं" इस प्रकार आठवां मद्य और नवां मांस लिखा है। हमने मांस का विवेचन उस सूत्र खण्ड के निरूपण में कर दिया है। मद्य का विवेचन आगे के लिये रक्खा था, जो अब किया जाता है।

सूत्रकार के समय से पहले ही जैन श्रमणों के पेय जल में तुषोदक, यवोदक, सौवीर जल आदि का समावेश होता था। ये जल बहुधा प्रत्येक गृहस्थ के घरों में तैयार मिलते थे और जैन श्रमणों तथा अन्य भिक्षुओं को गृहस्थ लोग भक्तिपूर्वक देते थे। जल, प्रायः अन्न तथा पिष्ट आदि के सन्धान से बनाये जाते थे। बीमारी भोग कर उठे हुए मनुष्यों को ये जल उनकी शक्ति बढाने तथा उनका स्वास्थ्य ठीक करने के प्रयोजन से दिये जाते थे।

स्वस्थ मनुष्य भी निर्दिष्ट मात्रा में लिया करते थे। जिससे उनकी उदराग्नि व्यवस्थित बनी रहती थी।

तुषोदक आदि की बनावट निघण्टु ग्रन्थों में निम्न प्रकार की उपलब्ध होती है।

"शालिग्राम निघण्टु भूषण" में सौवीर यवोदकादि जल—

सौवीरं सुवीराम्लं यवोत्थं गोधूम-सम्भवम्।
यवाम्लजं तुषोत्थं, तुषोदकश्चापि कीर्तितम्॥

अर्थ—सौवीर, सुवीराम्ल ये दोनों पर्याय नाम हैं और गेहूँ तथा यवों से बनने वाले जल को यवोदक कहते हैं, गेहूँ तथा यव के छोकर से बनने वाले जल को तुषोदक कहते हैं।

भावप्रकाश निघण्टुकार इस विषय में कहते हैं—

सौवीरं तु यवैरामैः पक्वैर्वा निष्तुषैः कृतम्।
गोधूमैरपि सौवीर, माचार्याः केचिदूचिरे ॥८॥
सौवीरं तु ग्रहण्यर्शः कफघ्नं भेदि दीपनम्।
उदावर्ताङ्ग मर्दास्थि, शूलानाहेषु शस्यते ॥९॥
(भा० प्र० नि०)

अर्थ—निष्तुष किये हुए कच्चे अथवा भूने हुए यवों के सन्धान से सौवीर बनाया जाता है, किन्हीं आचार्यों ने गेहुंओं से भी सौवीराम्ल बनाने का कहा है।

सौवीर जल संग्रहणी, अर्श और कफ का नाश करने वाला, बन्द कोष्ठ को हटाने वाला और उदराग्नि दीपक है, उदावर्त्त,-अङ्गमर्द, अस्थिशूल, आनाह-अफरा के रोगियों के लिये विशेष प्रशंसनीय है।

ऊपर के वर्णन में सौवीर, यवोदक आदि के उपादान बताये गये हैं, परन्तु उसकी निर्माण विधि काञ्जिक निर्माण विधि के सदृश होने से पृथक् नहीं लिखी कई, सभी अम्ल जलों के निर्माण का प्रकार एकसा होता है, मात्र उपादानों के भेद से भिन्न-भिन्न नाम धारण करते हैं। अम्ल जलों के निर्माण का प्रकार नीचे लिखे अनुसार मिलता है।

नूतनं मृण्मयं कुम्भं, कटुतैलेन लेपयेत्।
निर्मलं च जलं तस्मिन् राजिकाजाजिसैंधवम्॥
हिंगु विश्वा निशा चैव, ओदनं वंशपल्लवः।
ओदनस्य कुलित्थानां, जलं वटकखाण्डवम्॥
सर्वं तस्मिन्निधायाऽथ, मुद्रां दत्वा दिनत्रयम्।
रक्षयित्वा ततो वस्त्रे, गालितं काञ्जिकं मतम्॥

(शालिग्राम निघण्टुभूषण)

अर्थ—मिट्टी का कोरा घड़ा लेकर उसमें सरसों का तेल चौपड़ना फिर उसमें निर्मल ठंडा जल भर के राई, श्वेत जीरा, सैन्धा-नमक, हिंगु, सौंठ, हल्दी, चावल, बांस के हरे पत्ते, भात और कुलत्थ का अवस्रावण जल, वटक खाण्डव ये सब उस घड़े में

डालकर उसको मुद्रा देकर तीन दिन तक रखना फिर मुद्रा तोड कर वस्त्र से जल छान लेना, बस, यही काञ्जिक है।

अगर सौवीर बनाना हो तो राई,* जीरा, सैन्धानमक, हिंग, सोंठ, और हल्दी कुम्भ के जल में डाल कर निस्तुष कच्चे अगर भूने यव डालकर उस घड़े के मुद्रा दे देना। तीन दिन कुम्भ को मुद्रित रखकर चौथे दिन मुद्रा हटाकर जल वस्त्र से छान लेना, इस प्रकार सौवीर जल तैयार होता है।

यवोदक तुषोदक आदि सन्धान जल इसी प्रकार अपने अपने उपादानों से तैयार किये जाते थे।

बृहत्कल्प भाष्य में सात प्रकार के सौवीराम्लों का निरूपण नीचे की गाथाओं से स्पष्ट होंगे —

अहाकम्मिय सघर पासंड मीसए जाव कीय पूई अत्तकडे।
एक्केकम्मिय सत्तउ कए य काराविए चेव ॥१७५३॥
(बृहत्कल्पभाष्य)

अर्थ—केवल जैन साधुओं के लिये बनाई हुई १ अपने और साधुओं के निमित्त से बनाई गई २, गृहस्थ और अन्य तीर्थिक साधुओं के लिये बनाई हुई ३, गृहस्थ आगन्तुक अतिथि और पाखण्डकों के लिये बनाई हुई ४, साधुओं के लिये खरीदी हुई ५, पूति कर्म सौवीरिणी ६, और गृहस्थ ने अपने घर के लिये बनवा कर रक्खी हुई सौवीरिणी ७।

उक्त प्रकार की सात सौवीरिणियों में से सप्तम प्रकार की सौ-वीरिणी में से निकाला हुआ सौवीर जल जैन श्रमण ग्रहण कर सकता था। अन्य प्रकार की सौवीरिणी में से नहीं।

मूलभरणं तु वीया ताहि छम्मासा न कप्पए जाव।
तिन्नि दिणा कड्ढिएण चाउल उदये तहा आमे॥१७५७

अर्थ—जो सौवीरिणी अचित्त है, उसमें साधु के निमित्त राई, जीरक आदि डाल दिया जाय तो उस सौवीरिणी में से छः महीने तक साधु को सौवीर जल लेना नहीं कल्पता, अगर उस आधा कर्मिक सौवीराम्ल को निकाल कर उसी कुम्भ में चावल का धावन अथवा अवस्त्रावण डाला जाय तो वह भी पूति कर्म होने के कारण से तीन दिन तक साधु ले नहीं सकता, उसके उपरान्त वह साधु के लेने योग्य बनता है।

जं जीव जुयं भरणं. तदफासुयं फासुयं तु तदभावा।
तं पि यहु होइ कम्मं, न केवलं जीव घाएण ॥१७६४॥

अर्थ—जो राई आदि सचित्त बीज डाला हुआ भरण (वर्त्तन) वह अप्रासुक होता है, पर उसके अभाव में प्रासुक भी हो जाता है, वह केवल जीवघात से अग्राह्य नहीं होता, किन्तु आधाकर्मिक होने के कारण वह छः मास तक अग्राह्य होता है।

समणे घर पासंडे जावंतिय अत्तणोय मुत्तूणं।
छट्ठो नत्थि विकप्पो उस्सि चणमो जयट्ठाए ॥१७६५॥

अर्थ—सौवीरिणी से अमुक प्रमाण में सौवीराम्ल छान कर जुदा लेना इसका नाम उत्सिञ्चन है, उत्सिञ्चन, श्रमण के लिये १, घर श्रमण के लिये २, घर अन्य दर्शनियों के लिये ३, घर जो आये उन सब के लिये ४, और केवल अपने लिये ५, इस प्रकार उत्सिञ्चन पांच प्रकार से होता है, छठा कोई भी विकल्प नहीं है कि जिसके लिये उत्सिञ्चन किया जाय। इन पांच प्रकार के उत्सि-ञ्चनों में से केवल अपने लिये किये गये उत्सिञ्चन में से जैन श्रमण सौवीर जल ले सकता है। अन्य उत्सिञ्चनों में से नहीं।

पिट्ठेण सुहा होती सोवीरं पिट्ठवज्जियं जाणे।

टीका—व्रीह्यादिसम्बन्धिना पिष्टेन यद् विकटं भवति। सा सुरा, यत्तु पिष्टवर्जितं द्राक्षाखर्जूरादिद्रव्यैर्निष्पद्यते तन्मद्यं सौवीर विकटं जानीयात्।

अर्थ—चावल आदि के पिष्ट के सन्धान से जो मादक पानी बनता है उसको सुरा कहते है और द्राक्षा खजूर आदि का संधान कर जो मादक जल बनाया जाता है उसका नाम सौवीर विकट है

ऊपर सुरा और सौवीर विकट के जो लक्षण बताये गये हैं। वे दोनों श्रमणों के लिये अभक्ष्य हैं और सौवीर जल के भ्रम से सौवीर विकट को लेने वाले श्रमण को प्रायश्चित्त लेने का विधान किया गया है। सामान्य सौवीर जल यव तथा गेहूँ के सन्धान से बनाया जाता था उसमें मादकता नहीं, किन्तु अत्यल्प मात्रा में अम्लता उत्पन्न अवश्य होती थी। इस प्रकार का सौवीर

जल आदि सन्धान जल लेने में साधु को कोई आपत्ति नहीं थी। परन्तु समय जाते सन्धान जल कुछ अधिक खट्टे बन जाते थे और ऐसे अम्ल जलों के पान से तृषा दूर नहीं होती थी, परिणाम स्वरूप श्रमणों को ऐसे जल लेते समय बड़ी सतर्कता रखनी पड़ती थी, इतना ही नहीं, परन्तु जरा सी शङ्का उत्पन्न होने पर वे उसे प्रथम अपने हाथ में थोड़ा सा लेकर उसे चखते और योग्य ज्ञात होने पर उसे ग्रहण करते। धीरे धीरे सौवीर यवोदकादि में माद-कता प्रविष्ट हुई तब श्रमणों ने ऐसे जलों को रोगादि कारणों के बिना लेना बन्द कर दिया। "चुल्ल कप्प सुय" के निर्माण समय तक अधिकांश मादक जल लेना बन्द हो गया था, केवल दीर्घ तपस्वी बीमार दुर्बल श्रमणों के लिये ऐसे जल परिमित मात्रा में ग्रहण करने की आज्ञा दी जाती थी। बाकी स्वस्थ और नित्य भोजन करने वाले श्रमण अत्यल्प तथा मादकता रहित सन्धान जल मिलते तो लेते अन्यथा धावन जलों से अपना निर्वाह करते थे। "कप्पसूय" में जो मद्य का विकृति के रूप में निर्देश किया है, वह इस प्रकार के सामान्य मादकता कारक सौवीराम्ल यवाम्ल, तुषाम्ल जलों के लिये है, न कि सुरा और सौवीर विकट के लिये क्यों कि ऐसे तीव्र मादक जलों को ग्रहण करने की आज्ञा ही नहीं थी।

कोई श्रमण सौवीर जल के बदले भूल से सौवीर विकट ले आता तो वह निर्जन्तुक स्थण्डिल भूमि में फेंकवा दिया जाता और लाने वाले को प्रायश्चित्त लेना पडता था।

उक्त संस्कृतादिसूत्रों के अवतरणों का स्पष्टीकण

१—प्रथम अवतरण "संखडि" अर्थात् संस्कृति सूत्र का है। संखडि भिन्न भिन्न नामों से किये जाने वाले बड़े भोजन समारम्भों को कहते थे। संखडि में अनेक घृत पक मिष्टान्न तथा दाल भात आदि हल्के खाद्य प्रस्तुत किये जाते थे, और देशाचार के अनुसार भोजन परोसने की रीतियां भी भिन्न भिन्न थीं। किसी देश में पकान्न पहले परोसे जाते थे और ओदन दाल आदि पीछे तब किन्हीं भोजों तथा देशों में यह परिपाटी थी कि ओदन आदि लघु भोज्य परिमित मात्रा में पहले परोसे जाते थे फिर गरिष्ठ भोज्य।

(१) जो गरिष्ठ खाद्य पदार्थ होते उनमें प्रथम नम्बर का खाद्य मांस कहलाता था, जो घी शक्कर पिष्ट आदि से बनाया जाता था और उसमें केशर अथवा रक्त चन्दन का रङ्ग मिलाया जाता था।

(२) पके मीठे फलों को छील कर उनके बीज या गुठलियां निकाल कर तैयार किया हुआ फलों का गूदा तथा मेवों का गूदा भी मांस कहलाता था।

(४) प्राणयङ्ग सम्भव तृतीय धातु को भी मांस कहते थे, परन्तु अतिपूर्वकाल में पहाड़ी लोगों के अतिरिक्त उसे कोई खाता नहीं था।

बड़े भोजों में हल्का खाद्य कोदों के तन्दुल, व्रीहि के तन्दुल

आदि से बनाया जाता था, जो मत्स्य इस नाम भी व्यवहृत होता था। "मद्यते अनेनेति मत्स्य" इस निरूक्तकारों की व्याख्या के अनुसार वह मत्स्य इस नाम से प्रसिद्ध हो गया था। "मत्स्यो झषे तथा देशभेदे मध्यान्तरेऽधमे" इत्यादि कोशकारों ने भी तुच्छ भोजन का नाम मत्स्य दे रक्खा था। कोद्रों का तन्दुल मादक होने के अतिरिक्त तुच्छ भी गिना जाता था।

धान्यवाप के अधिकार में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है—

प्ररूढांश्चाऽशुष्ककटुमत्स्यांश्च स्नुही क्षीरेण वापयेत्।

(कौटि० अ० शा० पृ० ११७ अधि० २ अ० २४)

अर्थ—तुषार पान से कुछ फूले हुए और न सूखे हुए कटुमत्स्यों (मदन कोद्रवों) को थुहर के दूध का पुट देकर बोना चाहिए।

उपर्युक्त अर्थशास्त्र के उल्लेख से भी पूर्व काल में मत्स्य शब्द कोद्रव का वाचक था, यह निस्संदेह सिद्ध हो जाता है।

उक्त प्रकार के मांसादि तथा मत्स्यादि भोजन स्थानों में जाने तथा उन भोज्य पदार्थों को लेने का जैन भिक्षुओं को निषेध किया गया है। इसका कारण यह नहीं कि वे अभक्ष्य थे किन्तु ऐसे बड़े भोजों में अन्य अनेक भिक्षु, याचक आदि इकट्ठे होते हैं, मनुष्यों से मार्ग बहुत सकीर्ण बन जाते हैं, उन मार्गों से जल्दी आना जाना नहीं होता, श्रमणों को अपने स्वाध्याय ध्यानादि नित्य कर्मों

में बड़ी क्षति पहुँचती है, इतना ही नहीं बल्कि मार्ग में त्रस स्थावर प्राणियों की विराधना का भी अधिक सम्भव रहता है। इस कारण से जैन श्रमणों को बड़े भोजों में भिक्षा के लिये जाना वर्जित किया है। यदि उक्त प्रकार की विराधना स्वाध्यायादि व्याघात का सम्भव न हो तो उन भोजन स्थानों में जाकर श्रमण भिक्षा ला सकते हैं।

२—आचाराङ्ग का द्वितीय अवतरण मांस मत्स्य सूत्र का है, यहां भी मांस शब्द का अर्थ दूसरे प्रकार का मांस अर्थात् फलों को छील काट कर निकाला हुआ गर्भ, साधु गृहस्थ के घर जाय तब तक उस फल गर्भ में से गुठलियां छिलके निकाले न हो तो गृहस्थ के देने पर भी साधु उन्हें ग्रहण न करे, क्यों कि वह एषणीय (ग्राह्य) प्रासुक (निर्जीव) नहीं होते। काटने छिलका दूर करने के बाद एक मुहूर्त्त समय व्यतीत होने पर ही वह फल प्रासुक हो सकता है। यदि गुठली तथा बीज भीतर ही मिले हुए हों तो वह फल अप्रासुक ही माना जाता है और जैन भिक्षु उसे ग्रहण नहीं करते, क्योंकि बीज या गुठली को जैनशास्त्रकार सचित (सजीव) मानते हैं, और सचित्त पदार्थ के साथ अचित्त पदार्थ जीव मिश्र होने से अप्रासुक माना गया है।

आचाराङ्ग के इस सूत्र से जो विद्वान् जैन श्रमणों पर मांस भक्षण का आरोप लगाते हैं, उन्होंने इस उद्धरण में आये हुए "अफासुयं अणेसणिज्जं" इन शब्दों का अर्थ नहीं समझा, अगर समझा है तो जान बूझ कर उस पर विचार नहीं किया। यदि इन

शब्दों का अर्थ समझा होता तो इस सूत्र में आए हुए मांस को को प्राण्यङ्ग मांस मान कर जैन श्रमणों पर उसके खाने का आरोप कदापि नहीं लगाते। यदि इस सूत्र वाला मांस प्राण्यङ्ग होता तो इसे सूत्रकार "अफासुयं" कदापि नहीं कहते। जैनों की दृष्टि में अफासुय (अप्रासुक-सजीव) द्रव्य वही कहलाता है जो सचित्त (प्राणधारी) होता है। मांस तथा हड्डी को अप्रासुक नहीं मानते, किन्तु अनेषणीय मात्र मानते हैं, तब गुठली या बीज के साथ रहे हुए फल गर्भ तथा मेवों को अप्रासुक अनेषणीय मानते हैं। इससे सूत्र के शब्दों से ही सिद्ध हो गया कि सूत्र प्रयुक्त मांस शब्द फल मेवों के सार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यही कारण है कि सूत्रकार ने उसे अप्रासुक बताया।

सूत्र प्रयुक्त मांस शब्द के साथ आया हुआ अट्ठिय शब्द भी विद्वानों की भ्रान्ति का कारण बना होतो आश्चर्य नहीं है। अट्ठिय शब्द को हड्डी मान कर मांस को प्राण्यङ्ग मानना स्वाभाविक ही है, परन्तु विद्वानों ने अट्ठि तथा अट्ठिय इन दो शब्दों के बीच का भेद जान लिया होता तो वे इस भूल का शिकार कभी नहीं होते।

प्राकृत भाषा में अट्ठि (अस्थि) शब्द का अर्थ होता है हड्डी तब अट्ठिय (अस्थिक) "अस्थिकायते इति अस्थिकं बदरादि बीजम्" अर्थात् काठिन्यादि गुण से अस्थि के तुल्य होने से वेर आदि के बीज अस्थिक कहलाते हैं। जैन सूत्र "पन्नवणा" में एक बीज वाले वृक्षों को एकट्ठिया (एकास्थिका) कह कर उनकी एक लम्बी सूची दी है। जिनमें वेरी, आम्र, निम्ब, राजादन, आदि

अनेक वृक्षों के नाम हैं, और वे सभी एकास्थिक हैं क्योंकि उनके प्रत्येक फल में एक एक बीज होता है और वह अस्थिक कहलाता है।

उद्धृत सूत्र के अवतरणों में आये हुए मांस शब्द के साथ कहीं भी अट्ठि शब्द नहीं आया, किन्तु सर्वत्र अट्ठिय शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। परन्तु जिनको "जैन साधु भी पहले मांस खाते थे" यह सिद्ध करके अपना नाम प्रसिद्ध करने की धुन लगी हुई थी वे प्रासुक, अप्रासुक अट्ठि, अट्ठिय इन शब्दों का भेद समझने का कष्ट क्यों उठाते।

इस सूत्र में आया हुआ मत्स्य शब्द भी जलचर मत्स्य का बोधक नहीं है, किन्तु मत्स्य के आकार वाले पिष्ट से बनाये हुए नकली मत्स्य का वाचक है। आज कल मिष्ठान्न भोजन के साथ भुजिए, बड़े सेवियां आदि मसाले वाले खाद्य बनाते हैं, उसी प्रकार पहले भी बनाये जाते थे, और भिन्न भिन्न नामों से पुकारे जाते थे। उनमें एक का नाम मत्स्य भी होता था जो पुराने पाकशास्त्रों से जाना जाता है। "क्षेमकुतूहल" नामक ग्रंथ में ऐसे मत्स्य की बनावट बताई है। जो नीचे लिखी जाती है—

नागवल्लीदलं ग्राह्यं वेसवारेण लेपितम्।
माषपिष्टिकया लिप्तं संप्रसार्य समाकृतिम्॥
स्विन्नं मासखण्डितं तैलं भृष्टं हिंगु—समन्विते।
रन्धयेद् वेसवाराम्लैरम्लिका मत्स्यका इमे॥

अर्थ—नागर बेल का पान लेकर उस पर पहले वेस वार (मशाले) का लेप करना फिर उसे बराबर चौड़ा करके माष की पिष्टि लगाना और हिंगु मिले गर्म तैल में भूंज देना, जब सीझ कर कठिन हो जाय तब काट कर मत्स्याकृति बनाके फिर वेसवार (मशाले) वाले इमली के पानी में रांध लेने से वह मत्स्य बन जाता है, इसे अम्लिका मत्स्य कहते हैं।

उक्त अम्लिका मत्स्य के निर्माण में कांटे का उपयोग करने का नहीं लिखा है, फिर भी इस प्रकार के खाद्यों के निर्माण में कांटों से काम लेते थे, इसमें कोई शङ्का नहीं है। इस मत्स्य की रचना में भी पान पर माषपिष्टि लगा कर वह बिखर न जाय इस हेतु से पान के किनारे एक दूसरे के साथ कांटे से सी लिये जाते होंगे ऐसा अनुमान करना निराधार नहीं है।

३—निशीथाध्ययन के इस अवतरण से यह सिद्ध होता है कि जैन श्रमण मांस मत्स्य खाने वाले मनुष्यों के घर से आहार पानी नहीं लेते थे। यदि वे मांस मत्स्य खाना छोड़कर वनस्पति भोजी बन जाते और अपनी जाति के नीचे कर्मों के करने से हट जाते, तो श्रमण उनके यहां से खान पान लेने में कोई आपत्ति नहीं मानते।

४—उक्त अवतरण निशीथाध्ययन का "संखडि सूत्र" है। इस सूत्र में आये हुए मांस मत्स्यादि शब्दों के अर्थ तथा भाजन विशेषों के पारिभाषिक नामों के अर्थ आचाराङ्ग के "संखडि सूत्र" में लिखा है, उसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

इसमें यह कहा गया है कि श्रमण जिस गृहस्थ के मकान ठहरा है, उसी तरफ से उक्त प्रकार का कोई भोज होने वाला है, अथवा हो गया है, यह बात इधर उधर भेजे जाते पकान्नों से उसके घर रहने वाले श्रमण को मालूम होने पर वह उस भोजन की आशा से अपने स्थान को छोड़ कर दूसरी जगह रात बिताये और दूसरे दिन भोजन कराने वाले गृहस्थ के यहां से संस्कृत भोजन लावे।

वह श्रमण रात दूसरे स्थान पर इस लिये बिताता है कि जैन श्रमणों के लिये स्थान देने वालों के यहां से आहार पानी वस्त्र पात्रादि लेना मना किया है। इस लिये उसके मकान में रहता हुआ वह मकान मालिक के घर भोजन के लिये जा नहीं सकता। अतः रात्रि अन्यत्र बिताकर प्रथम शय्यातर के घर अच्छे भोजन की लालसा से भिक्षा लेने जाता है, परन्तु ऐसा करने वाला श्रमण दोष का भागी होता है और उसको प्रायश्चित्त की आपत्ति होती है।

४—दशवैकालिक के इस अवतरण में आये हुए पुद्गल तथा अनिमिष इन दो नामों का स्पष्टीकरण आचाराङ्ग के द्वितीय अव-तरण से पूरे तौर से हो जाता है। इसमें मांस के स्थान में पुद्गल शब्द आया हुआ है, जो फल मेवों के गर्भ का बोधक है, और अस्थिक शब्द उनके बीज गुठलियों को सूचित करते हैं। अनि-मिष का अर्थ भी आचाराङ्ग के इसी अवतरण के स्पष्टीकरण के अनुसार नकली पिष्ट-मत्स्य समझना चाहिए।

इसी दशवैकालिक सूत्र की चूलिका में जैन श्रमण को "अमज्ज मंसासी" अर्थात् मद्य-मांस का न खाने वाला कहा है, फिर भला उसी दशवैकालिक के उक्त अवतरण में आए हुए पुद्गल तथा अनिमिष शब्दों से मांस-मत्स्य कैसे ग्रहण किये जा सकते हैं।

६—यह अवतरण भगवती सूत्र का है। इसमें निर्ग्रन्थ साधु को मडादी अर्थात् मृत को खाने वाला कहा है। जिसका तात्पर्य यह है कि निर्ग्रन्थ साधु किसी भी सजीव पदार्थ को खान पान में नहीं लेते थे। हरी वनस्पति तथा कच्चा जल तक निर्ग्रन्थ के लिये अखाद्य अपेय थे। अग्नि आदि शस्त्रों अथवा अन्य किसी प्रकार के प्रयोगों से खाद्य पेय पदार्थ निर्जीव होने के बाद ही निर्ग्रन्थ श्रमण मृत खाने वाले कहे गये हैं।

जैन श्रमणों को मांसाहारी मानने वालों ने भगवती का यह लेख पढ़ा होता तो सम्भव है, वे उनको मुर्दाखाने वाला भी कह डालते। अच्छा हुआ कि इन शोधकों की दृष्टि में भगवती का उक्त अवतरण नहीं आया।

७—यह अवतरण कल्पसूत्र की समाचारी का है जो पूर्वकाल में "चुल्लकप्प सुय" इस नाम से पहिचाना जाता था। इसमें वर्षा वास स्थित निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थनियों को नव रस विकृतियों को बार-बार न लेने की आज्ञा दी गई है, क्योंकि वर्षा ऋतु उनके तप करने का समय है।

अतः तप के पारणे में अथवा रोगादि कारण विशेष में ही विकृतियों के ग्रहण में कैसा विवेक होना चाहिए और उनके

वितरण की क्या व्यवस्था होनी चाहिए, इत्यादि बातों का विवरण "जैन श्रमण" नामक प्रकरण में दिया जायगा, अतः यहां नहीं लिखा जाता।

उक्त अवतरण में बताई गई विकृतियों से चार विकृतियों पर थोड़ा सा विवेचन करेंगे। शेष क्षीर, दधि, सर्पि, तेल और गुड़ इन पांच पर विशेष वक्तव्य नहीं है।

नवनीत अर्थात् मक्खन विकृति को शास्त्रकारों ने शुभ विकृतियों में माना है। इसका यह अर्थ हुआ कि पहले जैन श्रमण जिन कारणों से दूध, दही, घृत, आदि विकृतियां लेते थे, उन्हीं कारणों से नवनीत विकृति भी ली जाती थी, परन्तु जब यह विकृति अनेक दिन की बासी मिलने लगी, तब जैनाचार्यों ने इसे अभक्ष्य मानकर लेना बन्द कर दिया, और अपने ग्रन्थों में लिख दिया कि मक्खन छाछ से बाहर होते ही बिगड़ने लगता है, इस लिये जैन श्रमणों को इसे भोजन में त्याज्य करना उचित है।

कहीं कहीं नवनीत के स्थान में दधिसर अर्थात् दही के ऊपर के चिकने पदार्थ मण्ड को विकृति माना है, जो नवनीत का ही पूर्व रूप है।

मधु भी हिंसा जनित होने के कारण, कारण बिना न खाना चाहिए, ऐसी जैनाचार्यों ने मर्यादा बांधी है। मद्य-विकृति को आगे के लिये रखकर पहले हम मांस-विकृति पर थोड़ा सा लिखेंगे।

यहां नवम विकृति के स्थान में आए हुए मांस शब्द का अर्थ

प्रणीत भोजन अथवा घृत पक मिष्टान्न करना चाहिए। हम आचाराङ्ग के अवतरण पर कह आये हैं कि उस समय में मांस का प्रधान अर्थ पकान्न होता था। प्राण्यङ्ग मांस के खाने का प्रचार बढ़ा तब पूर्वाचार्यों ने मांस शब्द को प्राण्यङ्ग मांस के लिये रख छोड़ा और घृत-पक मिष्टान्न के लिये "अवगाहिम" शब्द का प्रयोग करना शुरू किया।

निशीथाध्ययन के निम्नलिखित सूत्रों में अन्तिम विकृति का प्रणीत भोजन जात इस सामान्य नाम से निर्देश किया गया है। जो नीचे उद्धृत किया जाता है—

"खीरं वा दहिं वा नवणीयं वा गुलं वा खण्डं वा सक्करं वा मच्छण्डियं अन्नयरं वा तहप्पगारं पणीयं वा आहारं आहारेइ।"

(षष्ठोद्देशे)

"संनिहि-संनिचयाओ खीरं वा दहिं वा नवणीयं वा सर्पि वा गुलं वा खण्डं वा सक्करं वा मच्छण्डियं अन्नयरं वा भोयण-जायं पडिग्गाहेइ।"

(अष्टमोद्देशे)

अर्थ—दूध, दही, मक्खन, गुड, खांड, शक्कर, मिश्री, अथवा अन्य कोई प्रणीत (स्निग्ध) आहार करता है।

सन्निधि (संचित) संचय से दूध, दही, मक्खन, घी, गुड, खांड, शक्कर, मिश्री, अथवा अन्य कोई विशिष्ट भोजन जात ग्रहण करें।

उक्त दो सूत्रों में से पहला विकृति खाने सम्बन्धी और दूसरा विकृति ग्रहण करने सम्बन्धी है, इन दोनों में मांस शब्द न हो कर प्रणीत आहार और भोजन जात शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि मांस प्रणीत आहार आदि एक दूसरे के पर्याय नाम हैं। प्राण्यङ्ग मांस हल्के मनुष्यों तथा क्षत्रियादि शिकारी जातियों का खाद्य अवश्य बन गया था, तथापि जैन श्रमण तो क्या जैन उपासक गृहस्थ भी उसका आहार नहीं करते थे। यह सब कुछ होने पर भी जैन तथा वैदिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त बौद्ध तथा अन्य क्षुद्र सम्प्रदायों में प्राण्यङ्ग मांस ने अपना अड्डा मजबूत कर लिया था। ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद मांस शब्द जो पिष्ट जनित मिष्टान्न तथा फल गर्भ के अर्थ में प्रयुक्त होता था, धीरे धीरे भूला जाने लगा, और मांस शब्द से केवल प्राण्यङ्ग मांस का ही अर्थ किया जाने लगा। ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्ववर्त्ती काल में निर्मित जैन सूत्रों तथा प्रकीर्णकों में मांस शब्द मौलिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, परन्तु इसके बाद के बने हुए निर्युक्ति भाष्यचूर्णी, आदि जैन ग्रन्थों में मांस तथा पुद्गल ये दो शब्द बहुधा प्राण्यङ्ग मांस के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

"आवश्यक निर्युक्ति" में तथा हरिभद्र सूरिकृत "पंच वस्तुक" ग्रन्थ में रस विकृति की संख्या नव से बढ़कर दश हो गई है। जो नीचे के उद्धरण से ज्ञात होगी।

"पंचेव य खीराइं चत्तारि दहीणि सप्पि नवणीता।
चत्तारि तिल्लाई दो वियडे फाणिये दुन्नि ॥१६०६॥

महु पुग्गलाइं तिन्नि चल चल ओगाहिमं तु जं पक्कं ।
ए एमिं संसट्ठं वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ १६७ ॥
(आ० नि०)

अर्थ—पांच प्रकार के दूध (गाय, भैंस, बकरी, मेंढी और ऊँटनी का दूध) १, चार प्रकार के दही (गाय का, भैंस का, बकरी का. मेंढी का) २, चार प्रकार के घी (गाय, भैंस, बकरी और मेंढी के) ३, चार प्रकार के मक्खन (गाय. भैंस, बकरी और मेंढी के) ४, चार प्रकार के तैल (तिल्ली, सरसों, अलसी और करडी के) ५, दो प्रकार के विकट (मध्य, काष्ठज और पिष्ठज) ६, दो फाणित (गुड़ और खांड़ के) ७, मधु (शहद) ८, पुद्गल (मांस) ९, अवगाहिम (पक्वान्न) १० ।

खीरं दहि नवणीयं घयं तहा तिल्लमेव गुडमज्जं ।
महुं मंसं चेव तहा ओगाहिमं च दशमी तु ॥३७१॥
(पं० वस्तु०)

अर्थ—दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मद्य, मधु, मांस, और अवगाहिम ये दश विकृतियां मानी गई हैं ।

ऊपर के दोनों ग्रन्थों में दश विकृतियां बताई हैं । उसका अर्थ यही है कि इन ग्रन्थों के निर्माण-समय में मांस और पक्वान्न ये दोनों जुदे माने जाते थे । जैन श्रमणों तथा व्रतधारी जैन उपासकों के लिये प्राण्यङ्ग सम्भव मांस किसी काम का नहीं था, फिर भी वह एक रस-विकृति है यह दिखाने के लिये मांस को पक्वान्न से

जुदा बताया है। निशीथाध्ययन में बताये गये विकृति द्रव्यों की संख्या नव से भी कम है, तब चुल्ल कल्प सूत्र में निश्चित रूप से नव विकृतियां कही हैं। जिनमें अन्तिम विकृति मांस नामक खाद्य पदार्थ है। पिछले ग्रन्थकारों ने मांस को जुदा बताया, उसका कारण यही है कि उनके समय में अधिकांश लोग प्रायश्च मांस खाने लग गये थे।

८—यह अवतरण "सूर्य्य प्रज्ञप्ति" नामक सूत्र का है। पूर्वकाल में जब कि वार, राशि, लग्न आदि का व्यवहार ज्योतिष में नहीं था उस समय का यह ग्रन्थ है। उस काल में कोई भी काम करते समय नक्षत्र का बल ही कार्यसाधक माना जाता था। प्रत्येक नक्षत्र के दिन भोजन के पदार्थ बताये गये थे, जिससे कोई भी विशेष काम करने वाला उस दिन के नक्षत्र से प्रतिबद्ध खाना खाकर अपने उद्दिष्ट कार्य में प्रवृत्त होता था। सूत्रकार ने सर्वनक्षत्रों से प्रतिबद्ध भोजनों का निर्देश किया है, परन्तु मुद्रित "सूर्य्य प्रज्ञप्ति" के उद्धृत अवतरण में मूल तथा धनिष्ठा इन दो नक्षत्रों के नाम तथा इनसे प्रतिबद्ध भोजनों का निर्देश नहीं है। सम्भव है कि जिस मूलादर्श पुस्तक के आधार पर यह ग्रंथ छपा है, उसमें उक्त दो नक्षत्रों का उल्लेख न होगा, अथवा प्रेस कोपी में लेखक के दृष्टि दोष से उक्त दो नक्षत्र रह गये हैं, अस्तु।

इस अवतरण में आठ नक्षत्रों के साथ मांस भोजन का प्रयोग हुआ है, और आठ ही स्थानों में हमने इनका वास्तविक अर्थ में खाना बताया है; क्योंकि इस सूत्र की प्ररूपणा भगवान् महावीर

ने तत्कालीन विदेह देश की राजधानी मिथिला के बाहर मणि-नाग चैत्य में की थी। जब कि वहां उच्च वर्ण के मनुष्यों में कोई प्रायः मांस नहीं खाता था। इसी स्थिति में नक्षत्र भोजनों में बताया गया मांस भोजन पिष्टजनित मांस ही सिद्ध होता है।

इस अवतरण में जिन जिन नामों के साथ मांस शब्द आया है वे सभी वृक्षों के नाम हैं, ऐसा हमें वैद्यक निघण्टुओं से ज्ञात हुआ। "शालिग्रामोषध शब्द सागर" "निघण्टु भूषण" "भाव प्रकाश निघण्टु" तथा "हेमचन्द्रीय निघण्टु" आदि से इस विषय में हमें बड़ी सहायता मिली है।

६—इस अङ्क के नीचे दिये हुए अध्यापक धर्मानन्द का अर्थ कितना असङ्गत और अघटित है, यह दिखाने के लिये आगे पीछे का पाठ लिखकर विषय को थोड़ा विस्तृत कर दिया है, जो आवश्यक था। उस समय भगवान् महावीर की शारीरिक स्थिति कितनी गम्भीर थी यह दिखाये बिना धर्मानन्द के अभिप्राय को असंगत ठहराना कठिन था। जिनका शरीर छः महीनों से दाह ज्वर ग्रस्त है, बाह्याभ्यन्तर तापमान बहुत बढ़ा हुआ है और खून के दस्त हो रहे हैं, ऐसे महावीर अपने शिष्य के द्वारा मुर्गे का बासी मांस मंगवाकर खाने की इच्छा करें, यह बात वैद्यों, डाक्टरों के सिद्धांत से तो एक दम विरुद्ध है ही पर सामान्य बुद्धि के मनुष्य की दृष्टि में भी महावीर की यह प्रवृत्ति आत्मघात ही प्रतीत होगी। यह परिस्थिति होने पर भी पटेल गोपालदास और उनके पृष्ठगामी अध्यापक कौशाम्बी महावीर की उस प्रवृत्ति को मांस खाने का

नाम देते हैं। इसकी वास्तविकता का निर्णय देने का कार्य मैं अपने पाठकों पर ही छोड़ता हूँ।

भगवती के इस अवतरण में "दुवे कवोय सरीरा" और "मज्जार कडए कुक्कुड मंसए" इन शब्दों का कूष्माण्ड फल तथा अगस्त्य वृक्ष की फली से निकाले गये गूदे तथा सुनिषण्णक के उपादान से बनाया गया औषधीय खाद्य ऐसा हमने जो अर्थ किया है वह कल्पित नहीं किन्तु प्रामाणिक है। उस सुनिषण्णक शाक को कुक्कुट नाम से वर्णित किया गया है। अगस्त्य दाह ज्वर मिटाने वाला, शीतवीर्य और अगारोहक माना गया है। इसके इन सुन्दर गुणों से ही वानप्रस्थ ऋषि इस वृक्ष को लगाते और पालते थे, जिसके कारण अगस्त्य वृक्ष का नाम मुनिवृक्ष भी पड़ गया है। कुक्कुट एक जात का शाक होता है जो अनूप देशों में विशेष पाया जाता है। इसके सुनिषण्णक, स्वस्तिक, शिव, कुक्कुट आदि अनेक नाम हैं। साधारण लोग इसे चोपातिया शाक अथवा शरीहारी के नाम से पहचानते हैं, और अनेक दवाइयों में इसका प्रयोग करते हैं।

मार्जार और कुक्कुट वनस्पतियां कैसा अद्भुत औषधीय गुण रखती है, यह निम्नोद्धृत वर्णन से ज्ञात होगा—

> कृशरे भीरू मार्जार किंशुका इंगुदी नषण्।
> अगस्त्ये मुनि मार्जारावगस्तिवंगसेनकः ॥१५६॥

(वैजयन्ती भूमिका० वन०)

अर्थ—कृशर के (हिंगोटी के) भीरू, मार्जार, किंशुक ये नाम हैं, इंगुदी शब्द पुंल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग में है, अगस्त्य के मुनि, मार्जार, अगस्ति, वंगसेन, ये नाम हैं।

ऊपर के श्लोक में मार्जार शब्द दो अर्थों में आया है एक हिंगोटे वृक्ष के और दूसरा अगस्त्य वृक्ष भी अद्‌भुत औषधीय गुण रखता है और इस का नाम मार्जार भी है, तथापि रेवती ने जो खाद्य बनाया था उसमें इस द्रव्य की मात्रा डालने का सम्भव कम ही मालूम होता है, क्योंकि इंगुदी कड़वी होती है। रेवती उस समय ऐसी बीमार नहीं थी कि कड़वी औषध डाल कर पाक बना के खाये। इसके विपरीत अगस्ति की फली मधुर होती है, उसका मावा निकाल कर उसके उपदान से खाद्य बनाने का अधिक सम्भव है। अगस्त्य का नाम ऊपर के श्लोक में लिखा ही है।

अगस्त्य के तथा अगस्ति की शिम्बा के कैसे अद्‌भुत गुण होते हैं, यह नीचे के श्लोकों से विदित होंगे—

> अगस्त्याह्वो वंगसेनो, मधुशिग्रुर्मुनिद्रुमः।
> अगस्त्यः पित्तकफजिच्चातुर्थिकहरो हिमः॥
> तत् पयः पीनसश्लेष्मा पित्तनाक्त्यान्ध्यनाशनम्॥
> (मदनपाल निघण्टु)

अर्थ—अगस्त्य, वंगसेन, मधुशिग्रु, मुनिद्रुम, इन नामों से पहिचाना जाता है, अगस्त्य पित्त और कफ को जीतने वाला है,

चातुर्थिक ज्वर को दूर करता है और शीतवीर्य है। इसका स्वरस प्रतिश्याय, श्लेष्म, पित्त, रात्र्यन्धत्वनाशक है।

मुनि शिम्बी सरा प्रोक्ता बुद्धिदा रुचिदा लघुः।
पाक काले तु मधुरा, तिक्ता चैव स्मृति प्रदा॥
त्रिदोष-शूल-कफहृत्, पाण्डु-रोग-विषापनुत्।
श्लेष्म-गुल्म-हरा प्रोक्ता, सा पक्वा रूक्ष-पित्तला॥
(शा० ग्राम० नि०)

अर्थ—अगस्ति की शिम्बा सारक कही है, बुद्धि देने वाली, भोजन की रुचि उत्पन्न करने वाली, हल्की, पाक काल में मधुर तीखी, स्मरण शक्ति बढ़ाने वाली, त्रिदोष को नाश करने वाली, शूल रोग, कफ रोग, को हटाने वाली, पाण्डु रोग को दूर करने वाली, और श्लेष्म, गुल्म को हटाने वाली होती है, परन्तु पकी हुई शिम्बा रूक्ष और पित्तप्रद होती है।

सुनिषण्णे सूचिपत्रः स्वस्तिकः शिरिवारकः॥३५१॥
श्रीवारकः शितिवरो वितुन्नः कुक्कुटः शिखी।
(इति निघण्टु शेषे)

अर्थ—सूचि पत्र, स्वस्तिक, शिरिवारक, श्रीवारक, शितिवर वितुन्न, कुक्कुट और शिखी ये निषण्णक के नाम हैं।

सुनिषण्णो हिमोग्राही, मोह-दोषत्रयापहः।
अविदाही लघुः स्वादुः कषायो रूक्ष दीपनः॥

वृष्यो रुच्यो ज्वर-श्वास-मेह कुष्ठ-भ्रम-प्रणुत् ॥
(भाव प्रकाश)

अर्थ—सुनिषण्ण ठंडा, दस्त रोकने वाला, मोह तथा त्रिदोष का नाशक, दाह को शान्त करने वाला, हल्का, स्वादिष्ट कषाय रस वाला, रूक्ष, अग्नि को बढ़ाने वाला, बलकारक, रुचिकारक और ज्वर, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ और भ्रम का नाशक है।

इस विषय में अन्य निघण्टु कार यह लिखते हैं —

सुनिषण्णो लघुर्ग्राही वृष्योऽग्निकृत्त्रिदोषहा ।
मेधारुचिप्रदो दाहज्वरहारी रसायनः ॥

अर्थ—सुनिषण्ण, हल्का, दस्त बन्द करने वाला, बलकारक, अग्नि बढ़ाने वाला, त्रिदोष का नाश करने वाला, बुद्धिप्रद, रुचिदायक, दाह ज्वर को हटाने वाला और रसायन होता है।

कल्पद्रुम कोश के वनौषधिकाण्ड में भी कुक्कुट नाम सुनिषण्णक का ही पर्याय बताया है। जैसे—

...............सूच्याख्यस्तु शितावरः ॥२६८॥
सूचीपत्रः शितिवरः स्वस्तिकः पुरुटः शिखी ।
मेधाकृद् ग्राहकः सूचिः कुक्कुटः सुनिषण्णकः ॥

अर्थ—सूची, शितावर, सूचिपत्र, शीतवर, स्वस्तिक, पुरुट, शिखी, सूचि, कुक्कुट, ये सुनिषण्णक के नाम हैं। सुनिषण्णक बुद्धि बढ़ाने वाला और दस्त को रोकने वाला है।

ऊपर मार्जारापर पर्याय अगस्त्य और कुक्कुटा पर पर्याय सुनिषण्णक के जो गुण बताये गये हैं इनसे पाठक गण स्वयं स्वीकार करेंगे कि भगवान् महावीर ने रेवती के घर से जो खाद्य पदार्थ मंगवाया था, वह उनको बीमारी को शान्त करने वाला इन्हीं मार्जार तथा कुक्कुट वनस्पति के उपादानों से बना हुआ वानस्पतिक मांस था, पटेल गोपालदास और धर्मानन्द कौशाम्बी का बिल्ली द्वारा मारे गये कुक्कुट का बासी मांस नहीं। यह पदार्थ रोग तो क्या हटाये ? तन्दुरुस्त आदमी को भी बीमार कर देता है। दूसरी बात यह है कि उस समय वैदिक धर्मशास्त्रानुसार ग्राम्य कुक्कुट अभक्ष्य माना जाता था[१], और मार्जाराघ्रात भोजन भी अभक्ष्य माना जाता था[२]। इस दशा में बिल्ली से मारे गये कुक्कुट का मांस पका कर रेवती अपने लिये तैयार करे, यह केवल असम्भव बात है। उक्त विद्वानों ने उपर्युक्त सभी पहलुओं से विचार किया होता तो वे ऐसी हास्य जनक भूल कभी नहीं करते।

अध्यापक धर्मानन्द के दो कपोतों के शरीरों को हमने दो कूष्माण्ड फल लिखा है। "भगवती सूत्र" के टीकाकारों ने भी

१—पादाभ्यां विकीर्य ये कीटधान्यादि भक्षयन्ति ते विकिरास्तेषां मध्ये कुक्कुटो न भक्ष्यः।

उक्त पंक्ति आपस्तम्बीय धर्म सूत्र की है। इसी प्रकार गौतम धर्मसूत्र आदि में भी कुक्कुट को अभक्ष्य करार दिया है।

२—मनुष्यैरन्यैर्वा मार्जारादिभिरवघ्रातमन्नमभोज्यम्।
इदमपि आपस्तम्बीय धर्मसूत्रे एवमन्यत्रापि॥

कूष्माण्ड फल ही बताये हैं। टीकाकारों तथा हमको शब्द कोशों तथा निघण्टुओं का साथ है। कोश निघण्टुओं में कपोत पक्षी को ही नहीं माना बल्कि सौवीराञ्जन, सज्जीखार और कर्बुर रंग के अनेक पदार्थों को कपोत कह कर वर्णन किया है। कूष्माण्ड फल भी "वर्णातद्वतोरभेदः" इस नियमानुसार उस समय कपोत नाम से व्यवहृत होता था। कपोत के साथ आया हुआ शरीर शब्द स्वयं कपोत का फलत्व सिद्ध करता है।

जैन सूत्रों में सजीव पदार्थ के साथ शरीर शब्द का प्रयोग नहीं होता, किन्तु फल के साथ ही होता है। जैसे—"दुवे आमलग सरीरे" (सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रे नक्षत्र भोजने) इत्यादि।

इसके अतिरिक्त उस समय वैदिक धर्मशास्त्रकार कपोत पक्षी को अभक्ष्य मानते थे। तब रेवती जैसी प्रतिष्ठित महिला महावीर जैसे अहिंसा धर्म के उपदेशक के निमित्त दो कबूतरों को पका कर तैयार करे, यह कितनी अघटित बात है। केवल कूष्माण्ड फल के लिये ही नहीं, निघण्टुओं में "श्वेत कापोतिका" "कृष्ण कापोतिका "रक्त कापोतिका" नाम से वनस्पतियों का भी वर्णन किया गया है। हम आशा करते हैं कि हमारे संक्षिप्त निरूपण से पाठकगण समझ सकेंगे कि "दुवे कवोय सरीरा" इन शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या है।

१०—इस अवतरण में दिये गये दो पद्यों में से पहला "सम्बोध प्रकरण" का है। सम्बोध प्रकरण प्रसिद्ध आचार्य श्री

हरिप्रभ सूरि कृत माना जाता है, परन्तु वास्तव में यह संग्रह ग्रंथ है। इसमें हरिभद्र सूरि के ग्रन्थों के उद्धरण भी संगृहीत हैं, परन्तु अधिकांश गाथायें बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी की संगृहीत की है। 'पुप्फामिस" इत्यादि गाथा हरिभद्रसूरिकृत 'स्तवविधिपञ्चाशक की है।

त्रिविध पूजा का प्रतिपादक श्लोक नवाङ्गी वृत्तिकार आचार्य श्री अभय देव सूरिजी के मुख्य पट्टधर आचार्य श्रीवर्धमान सूरि की कृति "धर्मरत्नकरण्डक" का है। इस ग्रंथ की रचना विक्रम संवत् ग्यारह सौ बहत्तर (११७२) में हुई है।

ऊपर के प्रमाणों से यह निश्चित होता है कि आमिष शब्द जैन विद्वानों में विक्रमीय बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आहार अथवा नैवेद्य के अर्थ में प्रचलित था।

११—इस अवतरण में हमने "कप्पसूय सामाचारी" में आये हुए मद्य शब्द के विषय में कुछ विवेचन किया है। "कप्प सूय" का विदेशी भाषाओं में अनुवाद करने वाले विद्वानों ने "मज्जं" इस शब्द के आधार से यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि पूर्वकाल में जैन श्रमण भी कभी कभी मदिरा पान करते थे। उनके इस अज्ञान को प्रगट करने के लिये ही मद्यशब्द पर कुछ लिखने की आवश्यकता उपस्थित हुई है। मद्य अत्यल्प मादकता का गुण रखने वाला भी होता है, और तीव्र मादकता वाला भी। द्राक्षासव आदि औषधीय विधि से बनाये हुए पानक भी एक प्रकार के मद्य ही

माने जाते हैं, फिर भी उनको सुरा, मदिरा अथवा शराब नहीं कह सकते, क्योंकि इन पानकों में सुरा, मदिरा आदि जैसा मादकत्व नहीं होता।

पुलस्त्य ऋषि ने बारह प्रकार के मद्य बताकर केवल सुरा को ही अभक्ष्य बताया है—

पानस-द्राक्षा माध्वीकं, खार्जूरं तालमैक्षवम् ।
माध्वीकं टांकमाद्वीकमैरेयं नारिकेलजम् ॥
सामान्यानि द्विजातीनां, मद्यान्येकादशैव तु ।
द्वादशं तु सुरा मद्यं, सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥

अर्थ—पनस का, द्राक्षा का, महुए का, खजूर का, ताड़का, गन्ने का, माध्वीक, टंक का, मृद्विका का, इरा का, नारिकेर का, ये ग्यारह मद्य द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये सामान्य है, तब सुरा नामक मद्य सब के लिये अधम कहा गया है।

सुरा मद्य को श्रमण सन्यासियों के लिये बहुत ही बुरी चीज मानी जाती थी। भूल से भी श्रमण मदिरा घर में चला न जाय इस के लिये महाराष्ट्र आदि देशों में तो मदिरा घरों के ऊपर अमुक जाति का ध्वज लगाया जाता था, जिससे साधु लोग उसे मदिरा घर जान कर भूल से भी उसमें नहीं जाते। इस विषय की सूचना बृहत्कल्प की निम्नलिखित पंक्तियों से मिलती है—

रसायणो तत्थ दिट्ठंतो ॥३५३९॥

अत्र "रसायण" मद्य हट्टो दृष्टान्तः। यथा महाराष्ट्र देशे रसायणे मद्यं भवतु वा मा वा तथापि तत्परिज्ञानार्थं तत्र ध्वजो बध्यते तं ध्वजं दृष्ट्वा सर्वे भिक्षाचरादयः परिहरन्ति।

(भाग ४ पृ० ६८५)

अर्थ—यहां रसायण का दृष्टान्त है, रसायण अर्थात् मद्य का हाट। उसमें मद्य हो या न हो परन्तु महाराष्ट्र देश में उस पर ध्वज बान्धा जाता है जिसको देख कर सभी भिक्षाचर उस हाट को छोड़ देते हैं।

ऊपर के विवेचन से भली भांति सिद्ध हो जाता है कि जैन श्रमण ही नहीं, किन्तु वैदिक सन्यासी, बौद्ध भिक्षु आदि सभी संप्रदायों के भिक्षाचर मद्य पान से दूर रहते थे।

मेगास्थनीज तथा अन्य विद्वानों का यह कथन कि ब्राह्मण यज्ञों में शराब पीते थे। उपर्युक्त पुलस्त्य के मद्य विवरण से इस कथन का यथार्थ उत्तर मिल जाता है। पुलस्त्य ने सुरा को ही वास्तविक हेय मद्य माना है। उसकी महापातकों में गणना की है, शेष ग्यारह प्रकार के मद्यों को सामान्य मद्य कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि रोगादि कारण में इनमें से किसी प्रकार के पेय का पान करने पर भी उसे प्रायश्चित्तयोग्य नहीं माना जाता था।

यज्ञ में ब्राह्मणों को मद्य पान करने की बात कहने वाले भी दिशा भूले हुये हैं। यज्ञ में शराब नहीं, किन्तु सोम रस का पान किया जाता था। सोमवल्ली पवित्र वनस्पति होती थी, उसके पत्तो को

घोंट कर रस निकाला जाता था, और दूध में छान कर उकाला जाता था। यह सोम रस शक्ति-स्मृति-प्रद होने से देवताओं को चढाकर शेष यज्ञाधिकारी पीते थे। अन्य किसी को पीने अथवा बेचने का अधिकार नहीं था। यही कारण है कि वेद में "पापो हि सोम विक्रयी" यह वाक्य दृष्टि गोचर होता है। हम आशा करते हैं कि विदेशियों के भ्रमण-वृत्तान्तों के आधार पर भारत का इतिहास लिखने वाले उक्त विवरण से कुछ बोध पाठ लेंगे।

३—वैदिक तथा बौद्ध ग्रन्थों में मांस आमिष शब्दों का प्रयोग

सामान्य रूप से सब से प्राचीन ऋग्वेद संहिता में आमिष शब्द का प्रयोग ही नहीं मिलता, इतना ही नहीं बल्कि प्राचीन वैदिक निघण्टु में भी मांस अथवा इसके किसी पर्याय का नाम नहीं है। इस कारण यह तो नहीं हो सकता कि उस समय मांस पदार्थ ही नहीं था। मनुष्य पशु के शरीर में रहने वाला धातुओं में से तृतीय मांस धातु उस समय भी विद्यमान था। प्राचीन वेद तथा उसके प्राचीन वैदिक कोश में उसका उल्लेख न होने का कारण यही है कि तत्कालीन ऋषि लोग प्राण्यङ्ग रूप मांस का किसी भी कार्य में उपयोग नहीं करते थे, अतः इनकी बनाई हुई वैदिक ऋचाओं में मांस शब्द नहीं आता था, और न उनके निघण्टु में उसके लिखने की आवश्यकता थी।

यद्यपि ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में मांस शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु वे सूक्त प्राचीन ऋग्वेद में पीछे से जोड़ दिये गये हैं, ऐसी हमारी तथा अनेक विद्वानों की मान्यता है। शुक्ल यजुर्वेद के अश्वमेघ प्रकरण में अनेक पशुओं की हिंसा की चर्चा है जो इस संहिता के रचयिता विद्वान् याज्ञवल्क्य के वाजसनेय होने का परिणाम है। इन्हीं की बदौलत यज्ञों में कुछ समय के लिये हिंसा खूब बढ़ चली थी, परन्तु अथर्ववेद के समय में यह हिंसा का प्रचार रुक पडा था। अथर्ववेद में बन्ध्या गौ के वध का प्रसङ्ग आता अवश्य है, परन्तु इसी वेद में अन्य स्थलों में मांस खाने का निषेध भी किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि भाष्यकार यास्क के समय तक पशु यज्ञ और मांस भक्षण बहुत ही मर्यादित हो गया था। इसी कारण से यास्क ने मांस शब्द की जो व्युत्पत्ति की है उसमें प्राण्यङ्ग मांस को नहीं वनस्पत्यङ्ग मांस को ही लागू करना चाहिए। यहां मांस शब्द प्राण्यङ्ग रूप नहीं किन्तु फल मेवों के गर्भ अथवा पिष्टान्न आदि से बनाये गये मिष्टान्न भोजन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मांस शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं—

मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदति वा।

अर्थ—मांस कहो, मानन कहो, मानस कहो, ये सब एक ही अर्थ के प्रतिपादक पर्याय नाम हैं, और ये उस भोजन का नाम है, जो आगन्तुक माननीय मेहमान के लिये तैयार किया जाता था जिसे देख कर अतिथि का मन खाने में लग जाता और वह समझता कि मेरा बडा मान किया गया।

"मन् ज्ञाने" इस धातु से मांस शब्द निष्पन्न हुआ है और इसका अर्थ होता है "बड़े आदमी के सम्मान का साधन।"

पुरातत्त्व ज्ञाता विद्वानों ने आचार्य यास्क का समय ईसा के पूर्व की नवम शताब्दी निश्चित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आज से तीन हजार वर्ष पूर्व के वैदिक साहित्य में मांस शब्द वनस्पति निष्पन्न खाद्य के ही अर्थ में प्रयुक्त होता था।

इसके बाद धीरे धीरे ब्राह्मणों में मधुपर्क तथा पितृकर्म में प्राण्यङ्ग मांस का प्रयोग होने लगा "बौधायन गृह्यसूत्र" में जो कि ईसा के पूर्व षष्ठ शताब्दी की कृति मानी जाती है उसमें यह आग्रह किया गया है कि मधुपर्क में मांस अवश्य होना चाहिए, यदि पशु मांस न मिल सके तो पिष्टान्न का मांस तैयार करके काम किया जाय।

"आरण्येन वा मांसेन ॥५२॥ नत्वेबाऽमांसोऽर्घ्यः स्यात् ॥५३॥ अशक्तौ पिष्टान्नं संसिध्येत् ॥५४॥

अर्थ—(गौ के उत्सर्जन कर देने पर अन्य ग्राम्य पशुओं के अलाभ में) आरण्य पशु के मांस से अर्घ्य किया जाय, क्योंकि मांस बिना का अर्घ्य होता ही नहीं, आरण्य मांस भी प्राप्त न कर सके तो पिष्ट से उसे (मांस को) तैयार करे।

उपनिषदों में भी मांस तथा आमिष शब्द प्रयुक्त हुए दृष्टि गोचर होते हैं, परन्तु वहां सभी जगह ये शब्द वनस्पति खाद्य पदार्थ का अर्थ प्रतिपादन करते हैं। उपनिषद् वाक्य कोश में लिखा है—

मांसमुद्गीथः । यो मध्यमस्तन्मांसम् ।

अर्थ—मांस के गुण गाओ जो भीतर का सार भाग है, वही मांस है।

उक्त उदाहरणों से अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक प्राचीन साहित्य में अति पूर्वकाल में मांस आमिष आदि शब्द वनस्पति खाद्य के अर्थ में प्रयुक्त होते थे, और भोजन में पश्वङ्ग मांस की प्रवृत्ति बढने के समय इन शब्दों का धातु प्रत्यय से व्यक्त होने वाला अर्थ तिरोहित हो गया और प्राण्यङ्ग मांस ही मांस शब्द का वाच्यार्थ बन गया।

पिछले समय में जब कि मांस तथा आमिष शब्द केवल प्राण्यङ्ग मांस वाचक बन चुके थे, उस समय भी आमिष शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता था। ऐसा धर्मसिन्धुग्रन्थ में दिये गये निम्नलिखित प्राचीन श्लोकों से ज्ञात होता है—

प्राण्यङ्गचूर्णं चर्मस्थोदकं जम्बीरं बीजपूरं यज्ञशेषभिन्नं विष्णवेऽनिवेदितान्नं दग्धान्नं मसूरं मांसं चेत्यष्ट विधमामिषं वर्जयेत्।

अन्यत्र तु गोछागी महिष्यन्न दुग्धं पर्युषितान्नं द्विजेभ्यः क्रीताः रसाः भूमिलवणं ताम्रपात्रस्थं गव्यं पल्वलजलं सार्थपक्वमन्नमित्यामिष गण उक्तः।

अर्थ—प्राणधारी के किसी अङ्ग का चूर्ण, चमड़े की दृति में भरा हुआ पानी, जम्बीर फल, बिजोरा, यज्ञ शेष के अतिरिक्त विष्णु को निवेदित नहीं किया हुआ अन्न, जला हुआ अन्न, मसूर

धान्य और मांस इन आठ पदार्थों का समुदाय आमिष गण कह-लाता है।

मतान्तर से आमिष गण—

गाय, बकरी, भैंसके दूध को छोड़ शेष जानवरों का दूध, बासी अन्न, ब्राह्मण से खरीदे हुए रस, जमीन पर के खारे से तैयार किया हुआ नमक, ताम्रपात्र में रक्खा हुआ पञ्च गव्य, छोटे गड्ढे में रहा हुआ जल, आत्मार्थ पकाया हुआ भोजन ये दूसरे प्रकार का आमिष गण है।

उपर्युक्त दोनों आमिष गणों में आमिष शब्द अभक्ष्य अथवा अपेय पदार्थों में प्रयुक्त हुआ है। इससे ज्ञात होता है, धर्मसिन्धु गत उपर्युक्त दो श्लोकों के निर्माण समय के पहले ही वैदिक साहित्य में आमिष शब्द का "अच्छा भोजन" यह अर्थ भूला जा चुका था। यही कारण है कि उक्त पदार्थों को आमिष का नाम देकर वर्जित बताया है।

बौद्ध साहित्य में भिक्षान्न के अर्थ में मांस आमिष शब्द का प्रयोग

बौद्ध साहित्य में आमिष मांस इत्यादि के भोजन करने सम्बन्धी अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलते हैं। इससे पाली साहित्य के अभ्यासी मान लेते हैं, कि बौद्ध धर्म में मांस खाने में दोष नहीं माना गया है। बौद्ध भिक्षुओं में मांस भक्षण का प्रचार होने

का भी यही कारण माना जाता है, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। बुद्ध ने तैयार मांस लेने का भिक्षुओं के लिये निषेध नहीं किया था, फिर भी भिक्षुओं को यह सावधानी रखने की चेतावनी अवश्य दी थी कि वह मांस मत्स्य आदि पदार्थ उनके उद्देश्य से तो तैयार नहीं करवाये गये हैं, इस बात का पूरा ध्यान रक्खें। यदि जांच करने से भिक्षु को यह पता लग जाय कि यह पदार्थ भिक्षु के लिये बनाया गया है, अथवा वह किसी से सुन ले, अथवा अपनी आंखों देख ले कि यह भिक्षु के निमित्त ही बना है, तो उसे मांस मत्स्य नहीं लेना चाहिए। जांच पड़ताल की खट पट में पड़ने के बजाय अनेक भिक्षु तो मांस मत्स्य लेने से ही दूर रहते थे।

कई भिक्षु उद्दिष्टकृत सामान्य आहार तक को न लेकर माधुकरी वृत्ति से ही अपना निर्वाह करते थे, तब कोई कोई भिक्षु मांस मत्स्य को लेते भी थे, परन्तु उनकी संख्या सीमित रहती थी। यही कारण है कि देवदत्त ने ये थोड़े से भिक्षु भी मांस मत्स्य ग्रहण न करें इसके लिये नियम बनाने का बुद्ध से अनुरोध किया था, परन्तु बुद्ध ने उसको स्वीकार नहीं किया और मांस ग्रहण के हिमायती भिक्षुओं ने देवदत्त के सम्बन्ध में झूंठी झूंठी बातें बुद्ध के कानों पहुँचा कर बुद्ध और देवदत्त के बीच विरोध की गहरी खाई बना डाली, जिसके परिणाम स्वरूप देवदत्त का प्रयत्न सफल न हो सका।

देवदत्त क्या चाहता था

बौद्ध सूत्रों में देवदत्त के सम्बन्ध में अनेक झूठी बातें उड़ा कर उसकी बुराइयां लिखी गई हैं। कहा गया है देवदत्त ने बुद्ध के पास अपने को भिक्षु संघ का नेता बनाने की मांग की थी, परन्तु बुद्ध ने अस्वीकृत कर दिया। इससे देवदत्त बुद्ध का विरोधी हो गया और उन्हें मरवाने तक की प्रवृत्तियां कर डालीं, पर बुद्ध भगवान का वह कुछ भी नहीं बिगाड़ सका। बौद्ध लेखकों की इन बातों में सत्यांश कितना होगा, यह कहना तो कठिन है पर जहां तक हम समझ पाये हैं, देवदत्त के सम्बन्ध में बौद्ध लेखकों ने बहुत ही कुरुचिपूर्ण काम किया है। देवदत्त यदि ऐसा होता जैसा कि लेखक कहते हैं तो उसके पास पांच सौ भिक्षुओं का समुदाय न होता।

बुद्ध देवदत्त के झगड़े का कारण तो जुदा ही है, राजगृह के राजा बिम्बसार के राज्य शासन काल में बुद्ध ने राजगृह में अपने धर्म का प्रचार किया था, इतना ही नहीं बल्कि राजा बिम्बसार को भी अपना अनुयायी बना डाला था। जिसके परिणाम स्वरूप राजा ने राजगृह के पास का एक उद्यान बुद्ध और उनके भिक्षुओं के रहने के लिये अर्पण कर दिया था, और उसमें अनेक भक्तों ने एक के बाद एक करके अनेक विहार भी बना डाले थे, जिनकी संख्या अठारह तक पहुँची थी। मगध में बुद्ध का धर्म-प्रचार महावीर के छद्मस्थ काल में हुआ था। जिस प्रकार बुद्ध राजगृह

में श्रेणिक (बिम्बसार) के श्रद्धास्पद बने थे, उसी प्रकार बुद्ध का शिष्य देवदत्त राजकुमार अजात शत्रु (कुणिक) का आदर पात्र बना था।

भगवान् महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद वे मगध तथा उसके आस पास के देशों में विशेष विचरे और राजगृह को अपना केन्द्र बना लिया।

राजा बिम्बसार की अन्तिम रानी और अजात शत्रु की माता चेलना महावीर की मातुलपुत्री बहन होती थी, और वह जन्म से जैन धर्म की उपासिका थी। जैन श्रमणों की उपदेश धारा और रानी चेलना की प्रेरणा से राजा बिम्बसार पिछले समय में महावीर का परमभक्त बन गया था, इतना ही नहीं उन्होंने अपने कुटुम्ब के सभी मनुष्यों को यह आज्ञा दे दी थी कि जो भी व्यक्ति जैन धर्म की दीक्षा लेना चाहे, उसे मेरी तरफ से आज्ञा और सहानुभूति है। राजा की इस सद्भावनामय अनुमति से प्रभावित हो कर कोई तेरह राजकुमारों ने श्रमण धर्म की दीक्षा लेकर, श्रमण संघ में प्रवेश किया था। बिम्बसार की मृत्यु के बाद उनकी अनेक विधवा रानियां भी गृहवास छोड़कर महावीर की श्रमणी समुदाय में दाखिल हुई थीं। बिम्बसार की मृत्यु के बाद अजातशत्रु (कुणिक) मगध का राजा बना। इस प्रकार मगध और खास कर राजगृह में जैनधर्म का प्राबल्य बढ़ जाने के बाद बुद्ध का विहार क्षेत्र राजगृह से मिट कर श्रावस्ती बना था। तथापि देवदत्त उस समय भी राजगृह में विशेष रहता था, कारण यह था कि राजा अजातशत्रु,

उनका मित्र था। जैन उपासक होने पर भी अजातशत्रु देवदत्त के सुख साधनों की तरफ ध्यान रखता था, इतना ही नहीं प्रसङ्ग पाकर राजा उनसे मिलता और उपयोगी साधन सामग्री भी भेजता रहता था। राजगृह में जैन श्रमणों के संसर्ग से और राजा अजात शत्रु के परिचय से देवदत्त के मन पर जैन श्रमणों की आचार की अमिट छाप पड़ गई थी, और वह बौद्ध संघ की कतिपय शिथिलताओं को मिटाकर उसे उच्च कोटि का बौद्ध संघ बनवाना चाहता था। इस कारण देवदत्त ने बुद्ध के आगे यह प्रस्ताव उपस्थित किया—

१. भिक्षु जिन्दगी भर आरण्यक रहें, जो गांव में रहे, उसे दोष हो।

२. जिन्दगी भर पिण्डपातिक (भिक्षा मांग कर खाने वाले) रहें जो निमन्त्रण खाये, उसे दोष हो।

३. जिन्दगी भर पांसु कूलिक (फेंके चिथड़े सीं कर पहनने वाले) रहें जो गृहस्थ के (दिये) चीवर को उपभोग करे, उसे दोष हो।

४. जिन्दगी भर वृक्ष मूलिक (वृक्ष के नीचे रहने वाले) रहें, जो छाया के नीचे जाय, वह दोषी हो।

५. जिन्दगी भर मांस मछली न खाये, जो मछली मांस खाये उसे दोष हो।

परन्तु बुद्ध ने यह कह कर प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि मैं किसी को इन नियमों के लिये बाध्य नहीं कर सकता। कोई इन नियमों के अनुसार चलना चाहे तो चल सकता है, मैं उससे विरुद्ध नहीं हूँ। पर ऐसा न करने वालों को मैं दूषित नहीं मानूंगा। बुद्ध के इस उत्तर से निराश हो देवदत्त अपने साथ वाले पांच सौ भिक्षुओं को लेकर उनसे जुदा हो गया। बुद्ध तथा देवदत्त के बीच उक्त प्रकार से उत्पन्न हुए विरोध को तूल देकर बौद्ध लेखकों ने कितना भयङ्कर बना दिया है, इसका खयाल नीचे लिखे उद्धरणों के शब्दों से आयेगा—

देवदत्तो आपायिको नेरयिको कप्पट्ठो अतेकिच्छो। कतमेहि तीहि? पापिच्छताय भिक्खवे अभिभूतो परियादिन्न चित्तो देवदत्तो आपायिको नेरयिको कप्पट्ठो अतेकिच्छो। पापमित्ताय भिक्खवे अभिभूतो परियादिन्न चित्तो देवदत्तो आपायिको नेरयिको कप्पट्ठो अतेकिच्छो। सति खो पन उत्तरिकरणीये ओरमत्तकेन विसेसाधिगमेन च अन्तरा वोसानं आपादि। इमेहि खो भिक्खवे तीहि असद्धम्मे हि अभिभूतो परियादिन्न चित्तो देवदत्तो आपायिको नेरयिको कप्पट्ठो अतेकिच्छोति।

मा जातु कोचि लोकस्मिं, पापिच्छो उपपज्जथ।
तदमिनापि जानाथ, पापिच्छानं यथागति॥
पण्डितोऽपि समञ्ञातो, भावितत्तोऽति सम्मतो।
जलं व यससा अट्ठा, देवदत्तोति मे सुतं॥

सोपमादमनुचिण्णो, आपज्ज न तथा गतं ।
अवीचि निरयं पत्तो, चतुद्वारं भयानकम् ॥

इति वुत्तक पृ० ७२-७३)

अर्थ—देवदत्त विघ्न रूप, नरक गामी, नादान, अप्रतिकार्य इन तीन कारणों से, हे भिक्षुओं पाप मित्र से पराभूत, तथा परवश चित्त वाला होकर देवदत्त विघ्न रूप, नरकगामी, नादान, अप्रतिकार्य (बना)। उत्तर करणीय (सामान्य साधन) विद्यमान होने पर भी अपर भोजन के विशेष लाभ के कारण से संघ के बीच भेद डाला। हे भिक्षुओ ! इन तीन असद्धर्मों से पराभूत तथा परवश चित्त वाला होकर देवदत्त विघ्नरूप नरकगामी नादान अप्रतिकार्य (बना)।

लोक में पाप इच्छा वाला कोई उत्पन्न मत हो और पाप इच्छा वालों की जो गति होती है वह इस से जान लो।

जो पण्डित नाम से अति प्रसिद्ध हुआ, तत्त्वज्ञ के नाते अति सम्मानित हुआ और उज्ज्वल जलोपम यश से देवदत्त यशस्वी बना, ऐसा मैंने सुना था।

वह देवदत्त प्रमाद के वश होकर तथागत के शरण में न रह कर भयानक चार द्वार वाले अवीचि नरक को पहुँचा।

भोजनार्थ में आमिषशब्द का प्रयोग

द्वे मानि भिक्खवे वे दानानि आमिस दानञ्च धम्मदानञ्च, एतदग्गं भिक्खवे इमेसं द्विन्नं दानानं यदिदं धम्मदानं।

अर्थ:—हे भिक्षुओ ! लोक में ये दो दान हैं—आमिषदान और धर्मदान, हे भिक्षुओ ! इन दो दानों में जो धर्म दान है, वह श्रेष्ठ है।

"द्वे मे भिक्खवे संविभागा आमिस संविभागो 'च' धम्म-संविभागो च एतदग्गं भिक्खवे इमे सं द्विन्नं संविभागानं यदिदं धम्म संविभागो।

अर्थ—हे भिक्षुओ ! दाय विभाग दो प्रकार के हैं. आमिष संविभाग और धर्म संविभाग, हे भिक्षुओ ! इन दो संविभागों में जो धर्म संविभाग है, वह प्रधान है।

द्वे मे भिक्खवे अनुग्गहा आमिसानुग्गहो च धम्मानुग्गहो च एतदग्गं भिक्खवे इमेसं द्विन्नं अनुग्गहानं यदिदं धम्मानुग्गहो।

अर्थ—भिक्षुओ ! ये दो प्रकार के अनुग्रह (उपकार) हैं, आमिष अनुग्रह और धर्मानुग्रह, हे भिक्षुओ ! इन दो अनुग्रहों में से जो धर्मानुग्रह है वह अग्रगामी है।

द्वे मे भिक्खवे यागा आमिस यागो च धम्म यागो च, एतद-ग्गं भिक्खवे इमेसं द्विन्नं यागानं यदिदं धम्मयागोति एतमत्थं भगवा अवो च तत्थे तं इति वुच्चति। (इतिवुत्तक पृ० ८६)

अर्थ—हे भिक्षुओ ! दो याग पूजा होते हैं आमिष याग और धर्म याग इन दो यागों में जो धर्मयागहै, हे भिक्षुओ वह सब में अग्रेसर होता है। यह अर्थ भगवान् ने कहा है, उसी प्रकार कहा जाता है।

"इतिवुत्तक" की उपर्युक्त चार पंक्तियों में दान संविभाग अनुग्रह और याग में आमिष और धर्मदान आदि का तारतम्य बताकर आमिष की अपेक्षा से धर्म को प्रधानता दी है। यहां प्रयोग में लाया गया आमिष शब्द भोजन वाचक है, इसमें कोई शङ्का नहीं हो सकती। अन्न अथवा भक्त शब्द का प्रयोग न कर आमिष शब्द को पसन्द किया इसका कारण इतना ही है कि उस समय आमिष प्रणीत भोजन (स्नग्ध) मिष्टान्न के अर्थ में व्यवहृत होता था। भगवान् बुद्ध के कहने का आशय यह है कि मिष्टान्न के दान, संविभाग, अनुग्रह और याग से भी धर्म का दान, संविभाग, अनुग्रह और याग करना श्रेष्ठ है।

इसी प्रकार "मज्झिम निकाय" के 'धम्मदायाद सुत्त' में भी भगवान् बुद्ध ने भोजन के अर्थ मे आमिष शब्द का प्रयोग करके भिक्षुओं को उपदेश दिया है। जो निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होगाः—

"धम्मदायाद में भिक्खवे भवथ, मा आमिस दायाद अत्थि में तुम्हेसु–अनुकम्पा–किंति में सावका धम्म दायाद भवेंय्युं नो आमिस दायादाति। तुम्हे च भिक्खवे आमिस दायाद भवेय्याथनो धम्म दायादा। तुम्हे पि तेन आदिस्तो भवेय्य आमिस दायदा सत्थु सावका विहरन्ति नो धम्मदायादाति। अहं पितेन आदिस्सो भवेय्यं आमिस दायाद सत्थु सावका विहरन्ति नो धम्म दायादाति तुम्हे च भिक्खवे धम्मदायादा भवेय्याथ नो आमिसदायादा, तुम्हेऽपि आदिस्सा भवेय्याथ—धम्मदायादा सत्थु सावका

विहरन्ति नो आमिस दायादाति । अहंपि तेन न आदिस्सो भवेय्य धम्मदायादा सत्थु सावका विहरन्ति नो आमिस दायादाति तस्मातिह मे भिक्खवे धम्मदायादा भवथ मा आमिसदायादा अत्थि मे तुम्हेसु अनुकम्मा किंति मे सावका धम्मदाया भवेय्यं नो आमिसदायादाति । "धम्मदायाद सुत्त" पृ० ८

अर्थः—हे भिक्षुओ ! तुम मेरे धर्म के दायाद (हिस्सेदार) बनो आमिष भोजन के दायाद न बनो, हे भिक्षुओ मेरी तुम्हारे ऊपर अनुकम्पा (दया) है, वह क्या ? कि, मेरे श्रावक (भिक्षु) धर्म के दायाद हों न कि आमिष के दायाद; हे भिक्षुओ यदि तुम आमिष-दायाद बनोगे तो तुम भी उससे लोकादेश (लोक गर्हा) के विषय बनोगे कि शास्ता के श्रावक आमिष के दायाद बन कर विचरते हैं,नकि धर्म के दायाद, और हे भिक्षुओ ! इससे मैं भी लों का देश का विषय बनूँगा कि शास्ता के श्रावक धर्म के दायाद बनकर विचरते हैं, नकि धर्म के दायाद बन कर। और हे भिक्षुओ ! तुम अगर आमिष के दायाद न बन कर धर्म के दायाद बन कर विचरोगे तो हे भिक्षुओ ! इससे तुम खुद लोकों के आदेश (प्रशंसा) के विषय बनोगे कि शास्ता के श्रावक धर्म के दायाद बन कर विचरते हैं नकि आमिष के दायाद बन कर। और हे भिक्षुओ ! इससे मैं भी लोकादेश लोकस्तुति का पात्र बनूँगा कि धर्म के दायाद बन कर शास्ता के श्रावक विचरते हैं, आमिष के दायाद नहीं। इस वास्ते हे भिक्षुओ ! तुम मेरे धर्म दायाद बनो नकि आमिष दायाद। मेरी तुम पर अनुकम्पा है, मैं चाहता हूँ कि मेरे श्रावक धर्म के दायाद बनें, नकि आमिष के दायाद।

"मज्झिम निकाय" के धम्मदायाद सुत्त के निम्नलिखित पाठ में यह भी स्पष्ट बता दिया गया है कि आमिष, पिण्डपात (भिक्षान्न भोजन) का नाम है। देखिये—

१-"इधाहं खो भिक्खवे भुत्तावी अस्सं पवारितो परिपुण्णो परियोसितो सुहिता यावदत्थं सिया च मे पिण्डपातो अतिरेक धम्मो छड्डिय धम्मो। अथ द्वे भिक्खू आगच्छेय्यु जिघच्छा दुब्बल्य परेता। त्याहं एवं वदेय्यं—अहं खो हि भिक्खवे भुत्तावी ...... पे ...... यावदत्थो, अत्थिच मे अयं पिण्डपातो अतिरेकधम्मो स च आकंखथ भुञ्जथ स के तुम्हे न भुञ्जिस्सथ इदानाहं अप्पहरिते वा छड्डेस्सामि अप्पाण के वा उदके ओपिला पेस्सामीति। तत्रेकस्स भिक्खुनो एवं अस्स—भगवा खो भुत्तावी ...... पे ...... यावदत्थो अत्थि चायं पिण्डपातो ...... पे ...... छड्डिय धम्मो। सचे मयं न भुञ्जिस्साम इदानि भगवा अप्पहरिते वा छड्डेस्सति अप्पाणके वा उदके ओपिला पेस्सति। वुत्तं खो पनेतं भगवता—धम्मदायादा मे भिक्खवे भवथ मा आमिस दायादाति। आमिसञ्ञतरं खो पनेतं यदिदं पिण्डपातो! यन्नूनाहं इमं पिण्ड-पातं अभुञ्जित्वा इमि ना जिघच्छा दुब्बल्येन एव इमं रत्ति दिवं वीति नामेय्यंति सो तं पिण्डपातं अभुञ्जित्वा तेनेव जिघच्छा दुब्बल्येन एवं त रत्ति दिवं वीति नामेय्य। अथ दुतियस्स भिक्खुनो एवं अस्स भगवा खो भुत्तावी ...... पे ...... ओपिला पेस्सति। यन्नूनाहं इमं पिण्डपात भुञ्जित्वा जिघिच्छा दुब्बल्य पटिविनेत्वा एव इमं रत्ति दिवं वीतिनामेय्यंति। सो तं पिण्डपातं

भुञ्जित्वा जिघिच्छा दुब्बल्यं पटिविनेत्वा एवं तं रत्तिं भुञ्जित्वा ·······पे·······रत्तिं दिवं वीतिनामेय्य अथ खो असु येव मे पुरिमो भिक्खू पुज्जतरो च पासंतरो च तं किस्स हेतु । तं हि तस्स भिक्खवे भिक्खुनो दीघरत्तं संतुट्ठिया सल्लेख तया सुभरतया विरिया रम्भाय संवत्तिस्सति । तस्मातिह मे भिक्खवे धम्म-दायाद भवथ मा आमिस दायाद ।

अर्थः—(बुद्ध कहते हैं) हे भिक्षुओ ! यहां मैं भोजन कर निपट चुका था, मैंने ले लिया था, और सुख में बैठा था, मेरे भिक्षान्न में से कुछ बचा था. वह छोड़ देने योग्य था । उस समय दो भिक्षु आये क्षुधाक्रान्त और दुर्बल बने हुए । उनसे मैंने कहा हे भिक्षुओ । मैं भोजन कर चुका हूँ, जितना प्रयोजन था उतना आहार मैंने ले लिया अब भिक्षान्न जो बचा हुआ है, वह फेंक देने योग्य है । अगर तुम्हारी इच्छा हो तो इसे तुम खा लो, अगर तुम न खाओगे तो मैं इसे बिना हरियाली के भूमि भाग में छुड़वा दूंगा, अथवा निर्जीव पानी में घुलवा दूंगा । बुद्ध की यह बात सुन कर उनमें-से एक भिक्षु के मन में यह विचार आया यद्यपि भगवान् भोजन कर चुके हैं इनको जितने की आवश्यकता थी उतना आहार ले लिया है अब जो आहार शेष बचा है वह फेंक देने योग्य है । इस आहार का हम भोजन न करेंगे तो भगवान् इसे अल्प हरित भूमि में छुड़वा देंगे अथवा जन्तु रहित जल में घुलवा देंगे । परन्तु भगवान् ने यह कहा है कि हे भिक्षु ओ ! तुम मेरे धर्म के दायाद बनो आमिष के दायाद न बनो ।

और यह पिण्डपात (भिक्षान्न) आमिष का ही एक प्रकार है। इसलिये मैं इस भिक्षान्न को न खाकर क्षुधा के दौर्बल्य से दिन-रात पूरा करूँगा। इस प्रकार उस भिक्षु ने उस भिक्षान्न को न खाकर क्षुधा दौर्बल्य को सहन करते हुए दिन-रात्रि व्यतीत की। अब दूसरे भिक्षु के मन में ऐसा विचार आया, भगवान् भोजन कर चुके हैं, और यह शेष भिक्षान्न अहरित भूमि में फेंकवा देंगे अथवा प्राण रहित जल में घुलवा देंगे। इस वास्ते मैं इस पिण्डपात को खाकर क्षुधा दौर्बल्य दूर कर रात्रि को सुख से व्यतीत करूँ। यह सोचकर द्वितीय भिक्षु ने उस पिण्डपात को खा लिया और क्षुधा दौर्बल्य को दूर कर रात दिन बिताया।

हे भिक्षुओ! जिस भिक्षु ने वह पिण्डपात खाकर क्षुधा दौर्बल्य को दूर कर के रात्रि दिन बिताया उससे मेरी दृष्टि में पहला भिक्षु विशेष पूज्य और विशेष प्रशंसनीय है। वह इसलिये कि हे भिक्षुओ! यह लम्बी रात उस भिक्षु ने सन्तोष से बितायी वह उत्तम अध्यवसाय, शुभ ध्यान-तत्परता और आत्मीय वीर्योल्लास से वर्तेगा। इस वास्ते कहना है, हे भिक्षुओ तुम मेरे धर्म के दायाद बनो, आमिष के नहीं।

उक्त उद्धरण में आये हुए "आमिसञ्ञतरं खो पनेतं यदिदं पिण्डपातो" इन शब्दों से यह निश्चित है कि बुद्ध के आमिष शब्द के दो अर्थ होते थे। एक तो प्राण्यङ्ग भूत मांस और दूसरा प्रणीत भोजन। भिक्षुओं को वे आमिष दायाद न बनने की बार बार, शिक्षा देते हैं। इस कारण यही हो सकता है कि बुद्ध के

लिए आने वाला भिक्षा भोजन होता था। उस भोजन के दायाद बनने वाले भिक्षु चटोरे बन जायेंगे और आचाम जैसा साधारण भोजन छोड़ कर वे प्रणीत भोजन के पीछे पड़ेंगे। इसलिये बुद्ध उन्हें बार २ कहते थे कि तुम मेरा भोजन खाने की आदत न रक्खो, अगर तुम्हें मेरी बराबरी करना है तो धर्म-प्रचार में करो। भोजन में नहीं। धम्मदायाद सुत्त का यही तात्पर्य है।

पालीकोश "अभिधानप्पदीपिका" में अन्नाद (अन्न से बना हुआ खाद्य पदार्थ) और आमिष ये दोनों नाम मांस के पर्याय बताये हैं। इससे भी अन्नाद और आमिष दोनों परस्पर एक दूसरे के पर्याय हैं और इन दोनों का पर्याय मांस है। इस लिये जहां आमिष और मांस शब्द के प्रयोग आते हैं, वहां प्रकरणानुसार अन्नमय खाद्य और तृतीय धातु प्राणि मांस ये दोनों अर्थ किये जा सकते हैं परन्तु बुद्ध के निर्वाणानन्तर यह तात्पर्य धीरे धीरे भूला जाने लगा और सैकड़ों वर्षों के बाद आमिष का अर्थ प्राण्यङ्ग मात्र रह जाने से बौद्ध धर्मियों में मांस भक्षण का प्रचार बहुत बढ़ गया। केवल बौद्धों में ही नहीं जैन और वैदिक प्रचार सम्प्रदायों में भी मांस, आमिष आदि प्राण्यङ्ग मांस को सूचन करने वाले शब्द पूर्वकाल में फलों मेवों और पिष्ट से बनाये हुए प्रणीत भोजनों को भी सूचित करते थे। इस विषय की यथास्थान विचारणा हो चुकी है, अतः यहां अधिक लिखना पुनरुक्ति मात्र होगा।

कोशों, वेदों, जैन सूत्रों और बौद्ध ग्रन्थों के उद्धरणों के आधार पर मांस मत्स्य आदि शब्दों के अर्थ विवेचन में हमें कथित् पुनरुक्ति करनी पड़ी है, इसका कारण मात्र शब्दों के भूले हुए अर्थों को समझाना है।

इस मांस विषयक विवेचना से विद्वान पाठक गण समझ सकेंगे कि मांस आदि शब्दों का वर्त्तमान कालीन अर्थ करके डा० हर्मन जैकोबी, पटेल गोपाल दास और अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने कैसी अक्षम्य भूल की है। हमने इन विद्वानों के विचारों का इस अध्याय में प्रतिवाद किया है। फिर भी इसके सम्बन्ध में कहने की बहुत सी बातें इस अध्याय में नहीं आ सकी हैं। अतः इस विषय में रस रखने वाले पाठकों से हमारा अनुरोध है कि "मानव भोज्य मीमांसा" के प्रथम चतुर्थ, पञ्चम, और षष्ठ इन अध्यायों को पढ़ने से ही इस तृतीय अध्याय का उद्देश्य पूरा हो सकेगा।

× इति तृतीयोऽध्यायः ×

(तृतीयोऽध्याय समाप्त)

मानव भोज्य मीमांसायाम्

चतुर्थोऽध्यायः

प्रासुक भोजी जैन श्रमण

अकृताकारितान्नादि माधुकर्या-विधायिनः ।
महर्षेश्चरितं वक्ष्ये, निर्ग्रन्थस्य महात्मनः ॥१॥

अर्थ—अकृत, अकारित, अन्न, पानी आदि की माधुकरी वृत्ति करने वाले महात्मा निर्ग्रन्थ महर्षि का चरित्र कहूँगा ।

१. जैन श्रमण की जीवन चर्या

पूर्व अध्यायों में मनुष्य का भोजन और यज्ञादि प्रसङ्गों पर किया जाने वाला आपवादिक भोजन आदि का निरूपण किया गया है । इस अध्याय में हम जैन सम्प्रदाय के श्रमणों (साधुओं) की जीवनचर्या का संक्षेप से निरूपण करेंगे ।

योग्यता

गृहस्थाश्रम से निकल कर जैन श्रमण बनने की इच्छा वाले मनुष्य में अनेक प्रकार की योग्यतायें होनी चाहिए-ऐसा जैन शास्त्रकारों ने प्रतिपादित किया है। जिसका संक्षिप्त सार यह है।

दीक्षार्थी की उम्र आठ वर्ष के ऊपर और साठ के नीचे की होनी चाहिए।

वह पञ्चेन्द्रिय सम्पन्न और शरीर में अविकल होना चाहिए।
वह जाति अथवा कुल से निन्दित (अस्पृश्य) न होना चाहिए।
वह किसी का क्रीत दास न होना चाहिए।
वह किसी का कर्जदार न होना चाहिए।
वह क्लीब (नपुंसक) न होना चाहिए।

इत्यादि शास्त्रोक्त अयोग्यताओं का विचार कर संसार से विरक्त योग्य मनुष्य को जैन श्रमण की प्रव्रज्या दी जाती है। दीक्षार्थी को कम से कम छः मास तक श्रमणों के संसर्ग में रक्खा जाता है। इस समय के बीच वह योग्य शास्त्र का अध्ययन करता है, और श्रमणों की दिनचर्या आदि का भी मनन किया करता है। छः मास के बाद जब प्रव्रज्या देने का शुभ समय निकट आता है, उस समय अनेक प्रश्नों द्वारा उसके वैराग्य की परीक्षा करके उसे सामायिक चारित्र प्रदान किया जाता है।

सामायिक चारित्र का प्रतिज्ञा पाठ

करेमिभन्ते। सामाइयं सव्वं सावज्ज जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि

करंतमपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि[1]।

इस प्रकार सर्व सावद्य निवृत्ति रूप सर्व विरति सामायिक को स्वीकार करने के बाद नूतन श्रमण दैनिक रात्रिक, पाक्षिक, वार्षिक कृत्यों के निरूपक "आवश्यक सूत्र" तथा आहार विहार सम्बन्धी ज्ञान कराने वाले "दश वैकालिक" सूत्र के आदिम चार अध्यायों को कण्ठस्थ करते हैं। फिर उन्हें छेदोपस्थानीय नामक द्वितीय चारित्र दिया जाता है, जिसको आज की भाषा में बड़ी दीक्षा कहते हैं।

छेदोपस्थापना

छेदोपस्थापनीय चारित्र देते समय गुरु नूतन श्रमण को पञ्च महाव्रत तथा रात्रि भोजन विरति के प्रतिज्ञा पाठ सुनाते हैं। उन पूरे पाठों को यहां न देकर उनका सारांश मात्र नीचे देते हैं।

१—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।

२—सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं।

३—सव्वाओ अदिन्ना दानाओ वेरमणं।

४—सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।

---

१. **संस्कृतच्छाया**—करोमि भदन्त। सामायिकं सर्वं सावद्ययोगं प्रत्याचक्षे यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं नानुजानामि तस्य (तस्माद्) भदन्त। प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मीयं व्युत्सृजामि।

५—सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।

६—सव्वाओ राइ वो अणाओ वेरमणं ।

अर्थ—१. मैं सर्व प्राणियों की हिंसा से निवृत्त हुआ हूँ ।

२. मैं सर्व प्रकार के असत्य वचन बोलने से निवृत्त हुआ हूँ ।

३. मैं सर्व प्रकार के अदत्तादान (चौर्य) से निवृत्त हुआ हूँ ।

४. मैं सर्व प्रकार के मैथुन (स्त्री संग) से निवृत्त हुआ हूँ ।

५. मैं सर्व प्रकार के परिग्रह से निवृत्त हुआ हूँ ।

६. मैं सर्व प्रकार के रात्रि भोजन से निवृत्त हुआ हूँ ।

उपर्युक्त छः व्रत प्रतिज्ञाओं में से पहली पांच प्रतिज्ञायें महाव्रत नाम से प्रख्यात हैं । अन्तिम प्रतिज्ञा का विषय रात्रि-भोजन है, इसकी गणना महाव्रतों में नहीं है । वह व्रतमात्र कहलाता है ।

नूतन श्रमण का मण्डली प्रवेश

उपस्थापना प्राप्त करने के बाद नूतन श्रमण सात दिन तक एक बार रूक्ष भोजन करता है, तब वह श्रमणों की प्रत्येक मण्डली में प्रवेश कर सकता है । वे मण्डलियां सात हैं जो नीचे की गाथा में निर्दिष्ट की गई हैं ।

सुत्ते १, अत्थे २, भोयण ३, काले ४, आवस्सए अ ५, सज्झाए।
६, संथारे ७, चेव तहा सत्तेया मंडली जइणो ॥६१॥

अर्थ—सूत्र मण्डली १, अर्थ मण्डली २, भोजन मण्डली ३, काल मण्डली ४, आवश्यक मण्डली ५, स्वाध्याय मण्डली ६, और

संस्तारक मण्डली ७, साधु के प्रवेश योग्य ये सात मण्डलियां होती हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि जब तक नव्य श्रमण उपस्थापना प्राप्त करके सात आयंबिल नहीं करता, तब तक वह सूत्र पढ़ने वाले श्रमणों, अर्थ सुनने वाले श्रमणों के साथ बैठकर सूत्र नहीं पढ़ सकता, अर्थ नहीं सुन सकता। इसी प्रकार अन्य मण्डलियों के विषय में भी जान लेना चाहिए।

बाल श्रमणों को उपदेश

दश वैकालिक सूत्र के कर्ता श्री शैयम्भव सूरिजी ने अपने पुत्र और शिष्य बालमुनि मनक को प्रव्रज्या देकर निम्न प्रकार से उपदेश दिया था।—

धम्मो मंगलमुक्किठं, अहिंसा संयमो तवो।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥
जहा दुम्मस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पयं ॥२॥
एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्ते सणेरया ॥३॥
वयं च वित्तिं लब्भामो, नय कोइ उवहम्मइ।
अहा गडेसु रीयन्ते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥४॥
महुगार समा बुद्धा जे भवन्ति अणिस्सिया।
नाणा पिंडरया दंता, तेणवुच्चन्ति साहुणोत्ति बेमि ॥५॥

अर्थ—अहिंसा, संयम, और तप यह धर्म है, और उत्कृष्ट मङ्गल है, जिसके मन में धर्म बसता है उसको देव भी नमस्कार करते हैं ॥१॥

जैसे वृक्ष लताओं के पुष्पों पर बैठ कर भौंरा उनका मकरन्द रस पीता है, पुष्पों को पीडित नहीं करता, और रस-पान से अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करता है। इसी प्रकार लोक में जो विगत तृष्णा श्रमण हैं, जो साधु कहलाते हैं, पुष्पों पर भौंरों की तरह गृहस्थों द्वारा दिये जाने वाले भोजन की तलाश में तत्पर रहते हैं। ॥ २-३ ॥

हम भी गृहस्थों द्वारा अपने लिये बनाये हुए भोजन पानी में से थोड़ा थोड़ा प्राप्त कर अपनी जीविका प्राप्त करते हैं, हमारी इस वृत्ति से किसी को दुःख नहीं होता, जैसे भौंरों से पुष्पों को नहीं होता ॥४॥

जो ज्ञानी हैं, निश्रा हीन हैं, मधुकर समान अनेक घर के अन्न पिण्ड की खोज में रहते हैं, और इन्द्रियों को वश में रखते हैं, उसी कारण वह साधु कहलाते हैं ॥५॥

जैन निर्ग्रन्थों का सामान्य आचार

यों तो सारे "दशवैकालिक सूत्र" तथा "आचाराङ्ग सूत्र" निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार विधान से ही भरे पड़े हैं। उन सबका सारांश भी इस इस स्थल पर लिखना अशक्य है, तथापि यहां पर "दशवैकालिक" के तृतीय अध्ययन की गाथाओं से जैन श्रमण

के सामान्य आचार का दिग्दर्शन कराना प्रासङ्गिक होगा। वे गाथायें क्रमशः नीचे दी जाती हैं।

संजमे सुठियप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं।
तेसिमेय मणाइन्नं, निग्गन्थाणं महेसिणं ॥१॥

अर्थ—जो संयम-मार्ग में सुस्थित है, संसार के प्रलोभनों से मुक्त है, सभी त्रस-स्थावर प्राणियों के रक्षक हैं, उन निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिये नीचे के कार्य अनाचीर्ण (अकर्त्तव्य) है।

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणिय।
राइभत्ते सिणाणेय, गंध मल्लेय वीयणे ॥२॥
संनिहिं गिहि मत्तेय, रायपिंडे किमिच्छए।
संवाहणा दंत पहोयणाय, संपुच्छणा देहपलोयणाय ॥३॥
अट्ठावएयनालीए, छत्तस्सय धारणाट्ठाए।
ते गिच्छं पाहणाप्पाए, समारम्भं च जोइणो ॥४॥
सिज्जायर पिंडं च, आसं दीपलियं कये।
गिहिंतर निसिज्जा य, गायस्सु वट्टणाणिय ॥५॥
गिहिणो वेआवडियं, जाय आजीव वत्तिया।
तत्ता निव्वुड भोइत्तं, आउरस्सरणाणिय ॥६॥
मूलए सिंगवेरेय, इच्छुखंडे अनिव्वुडे।
कंदे मूले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ॥७॥
सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणेय आमए।
सामुद्दे पंसु खारेय, काला लोणेय आमए ॥८॥

धूवणेत्ति वमणेय, वत्थी कम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणेय, गाया भंग विभूषणे ॥९॥
सव्वमेयमणाइन्नं, निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमम्मि य जुत्ताणं, लहुभूय विहारिणं ॥१०॥

अर्थ—औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाया हुआ) क्रीत-कृत (उनके निमित्त खरीदा हुआ) नियाग (आमन्त्रित) पिण्ड अभिहृत (सामने लाया हुआ) और रात्रि भक्त (रात्रि भोजन) इत्यादि प्रकार के आहार निग्रन्थ श्रमणों को अग्राह्य हैं। तथा स्नान गन्ध पुष्पमाला वायु बीजन (पंखा) सन्निधि (पास में बासी रखना) गृहस्थामत्र (गृहस्थ के बर्त्तन में भोजन) राज-पिण्ड (अभिषिक्त राजा के घर का आहार) किमिच्छक (क्या चाहते हो यह कह कर दिया जाने वाला) संवाहन (शरीर मर्दन) दन्त प्रधावन, सांसारिक कार्य सम्बन्धी प्रश्न देह प्रलोकना (काच आदि में मुख शरीर आदि का देखना) अष्टापद (जुआ) खेलना नालिका (द्यूत क्रीडा विशेष) छत्रधारण (निरर्थक शिर पर छत्र धारण करना) चिकित्सा (रोग की दवा करना) उपानह (पैरों में जूता पहनना) ज्योतिः समारम्भ (अग्नि जलाना) शैय्यातर पिण्ड (उपाश्रय के मालिक के घर का आहार) आसनन्दीय (सूत की रस्सी से अथवा बेंत की छाल से बनी हुई कुर्सी पर बैठना) पर्यङ्क (पलंग पर बैठना सोना) गृहान्तर निषद्या (दो घरों के बीच अथवा बस्ती वाले गृहस्थ के घर में आसन लगाना) कायोद्वर्त्तन (शरीर पर से मैल हटाना अथवा सुगन्धित पदार्थ

से उबटना) गृहस्थ वैयावृत्य (गृहस्थ के कार्यों में मदद करना) आजीववृत्तिता (जाति कुल शिल्पादि द्वारा आजीविका) तथा निवृ त्त भोजित्व (तपे हुए अर्द्धनिष्पन्न आहार पानी का भोजन) आतुर शरण (थके मांदे गृहस्थों को आश्रय देना) अप्रासुक मूली अदरक गन्ने का टुकड़ा और सचित्त कन्द मूल और कच्चे फल तथा बीज सौवर्चल, सैन्धव लवण, कच्चा रोम लवण, तथा समुद्र क्षार, पांसु क्षार और कच्चा काला नमक, ये सब श्रमण को अग्राह्य हैं।

धूपन (वस्त्र आदि को सुगन्धि धोये से धुपाना) वमन (दवा के प्रयोग से उल्टी करना) वस्ती कर्म (नालिकादि द्वारा वस्ती भाग में तैलादि स्नेह चढ़ाना) विरेचन (रेचक द्रव्य द्वारा दस्त लगाना) अञ्जन (नेत्रों में काजल लगाना) दन्तवन (दातुन करना) गात्राभ्यंग (तैलादि से शरीर के मालिश करना) विभूषण (शोभा निमित्त किसी भी प्रकार के शारीरिक संस्कार) संयम से संयुक्त और निष्परिग्रह होकर विचरने वाले निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिये ये सभी बातें अनाचीर्ण (अनुपादेय) हैं।

पंचासव परिण्णाया, तिगुत्ता छ सुसंजया।
पंच निग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो॥११॥
आयावयंति गिम्हेसु, हेमन्तेसु अवाउडा।
वासासु परि संलीणा, संजया सुसमाहिया॥१२॥
परीसह रिउदंता, धूअमोहा जिअंदिया।

सव्वदुक्ख पहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो ॥१३॥
दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहेत्तुय ।
केइत्थ देवलोयेसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥१४॥
खवित्ता पुव्व कम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिणिव्वुडेतिबेमि ॥१५॥

अर्थ—पञ्चास्रव परिज्ञाता (पांच आस्रवों को जिन्होंने छोड़ दिया है) त्रिगुप्त (मन वचन काय को गोपने वाले) षट् संयम (षट् जीव निकायों का रक्षण करने वाले) पंच निग्रहण (पांच इन्द्रियों का निग्रह करने वाले) धीर (धैर्यवान्) निर्ग्रन्थ (बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त) ऋजुदर्शी (सब प्राणियों को सरल भाव से देखने वाले) ऐसे निर्ग्रन्थ श्रमण ग्रीष्म ऋतुओं में सूर्य का ताप सहते हैं, शीत ऋतुओं में खुले शरीर और वर्षा ऋतुओं में मकानों अथवा गुफाओं में आश्रय लेकर संयम रखते हुए समाधि पूर्वक रहते हैं ।

परिषह—रूप शत्रुओं को दमन करने वाले, मोह को जीतने वाले और जो जितेन्द्रिय हैं, वे महर्षि सर्व दुःखों का क्षय करने के लिये पुरुषार्थ करते हैं । दुष्कर कामों को करके दुस्सह परिषहों को सह कर कई देव लोकों में उत्पन्न होते हैं । तब कई कर्म रूपी रजों को दूर करके सिद्धि को प्राप्त होते हैं, संयम और तपों द्वारा पूर्व भवोपार्जित कर्मों का क्षय कर सर्व जीवों के रक्षक कर्ममुक्त होकर मोक्ष मार्ग को प्राप्त हुए ।

जैन श्रमणों की ओघ (सामाचारी)

जैन श्रमणों के नित्य तथा नैमित्तिक आचार मार्गों में की जाने वाली प्रवृत्ति को सामाचारी कहते हैं। यों तो अनेक विध समाचारियां हैं, यहां हम उन सामाचारियों का निरूपण करते हैं कि जो दिन में बार बार करने का प्रसंग आता है। इसी लिये इस सामाचारी को चक्रवाल सामाचारी कहते हैं। चक्रवाल सामाचारी नीचे लिखे मुजब दश प्रकार की होती हैं—

इच्छा१, मिच्छा२, तहक्कारो३, आवस्सियाय४, निसीहिया।५।
आपुच्छणाय६, पडिपुच्छा७, छंदणाय८, निमंतणा९ ॥४९॥
उव संपयाय १०, काले, सामाचारी भवे दस विहाउ।
एमाइ साहु किच्चं, कुज्जा समयाणु सारेणं ॥५०॥

अर्थ—इच्छाकार १, मिथ्याकार २, तथाकार ३, आवश्यकी ४ नैषेधिकी ५, आपृच्छा ६, प्रतिपृच्छा ७, छंदना ८, निमन्त्रणा ९, उपसम्पदा १०, यह दस प्रकार की सामाचारी होती है, यह सामाचारी रूपकृत्य, साधु को समय के अनुसार करना चाहिए।

१ इच्छाकार

जैन श्रमण को किसी भी काम में प्रवृत्ति कराने में उसकी इच्छा का अनुसरण किया जाता है। शिष्य तो क्या गुरु भी अपने शिष्य से कोई काम लेते समय उसे कहते हैं—"इच्छाकारेण (इच्छया) अमुक श्रमण" तुम अमुक कार्य करोगे इस पर उसके स्वीकार के रूप में शिष्य कहता है—"तथेति"।

२ मिथ्याकार—

साधु से कोई भी मानसिक, वाचिक, कायिक, अपराध हो जाने पर उसे तुरन्त "मिच्छा मो दुक्कडं" (मिथ्या मे दुष्कृतम्) अर्थात मेरा यह अपराध मिथ्या हो, इस प्रकार उसे भूल का पछतावा करना होता है।

३ तहत्ति (तथाकार)

गुरु अथवा अपने से किसी बड़े श्रमण के कार्य-विषयक सूचना करने पर उसका स्वीकार करता हुआ साधु कहता है तहत्ति (तथेति) अर्थात वैसा ही करूंगा।

४ आवस्सिही (आवश्यकी)

श्रमण किसी जरूरी कार्य के लिये अपने स्थान से बाहर निकलता है, तब वह "आवस्सिही" (आवश्यकी) कहकर निकलता है क्योंकि श्रमण को निष्कारण भ्रमण निषिद्ध होने से वह इससे सूचित करता है कि मैं आवश्यक कार्य के लिये जा रहा हूँ।

५ निस्सिही (नैषेधिकी)

साधु आवश्यक कार्य से लौटकर अपने उपाश्रय में आता है तब "निस्सिही" (नैषेधिकी) कहकर स्थान में प्रवेश करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह जिस आवश्यक कार्य से बाहर गया था, उसको करके अब वह भ्रमण से निवृत्त हो गया।

६—आपुच्छणा (आपृच्छा)

जैन श्रमण कोई भी खास कार्य अपने नायक को पूछे बिना नहीं करता। इसलिये जो काम उसको करना आवश्यक है उसको करने के पहले वह अपने नेता को पूछता है कि भगवन् ! मैं अमुक काम करूँ ? गुरु की आज्ञा प्राप्त होने पर वह उस कार्य की प्रवृत्ति में लगता है।

७—पडिपुच्छा (प्रतिपृच्छा)

जिस काम के करने के लिये श्रमण ने अपने बड़े से प्रथम पूछ कर आज्ञा प्राप्त करली होती है, उसी काम को प्रारम्भ करने के समय फिर पूछना उसका नाम प्रतिपृच्छा है, क्योंकि गुरु की आज्ञा प्राप्त करने के बाद कुछ समय तो निकल ही जाता है और कोई अन्य जरूरी कार्य भी उपस्थित हो सकता है, इस कारण तात्कालिक पृच्छा से आवश्यक नये काम में गुरु उसे रोक सके।

८—छंदणा (छंदना)

भिक्षाचर्या में जाते समय श्रमण अन्य श्रमणों को पूछता है, आपकी इच्छा कुछ मंगवाने की हो तो कहो मैं लेता आऊंगा, इसका नाम छंदना है।

९—"निमंतणा" (निमन्त्रणा)

भिक्षान्न लेकर आने के बाद आलोचना आदि कर के आहार लाने वाला साधु अपने गुरु अथवा अन्य साधुओं को अहार

बताकर निमन्त्रण करता है कि इसमें से कुछ लीजिये, इसका निमन्त्रणा समाचारी कहते हैं।

१०—"उपसंपया" (उपसंपदा)

उपसम्पदा अनेक प्रकार की होती है, ज्ञानोपसम्पदा, दर्शनोपसम्पदा, चारित्रोपसम्पदा, मार्गोपसम्पदा। ज्ञान विशेष पढ़ने के निमित्त दर्शन प्रभावक शास्त्रों के पढने के निमित्त, चारित्र्य (विशेष शुद्ध चारित्र पालने किसी किसी तपस्वी की सेवा करने आदि के) निमित्त, और लम्बे विहार के निमित्त इनके जानने वालों के आश्रय में रहना इसका नाम उपसम्पदा सामाचारी है।

जैन श्रमणों का विहार क्षेत्र

जैन सूत्रों के निर्माण काल में नीचे लिखे देशों को भूमि आर्य क्षेत्र माना जाता था, और जैन श्रमण श्रमणियों को उसी आर्यक्षेत्र में विहार करने की आज्ञा थी। इन देशों के बाहर के चारों तरफ की भूमि को जैनशास्त्रों में अनार्य भूमि माना है, और वहां जैन श्रमणों का विहार निषिद्ध किया है। कल्प में आर्य देशों तथा उनकी राजधानियों का सूचन करने वाली निम्नलिखित गाथायें उपलब्ध होती हैं।

रायगिह मगहचम्पा, अंगा तह तामलिति वंगाय।
कंचणपुरं कलिंगा, वाराणसि चेव कासीये॥
साकेत कोसला गय, पुरं च कुरु सोरियं कुसट्टाय।
कंप्पिलं पंचाला, अहिछत्ता जंगला चेव॥

बार वईय सुरट्ठा, विदेह मिहिलाय वच्छ कोसंबी ।
नंदिपुरं संडिल्ला, भद्दिल पुरमेव मलयाय ॥
वेराढ़ मच्छवरणा, अच्छा तह मत्तिया वइ दसन्ना ।
सुत्ती वईये चेदी, वीय भयं सिन्धु सोवीरा ॥
महुराय सूरसेणा, पावा भंगीय मास पुरिवट्टा ।
सावत्थीय कुणाला, कोड़ी वरिमं च लाढाय ॥
सेय विया विय नगरी, केगइ अद्धं च आरियं भणियं ।
जत्थु पत्ति जिणाणं, चक्कीणं रामकण्हाणं ॥ ३२६३ ॥
(भागे ३, प्र० उद्दे० प०–९१३)

अर्थ—इन गाथाओं के आधार से आर्य देशों तथा उनकी राजधानियों के नामों की सूची मात्र देते हैं ।—

मगध–राजगृह अङ्ग–चम्पा, वङ्ग–ताम्र लिप्ति, कलिङ्ग–काञ्चनपुर, काशी–वाराणसी, कोशल–साकेत, कुरु–गजपुर, कुशार्त–सौर्य्यपुर, पाञ्चाल–काम्पिल्य, जाङ्गल–अहिछत्रा, सौराष्ट्र–द्वारवती विदेह–मिथिला, वत्स–कौशाम्बी, शाण्डिल्य–नन्दिपुर, मलय–भद्दिलपुर, मत्स्य–वैराट, अच्छ–वरणा, दशार्ण–मृत्तिकावती, चेदी–शुक्तिमती, सिन्धु सौवीर–वीतभय, शूरसेन–मथुरा, भंगी–पावा, वट्ट–मासपुरी, कुणाल–श्रावस्ती, लाट–कोटिवर्ष, कैकयार्द्ध–श्वेतविका ।

उपर्युक्त पचीस देश पूरे और आधा कैकय देश आर्य क्षेत्र कहा गया है, जहां पर जिनों, चक्रवर्त्तियों, बलदेवों और वासुदेवों का जन्म होता है ।

जैन श्रमणों के विहार-क्षेत्र का जो यह मर्यादा बांधी है, उसका मुख्य कारण उन्हें मांस मत्स्य आदि अभक्ष्य भोजन से बचाना है, क्योंकि आर्यभूमि के बाहर अनार्य लोग बसते थे, उन में मांस मत्स्य खाने का अनिवारित प्रचार था। यद्यपि बौद्ध भिक्षु इस अनार्य भूमि में भी अपने धर्म का प्रचार करते थे परन्तु उन्हें भोजन पानी की इतनी कठिनाइयाँ नहीं पड़ती थी जितनी जैन श्रमणों को।

व्यवहार-सूत्र के भाष्य में यह उल्लेख मिलता है कि जैन श्रमण को किसी कारण से अनार्य देश में जाना पड़े तो उसे बौद्ध भिक्षु का वेष पहन कर बौद्ध भिक्षु का साथ करना चाहिए और अपने लिये आहार पानी स्वयं लाना चाहिए। यदि उसे दुर्भिक्षादि के कारण से आहार न मिले तो बौद्ध भिक्षुओं के साथ भोजन-शालादि में जाकर भोजन करना चाहिए। कन्द मूल मेरे शरीर के लिये अहित कर हैं, इस लिये इन्हें न परोसे यह कहने पर भी अगर आहार देने वाला मांस आदि उसके पात्र में डाल दे तो पात्र लेकर वहां से दूसरे स्थान पर चला जाय और अभक्ष्य द्रव्य को पात्र से निकाल कर निर्जिव स्थान में रख दे और शुद्ध द्रव्य का आहार करे। इस वस्तु का सूचन करने वाली भाष्य की डेढ़ गाथा तथा उसकी टीका नीचे दी जाती है।—

देसंतर संकमणं, भिक्खुगमादी कुलिंगेणं ।
भावेति पिंडवाति त्तणेण, छेत्तुं च दब्वइ अपणो॥
कंदादि पुग्गलाणय अकारगं एय पडि सेहो ।

टीका—तथा आत्मानं जनेभ्यः पिण्डपातित्वेन भावयति ततो भिक्षा परिभ्रमणेन जीवति अथावमौदर्यदोषतः परिपूर्णो न भवति, ततो दानशालायां भिक्षुकादिभिः सह पंक्त्यां समुपविशति, ततः परिपाट्या परिवेषणे जाते सति–"अपत्ते इति" अत्र प्राकृतत्वाद् यकार लोपः। अयं पात्रे तद् गृहीत्वा अन्यत्र विविक्ते प्रदेशे समुद्दिशति। अथान्यत्र गत्वा समुद्देशकरणे तेषां काचित् शङ्का सम्भाव्यते। ततो भिक्षुकादिभिः एव सह पंक्त्योपविष्टः सन् समुद्दिशति। तत्र यदि सचित्तं कन्दादिपुद्गलं वा मांसापरपर्यायं परिवेषकः परिवेषयति। तदा ममेदमकारकं वैद्यो न प्रतिषिद्धमिति वदता तेषां कन्दादीनां पुद्गलस्य प्रतिषेधः कर्त्तव्यः। पं० १२१

अह पुण रूसेज्जा ही तो घेत्तुं विगिंचए जहा विहिणा।
एवं तु तहिं जयणं कुज्जा ही कारणागाढे॥
सेवउ मा व वयाणं, अइयारं तहवि देंति से मूलम्।
विगडा सव जल-मज्जेउ, कहं तु नावा न बोडेज्जा॥

अर्थ—महाव्रतों में दोष लगाये या न लगाये, परन्तु उक्त रीति से बौद्ध भिक्षुओं के साथ उनका वेष धारण कर उनके साथ फिरने वाले जैन भिक्षु को जब वह वापस अपने गुरु के पास आये तब मूल से नई उपस्थापना प्रदान करके समुदाय में लेना, चाहिये क्योंकि प्रकट छिद्रवाली नौका बैठने वालों को जल में डुबा देती है। इसी तरह श्रमण धर्म के विपरीत आचरण करने वाले जैन श्रमण को कड़ा दण्ड दिये बिना मर्यादा नष्ट हो जाती है।

विहार चर्या

षट् निकाय—

पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउ जीवा तहा गणी,
वाउ जीवा पुढो सत्ता, तण रुक्खा सबीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोई विज्जई ॥८॥
सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिले हिया।
सव्वे अक्कंत दुःखायो, अतो सव्वे न हिंसया ॥९॥

अर्थ—पृथ्वीकाय के जीव पृथ्वी पर रहे हुए जीवों से पृथक हैं, अप्काय और अग्निकाय के जीव भी इन पर देखे जाने वाले चलते फिरते जीवों से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार वायु तथा हरियाली वनस्पतियों के जीव उन पर रेंगने वाले कीट पतङ्गों से भिन्न होते हैं।

इनके अतिरिक्त छठा त्रस (चलने फिरने वाले) जीवों का निकाय है। इन छः निकायों के अतिरिक्त और कोई जीव-निकाय नहीं है ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् निर्ग्रन्थ भिक्षु सर्व उपायों से इनको दृष्टि में रक्खे, क्योंकि सर्व निकाय के प्राणी दुःख को नहीं चाहते और सब मरण से डरते हैं, अतः किसी को पीड़ित न करे, न उनकी हिंसा करे ॥९॥

प्रतिस्रोत गमन

अणुसो असुओ लोओ पडिसोओ आसवो सुविहिआणं ।
अणुसो ओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥३॥

तम्हा आयार परक्कमेणं संवरसमाहिबहुलेणं ।
चारिआ गुणा अ नियमा अ, हुन्ति साहूण दट्ठव्वा ॥४॥

अनिए अ वासो समुआण, चरिआ अन्नाय उंछं पयरिक्कया अ ।
अप्पो वही कलह विवज्जणा अ विहार चरिआ इसिणं पसत्था ५

आइन्नओ माण विवज्जणा अ, ओसन्न दिट्ठाहड भत्तपाणे
मं सट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू, तज्जाय संसट्ठ जई जइज्जा ॥६
अमज्जमंसासि अमच्छरीया, अभिक्खणं निव्विगइं गयाय ।
अभिक्खणं काउसग्गकारी, सज्झाय जोगे पयओ हविज्जा॥७
ण पडिन्न विज्जा सयणा सणाइं, सिज्जं निसिज्जं तहभत्तपाणं ।
गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिं पि कुज्जा ॥८॥
गिहिणो वेआ वडिअं न कुज्जा, अभिवायणवन्दण पूअणंवा ।
असंकिलिट्ठे हिं समं वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी९
णया लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुण ओ समं वा ।
इक्कोवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो।१०

अर्थ—सुखात्मक लोक अनुस्रोत होता है, तब आस्रव त्यागादि इसके विपरीत सुविहितों के लिये प्रतिस्रोत होता है। अनुस्रोत संसार है तब प्रतिस्रोत संसार का पार उतरना है। इस लिये

ज्ञानादि आचारों के आराधन में पराक्रम करने और संवर समाधि में विशेष लीन रहने से साधुओं की चर्या, गुण और नियम देखने योग्य बनते हैं ॥ ३-४ ॥

अनियत स्थान में वास, सामुदायिक भिक्षाचर्या, शिलोञ्छवृत्ति प्रतिरिक्तता, (निर्जनता), अल्पोपधि (जरूरत के अतिरिक्त धार्मिक उपकरणों को भी न रखना) कलह का त्याग, इस प्रकार की श्रमणों की विहारचर्या प्रशंसनीय होती है ॥५॥

जो स्थान जनसंमर्दादि से आकीर्ण हो, तथा जहां जाने से श्रमण की लघुता हो, उन स्थानों को वर्जित करना चाहिए। प्रायः दृष्ट स्थान से लाये हुए भात पानी को संसृष्टकल्प से अर्थात पहले ही से भोजन पानी से खरण्टित वर्त्तन से तथा उसी पदार्थ से खरण्टित दायक के हाथ से लेने का साधु यत्न करे ॥६॥

साधु को अमद्यपायी अमांसाशी, और अमत्सरी होना चाहिए, बार बार विकृति त्यागी, कायोत्सर्गकारी, और स्वाध्याय ध्यान में प्रयत्नवान् होना चाहिए ॥७॥

साधु मासकल्पादि की समाप्ति में विहार करते समय शयन, आसन, शय्या, निषद्या और भक्त पान को अपने लिये रख छोडने की गृहस्थ को प्रतिज्ञा न कराये और न ग्राम, कुल, नगर तथा देश पर अपना ममत्व रक्खे ॥८॥

मुनि गृहस्थ के कामों में सहायक न बने, न गृहस्थ का अभि-वादन वन्दन और पूजन करे, साधु को असंक्लिष्ट परिणामी अर्थात्

शुभ परिणाम वाले मनुष्यों के साथ रहना चाहिए, जिससे कि उसके चारित्र की हानि न हो ॥९॥

जैन श्रमण को अपने से अधिक गुणवान् अथवा समान गुणवान् योग्य सहायक न मिले तो पापों से दूर रहता और काम विषयों में आसक्त न होता हुआ वह अकेला भी विचरे ॥१०॥

संवच्छरं चावि परं पमाणं बीअं च वासं न तहिं वसिज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ११

अर्थ—जिस क्षेत्र में वर्षा चातुर्मास बिताया हो तथा जिस क्षेत्र में मास कल्प किया हो उसी क्षेत्र में भिक्षु को दूसरा वर्षा चातुर्मास तथा दूसरा मास कल्प नहीं करना चाहिए, यदि खास कारण से वहां रहना पड़े तो स्थानादि परिवर्त्तन करके सूत्र के आदेशानुसार रहे ॥११॥

जैन श्रमण की उपधि

जिन काल में तथा पूर्वधरों के समय में जैन साधु का वेष जैसा होता था वैसा आज नहीं रहा। उस काल में दीक्षा के समय रजो-हरण मुखवस्त्रिका, और चोलपट्टक (कटिपट्टक) ये उपकरण दिये जाते थे, और इनमें से भी कटिपट्टक हर समय बंधा नहीं रहता था, जब कोई उनके स्थान पर गृहस्थ आता तब चोलपट्टक बांध लिया जाता था, बाकी नग्नभाग ढकने के लिये अगले भाग में एक वस्त्र-खण्ड बांध लिया जाता था, जिसको अग्रावतार कहते थे। भिक्षा के लिये बस्ती में जाते समय भी चोलपट्टक कटि-भाग

में बांध लेते थे। इस प्रकार का वेष विक्रम की प्रथम शताब्दी तक चला आया होगा, ऐसा मथुरा के जैन स्तूप में से निकली हुई आचार्य कन्ह (कृष्ण) की प्रस्तर मूर्त्ति से ज्ञात होता है, वह मूर्त्ति अग्रावतार युक्त बाकी सारा शरीर खुला है। इसके अतिरिक्त शीतकाल में एक दो अथवा तीन ओढने योग्य वस्त्र भी रखे जाते थे। जो श्रमण एक से निर्वाह कर सकता था, वह एक सूती पछेडी रखता था। जो एक से निर्वाह नहीं कर सकता था, वह दूसरा ऊनी कम्बल रखता था, और इन दो से भी जो अपने शरीर का शीतकाल में रक्षण नहीं कर पाता, वह दो सूती ओढने योग्य वस्त्र और एक कम्बल इन तीन वस्त्रों को रख सकता था, और शीत काल के बीतने पर उन वस्त्रों को वे प्रायः त्याग देते थे। साधु के वेष विषयक यह स्थिति विक्रम की प्रथम शताब्दी तक चलती रही, परन्तु बाद में धीरे धीरे जैन श्रमणों का निवास ग्राम नगरों में होने लगा और उनके मौलिक वेष ने भी पलटा खाया। प्रथम उन प्रत्येक श्रमणों के पास एक एक पात्र रहता था, शीतकालोपयोगी वस्त्र पास में रखने पर भी उष्ण तथा वर्षाऋतु में उन वस्त्रों से वे शरीर को ढकते नहीं थे। विहार में वे कन्धे पर रहते रात को वे घास की पथारी पर सोते थे, परन्तु ग्रामवास होने और गृहस्थों का संसर्ग बढने पर उनके उपकरणों में अनेक गुनी वृद्धि हो गई। पात्र जो पहिले प्रत्येक व्यक्ति के पास एक ही रहता था, अब एक मात्रक के नाम से अन्य पात्र भी आचार्य आर्य रक्षित सूरिजी ने बढा दिया, झोली में पात्र रख कर भिक्षा लाने की प्रथा प्रचलित हुई और इस कारण पात्रक सम्बन्धी उपकरणों

में पर्याप्त वृद्धि हुई। कपड़ा जो पहले कन्धे पर पड़ा रहता था उसे ओढ़ कर चलने का रिवाज चला, गुह्य भाग ढाकने के लिये अग्रावतार वस्त्र रक्खा जाता था, उसको सदा के लिये हटाकर चोलपट्टक निरन्तर बांधे रखने की पद्धति चली। औघिक उपधि के अतिरिक्त औपग्रहिक इस नाम से अन्य कितने ही उपकरण और बढ़ा दिये गये। इन सभी बातों का पता हमें निम्नोद्धृत गाथाओं से लगता है—

दो पाया गुण्णाया अतिरेगं तइयं च माणायो।
भारंते पाणक्कड्ढण भारे पडिलेह पडिमंथो ॥२१३॥
दिभज्जरक्खि एहिं दसपुर नयरंमि उच्छु घर नामे।
वासावासठि एहिं गुण निप्पत्ति बहुं नाउं ॥२२२॥

(व्यवहार भाष्य)

अर्थ—श्रमण को पात्र रखने की आज्ञा दी गई है इस मान से अधिक तीसरा पात्र रखने पर त्रस जीव विराधना, भार, प्रतिलेखना, में काल-व्यय आदि अनेक दोष होते हैं, द्वितीय पात्र की आज्ञा देने वाले, आचार्य रक्षित का परिचय देते हुए भाष्यकार कहते हैं, दसपुर नगर के बाहर इक्षु घर नामक वाटिका में वर्षावासस्थित आर्य रक्षित सूरिजी ने अधिक गुण की प्राप्ति जानकर श्रमणों को द्वितीय पात्र रखने की आज्ञा दी।

अन्नह भणियं पिसुए, किंची कालाइ कारणा विक्खं।
आइन्न मन्नह च्चिय, दीसइ संविग्ग गीएहिं ॥१॥

कप्पाणं पावरणं अग्गो अर, चाओ झोलिया भिक्खा ।
उवग्गहिय कडाहय, तुम्बय मुह दाण दोराइं ॥२॥

अर्थ—सूत्र अन्य प्रकार से कथन करने पर भी संविग्न गीतार्थों ने काल आदि की अपेक्षा से कुछ बातों की अन्य प्रकार से आचरणा की है। जैसे वस्त्रों का प्रावरण ओढना, अग्रावतार (गुह्य भाग पर रहने वाले वस्त्र खण्ड) का त्याग झोली में पात्र रखकर भिक्षा लाना, औपग्रहिक उपकरणों का रखना, कटाहक (सिक्यक) में बचा हुआ भोजन रखना, तुम्बक अगर लकड़े के द्रव ग्रहण योग्य भाजन (तर्पणी घड़ा आदि) के मुख भाग में डोरा देना इत्यादि अनेक आचरणायें संविग्न गीतार्थों ने देश काल को लक्ष्य में लेकर की है।

ओघोपधि

मौलिक उपकरणों में वृद्धि होते होते अन्त में जो ओघोपधि निश्चित हुई थी। उसका वर्णन इस प्रकार है—

पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं, च पाय केसरिया ।
पडलाइं रयत्ताणं, गुच्छओ पाय निज्जोगो ॥४६२॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती ।
एसो दुवालस विहो उवहि जिनकप्पियाणं तु ॥४६३॥

अर्थ—पात्र १, पात्रबन्ध २, पात्रस्थपनक ३, पायकेसरिया ४, (पात्र प्रमार्जनी) पटलेह ५, रजस्त्राण ६, गुच्छक ७, (गुच्छा)

यह पात्र सम्बन्धी उपकरण समुदाय है। तीन ओढने के वस्त्र ८, ६, १०, दो सूती, एक ऊनी, रजोहरण ११, और मुखवस्त्रिका १२, यह उपधि पात्र भोजी और तीन वस्त्रधारी जिन कल्पिक श्रमणों का है।

जिन कल्पिक श्रमणों का द्वैविध्य

जिण कप्पिया वि दुविहा, पाणिपाया पडिग्गहधराय।
पाउरण मपाउरणा; एक्केक्का ते भवे दुविहा ॥४६४॥
दुग तिग चउक्क पणगं, दस एक्कारसेव बारसगं।
ए ए अट्ठ वियप्पा, जिण कप्पे हुंति उवहिस्स ॥४६५॥

अर्थः—जिन कल्पिक श्रमण दो प्रकार के होते हैं। एक हस्त भोजी दूसरे पात्रधारी, इन प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं प्रावरक (वस्त्र ओढ़ने वाले) दूसरे वस्त्र हीन। जिन-कल्पियों के पाणिपात्रादि भेद से उनकी उपधि के कुल आठ भेद पड़ते हैं। दो प्रकार की, तीन प्रकार की, चार प्रकार की, और पांच प्रकार की, ऐसे पाणिपात्र जिन कल्पिक श्रमणों की उपधि के चार भेद होते हैं। इसी प्रकार पात्रधारी जिन कल्पिकों की उपधि भी चार प्रकार की होती है नवविध, दशविध, एकादश विध और द्वादश विध जिसका वर्णन नीचे की गाथाओं में दिया जाता है।

पुत्तिरयहरणेहिं, दुविहो तिविहो य एक्ककप्पजुओ।
चउहा कप्प दुएणं, कप्पाति गेणं तु पंचविहो ॥४६६॥
दुविहो तिविहो चउहा, पंच विहोऽविदूस पाय निज्जोगो।

जायइ नवहा दसहा, एक्कारसहा दुवालसहा ॥४६७॥

अर्थः—जो जिन कल्पिक हस्त भोजी और वस्त्रहीन होता है, उसकी उपधि रजोहरण, मुख वस्त्रिका रूप द्विविध होती है। जो जिन कल्पिक पाणिपात्र होते हुए भी एक प्रावरण रखता है, उसकी उपधि त्रिविध होती है। जो पाणिपात्र श्रमण दो प्रावरण रखता है उसकी उपधि चतुर्विध, और जो पाणिपात्र श्रमण तीन कल्प (प्रावरण) रखता है, उसकी उपधि पंचविध होती है। इसी प्रकार पात्रधारी जिन कल्पिक की पात्र सम्बन्धी उपधि के सात प्रकार तथा रजोहरण मुख वस्त्रिका मिलने से पात्रधारी की उपधि के नव प्रकार होते हैं। और तीन प्रावरण रखने से ग्यारह और तीन प्रावरणों के बढ़ाने से पात्रधारी जिन कल्पिक की उपधि बारह प्रकार की बनती है।

स्थविर कल्पिक की उपधि

ए ए चेव दुवालस मत्तग, अइरेग चोल पट्टो उ।
एसो चउदस रूवो उवही पुण थेर कप्पंमि ॥४००॥

अर्थः—उपर्युक्त जिन कल्पिकों के बारह प्रकार की उपधि में चोलपट्टक और मात्रक (द्वितीय पात्र) दो उपकरण मिलने से स्थविर कल्पिकों की चौदह प्रकार की उपधि बनती है। इन चौदह उपकरणों के उपरान्त संस्तारक, उत्तर पट्टक आदि अन्य उपकरणों को भी जैन श्रमण आजकल काम लेते हैं, जिनको औपग्रहिक उपकरण कहा जाता है।

औधिक औपग्रहिक उपधि का लक्षण

ओहेण जस्स गहणं, भोगो पुण कारणा स ओ होहि ।
जस्स उ दुगंपि निअमा, कारणओ सो उवग्गहिओ ।८३८।

अर्थः—जिसका ग्रहण सामान्य रूप से होता है, और कारण आने पर उपभोग होता हैं, उसको ओघोपधि कहते है, और जिन उपकरणों का ग्रहण तथा उपभोग कारण-सद्भाव में होता है, उनका नाम औपग्रहिक है ।

दशविध श्रमण धर्म

समवायाङ्ग सूत्र में श्रमण धर्म के नीचे लिखे अनुसार दश प्रकार बताये हैं ।

"दस विहे समण धम्मे पन्नत्ते तं जहा-खंत्ती, मुत्ती, अज्जवे, मद्धवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, वंभचेरवासे ।

"समवायाङ्ग सूत्र" ० ३२

अर्थः—दश प्रकार का श्रमण धर्म कहा है । वह इस प्रकारः—

क्षान्ति १, (क्षमा) मुक्ति २, (निर्लोभता) आर्जव ३, सरलता मार्दव ४, (कोमलता) लाघव ५, (अकिंचनता) सत्य ६, संयम ७, तप ८, त्याग ९, ब्रह्मचर्य १० ।

प्रत्येक जैन श्रमणको जीवन पर्यन्त उपर्युक्त दशविध श्रमण धर्म का पालन करना होता है । इसके उपरान्त श्रमण को निम्न लिखित सत्ताईस गुण प्राप्त करने होते हैं ।

सत्ताईस श्रमणगुण

सत्तावीसं अणगार गुणा पन्नत्ता, तं जहाः—

पाणाई वायाओ वेरमणं १। मुसा वायाओ वेरमणं २। अदिन्ना दाणाओ वेरमणं ३। मेहुणाओ वेरमणं ४। परिग्गहाओ वेरमणं ५। सोइंदिय निग्गहे ६। चक्खिंदिय निग्गहे ७। घाणिंदिय निग्गहे ८। जिब्भिंदिय निग्गहे ९। फासिंदिय निग्गहे १०। कोह विवेगे ११। माण विवेगे १२। माया विवेगे १३। लोभ विवेगे १४। भाव सच्चे १५। करण सच्चे १६। जोग सच्चे १७। खमा १८। विरागया १९। मण समाहरणया २०। वय समाहरणया २१। काय समाहरणया २२। णाण संपण्णया २३। दंसण संपण्णया २४। चरित्त संपण्णया २५। वेयण अहिया सणया २६। मारणंतिय अहिया सणया २७।

"समवायाङ्ग सूत्र" पृ ११७

अर्थः—सत्ताईस गृहत्यागी साधु के गुण कहे हैं। वे इस प्रकार हैं:—

जीवों के प्राण लेने से दूर रहना। झूठ बोलने से दूर रहना। अदत्तादान (न दिये हुये अन्य स्वामिक पदार्थ को लेने से दूर रहना) मैथुन भाव (विषयासक्ति) से दूर रहना। परिग्रह (संयम के उपकरणों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का संग्रह करने) से दूर रहना। श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह (कर्णेन्द्रिय के विषयों का जीतना) चक्षु रिन्द्रिय निग्रह (आंखों के विषयों का जीतना। घ्राणेन्द्रिय

(नासिका इन्द्रिय) के विषयों का निग्रह करना। जिह्वेन्द्रिय (जीभ) के विषयों को जीतना। स्पर्शेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) के विषयों का निग्रह करना। क्रोध का त्याग करना। मान का त्याग करना। कपट का त्याग करना। लोभ का त्याग करना। भाव सत्य (सच्चे भाव से विधेयानुष्ठान करना) करण सत्य (करने कराने अनुमोदन देने में सच्चाई का आश्रय लेना) योग सत्य (मानसिक, वाचिक, कायिक, प्रवृत्ति सच्चाई से करना) क्षमा (क्रोध को दबाने वाला परिणाम) विरागता (वैराग्य) मनः समाहरणता (मनको अपने काबू में रखना) वचः समाहरणता (वचन को काबू में रखना) काय समाहरणता (शरीर को काबू में रखना) ज्ञान सम्पन्नता (ज्ञानवान् बनना) दर्शन सम्पन्नता (श्रद्धावान् बनना) चारित्र सम्पन्नता (शुभात्म परिणामवान् बनना) वेदना ध्यानता (शारीरिक मानसिक पीडाओं को सहन करने की क्षमता रखना) मारणान्तिकाध्यानता (मरणान्तिक कष्ट को समभाव से सहन करना)

जैन श्रमणों की भिक्षाचर्या

पिण्डैषणा

जैन श्रमणों की भिक्षाचर्या माधुकरी वृत्ति से होती है। वे भोजन पानी वस्त्र पात्र आदि अपने उपभोग की चीज यदि अपने उद्देश्य से बनाई गई हो तो उसे ग्रहण नहीं करते, मकान तक उनके उद्देश्य से बनाया गया हो तो उसमें वे कभी नहीं ठहरेंगे। निमन्त्रित भोजन अथवा एकान्त का वे स्वीकार नहीं करते।

""सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं"

इस नियमानुसार अपने काम की कोई भी चीज गृहस्थों से मांग कर ही प्राप्त करते हैं।

भिक्षाकुल

निर्ग्रन्थ श्रमणों की भिक्षा के लिये भी कुल नियत किये गये हैं। वे उन्ही कुलों में भिक्षा ग्रहण करते हैं, जो व्यवहार दृष्टि से शुद्ध माने जाते हैं। चाण्डालादि पञ्चम जाति के लोगों के घर भिक्षा ग्रहण करना प्रतिषिद्ध है। किन किन जाति तथा कुलों के यहाँ भिक्षा के लिये जाना चाहिये। इसकी नामावली आचाराङ्ग सूत्र में निम्न प्रकार से सूचित की है।

"से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावइ कुलाइं पिण्डवाय पडियाये अणुपविट्ठे समाणे सेज्जाइं जाणिज्जा, तं जहा—उग्ग कुलाणि वा, भोग कुलाणि वा, राइन्नकुलाणि वा, खत्तिय कुलाणि वा, इकखाग कुलाणि वा, हरिवंस कुलाणि वा, एसियकुलाणि वा, वेसिय कुलाणि वा, गंड कुलाणि वा, कुट्टागकुलाणि वा, गाम-रकखकुलाणि वा, सोकसालिय कुलाणि वा, अन्नतरेसु वा तहप्प गारेसु कुलेसु अदगु'छियेसु, अगरिहेसु असणं वा, पाणं वा, खाइमंवा, साइमंवा फासुपं जाव पडिगाहेज्जा।

'पिण्डेषणाध्याय द्विती० उद्देश०"

अर्थ—वह निर्ग्रन्थ भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ भिक्षुणी भिक्षान्न के लिये गृहस्थ कुलों में प्रवेश करते हुए इन कुलों की जांच करे।

वे ये हैं—उग्रकुल, भोगकुल, राजन्य कुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंशकुल, एसिक (भोज) कुल, वैश्यकुल, गंड (नापित) कुल, (सुथार) कुल, ग्रामरक्ष (कोतवाल) कुल शौल्ककोह्याग शालिक (आयात निर्यातमाल पर राजकीय नियत कर लेने वाले का) कुल, इसी प्रकार के अन्यान्य अनिन्दनीय अगर्हणीय कुलों में अशन (खाद्य) पान (जल) खादिम-फल मेवादि स्वादिष्ट (चूर्ण मुखवास आदि स्वादिष्टद्रव्य) जो प्रासुक कल्पनीय मिले उसे ग्रहण करे।

भिक्षा में अग्राह्य पदार्थ

यों तो गृहस्थ लोग अपने लिये अनेक खाद्य पदार्थ तैयार करते हैं, परन्तु वे सभी श्रमणों के लिये ग्राह्य नहीं होते। श्रमण प्रासुक एषणीय और कल्पनीय को ही स्वीकार करते हैं। बहुतेरे-ऐसे खाद्य पदार्थ गृहस्थों के यहां तैयार होते हैं और उन्हें ग्रहण करने के लिये प्रार्थना भी करते हैं परन्तु जैन श्रमण अपने आचार से विरुद्ध किसी चीज का स्वीकार नहीं करते। इस बात के समर्थन में हम नीचे दशवैकालिक की कुछ गाथायें उद्धत करते हैं।

कंन्दं मूलं पलंबंवा, आमं छिन्नं व सन्निरम्।
तुंबागं सिंगवेरं च, आमगं परिवज्जए ॥ ७० ॥
तहेव सत्तुचुन्नाइं, कोल चुन्नाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणिअं पूअं, अन्नं वा वि तहाविहं ॥ ७१ ॥
विक्काय माणं पढमं पसढं रएणं परिफासिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७२ ॥

बहु अट्ठियं पुग्गलं अणिमिसं वा बहु कंटयं ।
अच्छियं तिंदुयं बिल्लं उच्छु, खंडंव सिंबलिं ॥ ७३ ॥
अप्पे सिया भोअणज्जाए, बहु उज्झुय धम्मियं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥

"दशवै० पिण्डै० प० १७५ पृ०७ प्रमोद्देश"

अर्थः—काटा हुआ सचित्त कन्द, मूल, फल और पत्र शाक-तुम्बाक, छिलका तथा मज्जा के भीतर का सचित्त गूदा और सचित्त अदरख इन सबको वर्जित करें। इसी प्रकार सक्तु का चूर्ण, बेर का चूर्ण, शष्कुली (रसभरी पूड़ी) राब, अपूप, अथवा उस प्रकार का कोई भी अन्न जो हाथ में लेने से बिखरता हो, शिथिल बन गया हो तथा धूल से मिला हुआ खाद्य इस प्रकार के भोज्य पदार्थों को देती हुई गृह स्वामिनी को श्रमण कहे कि, इस प्रकार का भोजन मुझे नहीं कल्पता। प्रचुर बीज-गुठली वाला फल मेवा का गूदा अनेक कांटो से भरा वेसन का मत्स्य, अस्थिक तिन्दुक, बिल्व आदि फल, गन्ने का खण्ड और अप्रासुक कच्ची फलियां और ऐसा पदार्थ जिस में भोजन का अंश कम और फेंक देने का कचरा बहुत हो तथा जो पदार्थ फेंक देने योग्य हो उसे देती हुई गृहस्वामिनी को साधु कहे, इस प्रकार का भोजन मुझे नहीं चाहिए।

तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठियं कंटओ सिया ।
तण कट्ठ सकरं वा वि अन्नं वा वि तहा विहं ॥ ८४ ॥

अरसं विरसं वावि, सूइअं वा असूइयं ।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथु कुम्मास भोअणं ॥८५॥
उप्पएणं नाइ हि लिज्जा, अप्पं वा बहु फासुयं ।
मुहा लद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा, दोस वज्जिअं ॥८६॥

अर्थ:—अपने स्थान पर जिसके भोजन करते हुए श्रमण के उस भिक्षा भोजन में से अस्थि (फल की गुठली) काँटा, तिनके का छिलका, शर्करा (रेती) अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई कूड़ा कर्कट निकले तो उसे पानी से धोकर एकान्त में रख दें और स्वाद हीन, अथवा अनिष्ट स्वादवाला, शुचि (ताजा) अशुचि (बासी) गीला अथवा सूखा मन्थु (बेर का चूरण-सत्तू) कुल्माष भोजन (उद आदि का भोजन) मिलने पर उसकी निन्दा न करे, चाहे वह प्रमाण में थोड़ा ही हो, परन्तु जो प्रासुक और अनायास मिला है, उस मुधालब्ध आहार को मुधाजीवी (किसी का भार रूप न बनकर अपना जीवन निर्वाह करने वाला) साधु अपने भोजन के काम में ले ।

भिक्षा में ग्राह्य द्रव्य

जैन श्रमण गृहस्थों के यहाँ स्वाभाविक रूप से बने हुए सादे निरामिष खाद्य पदार्थों को अपने योग्य होने पर गृह स्वामी अथवा गृहस्वामिनी के हाथ से ले लेते हैं । इस स्वाभाविक भिक्षान्न में भी जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट ऐसे तीन विभाग किये जाते थे । जघन्य भिक्षान्न में रूखे सूखे द्रव्य होते थे, जो

अन्त प्रान्त आहार कहलाता था। इस का निर्देश निम्नोद्धत कल्प भाष्य की गाथा में किया है।

निप्फाव-चणक माई अंतं पंतं तु वावरणं।
नेह रहियं तु लूहं, जं वा अबलं सभावेणं॥ १३६३॥

पृ० ११४

अर्थ—वाल और चना आदि अन्ताहार कहलाता है, और विल्कुल रस-हीन आहार प्रान्त नाम से व्यवहृत है। जो बिल्कुल स्नेह-हीन हो उसे रूक्षाहार कहते हैं अथवा जो द्रव्य स्वभाव से ही निर्बल होता है उसे भी अंन्त प्रान्ताहार कहते हैं। यह जघन्य प्रकार का आहार तरुण साधुओं के लिये खास हित कर माना है, और कहा गया है जहाँ तक हो सके युवक श्रमण इसी प्रकार के आहार से अपना निर्वाह करे।

मध्यमान्न—शाक, रोटी, पूड़ी, दाल, भात, आदि जो हमेशा का खाना है उसे सामान्यरूप में सर्व श्रमणों के लिये उपादेय माना है।

उत्कृष्टाहार—जो प्रणीताहार के नाम से प्रसिद्ध है इसमें दूध, दही, घी, गुड़, तेल और सभी प्रकार के पक्वान्न आदि विकृतियों का समावेश होता है। यह विकृत्यात्मक भोजन सामान्य रूप से जैन श्रमणों के लिये वर्जित किया है, फिर भी देश काल अधिकारी विशेष का विचार करके इस प्रणीत आहार को ग्रहण करने का विधान भी किया गया है। जो नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा।

"भवे कारणं आहारिज्जावि । गिलाणाणं आयरिय बालवुड्ढ दुब्बल संघयणाणं गच्छो वग्गहेण ठयाए । धिपिज्जा अहवासद्धा निबन्धेणं निमंतंति पसत्थाहिं बिगइहिं ।

पसत्थ विगइ गहणं गरहिय विगइग्गहोय कज्जंमि ।
गरहियलाभपमाणे पच्चय पावा पडिघाओ ॥

ताहे जाओ असंचइयाओ खीर दहि उगाहिं भणाणिय ताउ असंचइयइयाउ घिप्पंति, संचइयाओ न घिप्पंति, घय तिल्लगुल नवणीयाईणि पत्था, तेसिं खए जाए एयाहिं कज्जं भवइ जया कज्जं भविस्सति, गिरहीहामो ।

बालाई बाल गिलाण वुड्ढ सेहाणय बहूणि कज्जाणि उप्पज्जंति, महंतोय कालो अच्छइ ताहे सड्ढा तं भणंति जाव तुब्भे समुद्दिसह ताव अत्थि चत्तारि वि मासा ताहे नाउण गेण्हंति, जइणा ए संचइयंपि ताहे घेप्पइ, जहा तेसिं सड्ढाणं सद्धा वड्ढइ, अविच्छिन्न भावे चेव मन्नइ, होउ अलाहि पज्जतंति, सोय थेर बाल दुब्बलाणं दिज्जइ तरुणाणं न दिज्जइ, तेसिं पि कारणे दिज्जइ एवं पसत्थ विगइ गहणं ।

(दशाश्रुत)

अर्थ—कारण में विकृति रूप आहार को भी ग्रहण करे, बीमार साधुओं के निमित्त और आचार्य, बालक, वृद्ध, कमजोर, स्वभाव से ही दुर्बल शरीर वालों के लिये गच्छ के उपकारार्थ पूर्वोक्त साधु व्यक्तियों के निमित्त विकृत्यात्मक आहार ग्रहण किया जाय, अथवा

श्रावक दूध, दही, घृत आदि प्रशस्त विकृतियां ग्रहण करने के लिये आग्रह पूर्वक निमन्त्रण करते हों तो प्रशस्त विकृतियों को ग्रहण करे।

साधु को कारण विशेष से शुभ विकृतियां ग्रहण करने की आज्ञा है, परन्तु निन्दित विकृतियां (मधु मांस मदिरा) खास कारण से ही ग्रहण की जाय। जो शारीरिक बाह्य रोगों पर औषध के रूप में बरती जाती हों।

तब गृहस्थों के आग्रह से भी जो विकृतियां दूध, दही और पक्वान्न आदि असंचयिक हैं, उन्हें ग्रहण करें, परन्तु संचयिक विकृतियों को न लें। घृत तेल मक्खन आदि पथ्य विकृतियां हैं, उनको न लें, क्योंकि उनका क्षय हो जाने पर आवश्यकता के समय इनकी प्राप्ति दुर्लभ हो जायगी, इस कारण से उक्त संयिक विकृतियों को न लेना चाहिए। यदि श्रद्धावान् गृहस्थ उनके लिये बहुत ही आग्रह करें, तो उनको कहना चाहिए कि जब इन विकृति द्रव्यों की आवश्यकता होगी तब इन्हें लेंगे। बाल, ग्लान, (बीमार) वृद्ध और शैक्ष (ज्ञानाभ्यासी तथा आचार मार्ग की शिक्षा प्राप्त करने वाला साधु) आदि के लिये इन विकृतियों की बहुत आवश्यकता होती रहती है, और अभी समय बहुत पड़ा है। उस समय श्रावक उसे कहे आप चारों महीना इन्हें ग्रहण करेंगे, तब भी ये समाप्त न होंगी, तब विकृतियों की बहुलता और देने वालों का आग्रह जानकर इन द्रव्यों को ग्रहण करें। इस प्रकार संचयिक विकृतियां भी यतना से ग्रहण की जाती हैं। जिस प्रकार उन

श्रावकों की भावना बढ़े, उस प्रकार उनके परिणाम की धारा पूरी होने के पहले ही साधु कहे, बस रक्खो। बहुत हो गया। इस प्रकार यतना पूर्वक लाया हुआ विकृत्यात्मक भोजन वृद्ध बाल और कमजोर साधुओं को दिया जाता है, युवान साधुओं को नहीं दिया जाता, परन्तु कारण विशेष की उपस्थिति में उनको भी दिया जाता है। इस प्रकार प्रशस्त विकृति ग्रहण की जाती है।

विकृति ग्रहण और उसके विभाजन के सम्बन्ध में निशीथ चूर्णी में नीचे मुजब व्यवस्था दी गई है—

तथा संचइयमसंचयं नाउण मसंचयं तु गिरहंति।
संचइयं पुण कज्जे निबन्धे चेव संचइमं ॥१॥
घयगुलमोदका दिजे, अविणासी ते संचइया।
खीर दहि माइया, विणासी जेते असंचइया।
अहवन सड्ढा विभवे कालं भावं च वाल वुड्ढाओ।
नाओ निरन्तर गहणं अछिन्नभावेय ठायंति ॥२॥

सावयाण सद्धं नाउण विउलं च विहवं नाउं कालं च दुब्भिक्खा इयं भावं च बाल वुड्ढाणाय अप्पायणट्टा एव माइकज्जे नाउण निरन्तरं गेरहंति। जावय तस्स दायगस्स भावो नवोछिज्जइ, ताव दिज्जमाणं वारयंति। (नि० चू० उ० ४)

अर्थ—विकृति दो प्रकार की होती है—१ संचयिक, २ असंचयिक, इन दो प्रकारों को समझ कर असंचयिक को ग्रहण करते हैं, और संचयिक को कार्य उपस्थित होने पर ग्रहण करते हैं।

यदि श्रावकों का अत्याग्रह हो तो एकादि दिन के अन्तर से संचयिक को भी ग्रहण कर सकते हैं।

घृत, गुड, लड्डु आदि द्रव्य जो जल्दी नहीं बिगडते हैं, उन्हें संचयिक विकृति कहते हैं, और दूध दही आदि जो जल्दी बिगड़ जाने वाले द्रव्य हैं वे असंचयिक कहलाते हैं।

अथवा श्रद्धा तथा विभव और काल, भाव, वृद्ध आदि का विचार कर संचयिक विकृति को भी निरन्तर ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु देने वाले की परिणामधारा खण्डित होने के पहले ही लेना स्थगित कर दे।

श्रावकों की श्रद्धा तथा विभव को जान कर दुर्भिक्षादि काल, बाल, वृद्ध आदि भाव विचार कर उनके तृप्त्यर्थ इत्यादि कार्यों को जानकर संचयिक विकृति को भी निरन्तर ग्रहण करते हैं, दायक के परिणाम की धारा विच्छिन्न न हो, उसके पहले ही देने से रोक दे।

श्रमणों के लिए विकृति ग्रहण के विषय में व्यवस्था

वासावासं पज्जोस वियाणं नो कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गन्थीण वा हट्ठाणं तुट्ठाणं आरोगाणं बलिय सरीराणं इमाओ नव रस विगईओ अभिक्खणं आहारित्तए। तं जहा—खीरं १, दहिं २, नवणीयं ३, सप्पिं ४, तिल्लं ५, गुडं ६, महुं ७, मज्जं ८, मंसं ९, ॥ १७ ॥ (चुल्लकप्प सूत्रे पृ० ७२)

अर्थ—वर्षावास की स्थिरता किये हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थि-नियां जिनके मन प्रसन्न हैं, शरीर तन्दुरुस्त तथा बलिष्ठ हैं, उनको ये नव रस विकृतियां बार बार खाना नहीं कल्पता। जैसे—दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड, मधु, मद्य, मांस।

साधु अपने आज्ञाकारक के आज्ञा के विना विकृति-भोजन नहीं कर सकता।

वासावासं पज्जोस विये भिक्खू इच्छिज्जा अण्णयरिं विगइं आहारित्तए नो से कप्पइ से अणा पुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा थेरं पविति गणिं गणहरं गणावच्छेययं वा अण्णं वा जंपुरओ कट्टु विहरइ कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा थेरं पविति गणिं गणहरं गणावच्छेयं वा जंवा पुरओ काउं विहरइ आहारित्तए इच्छामिणं भंते। तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे अन्नयरिं विगइं आहारित्तए तं एव इय वा एव इक्खुत्तो तेय से वियरिज्जा एवं से कप्पइ अण्णयरिं विगइं आहारित्तए तेय से ना वियरिज्जा एवं सेनो कप्पइ अण्णयरिं विगइं आहारित्तए से किमाहु भंते! आयरिया पच्चवायं जाणंति।

(कल्प सूत्र पृ० ७८)

अर्थ—वर्षावास स्थित भिक्षु किसी विकृति विशेष को भोजना के साथ लेना चाहे तो वह आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्त्तक गणी, गणधर, गणावच्छेदक, अथवा जिसको वह अपना नायक बना कर विचरता है, उसको पूछे बिना विकृति नहीं खा सकत, पहले वह अपने नेता की इस प्रकार आज्ञा ले—हे भगवान्।

आपकी आज्ञा प्राप्त करके मैं अमुक प्रकार का विकृति भोजन करना चाहता हूँ इतने प्रमाण में और इतनी बार। इस पर यदि उसका नायक आज्ञा दे तो वह विकृति का आहार कर सकता है। इस पर शिष्य पूछता है। भगवन् ! इसका क्या कारण है कि आचार्य की आज्ञा से ही विकृति ली जाय। गुरु कहते हैं, आचार्य हानि जानने वाले होते हैं।

जैन श्रमणों का भोजन प्रकार

जैन श्रमण यथालब्ध शुद्ध आहार को लेकर एकान्त में बैठ कर भोजन करते हैं। भोजन करते समय आहार करने के छः कारणों का विचार करते हैं। मैं किस कारण से भोजन करता हूँ, छः कारणों में से किस कारण से मैं तप न कर भोजन करने के लिये बाध्य हो रहा हूँ। यदि छः कारणों में से कोई भी कारण न हो तो साधु को उस दिन भोजन के लिये प्रवृत्ति ही न करना चाहिए, अथवा आहार लाने के बाद भी कारणाभाव में आहार अन्य साधुओं को देकर स्वयं उपवास करले।

जैन श्रमणों को आहार करने के छः कारण नीचे मुजब बताये हैं।

वेअण वेया वच्चे, इरि अट्ठाए अ संयमट्ठाए।
तहपाणवत्ति आए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥३६५॥

अर्थ—आहार के बिना जो शारीरिक कष्ट उत्पन्न होता है, उसको रोकने के लिये साधु आहार करता है। आचार्य, बाल,

वृद्ध, तपस्वी, बीमार आदि की सेवा भोजन किये बिना न होगी, इस कारण से साधु को भोजन करना पड़ता है। विहार आदि में चलना फिरना बन्द न हो, इस कारण से साधु को आहार करने का विधान है। संयम सम्बन्धी प्रतिक्रमणादि तमाम अनुष्ठान कर सके, इसलिये साधु आहार करता है। प्राणों को टिकाये रखने के लिये साधु आहार करता है, और धर्म्यध्यान करने में बाधा न आये, इस कारण से साधु आहार करता है।

पानेषणा

आहार की तरह जैन श्रमण पानी भी प्रासुक तथा कल्पनीय होता है, उसी को ग्रहण करते हैं। बीज हरी वनस्पति आदि में जैनशास्त्रकार जीव मानते हैं, उसी तरह जलाशयोत्थ तथा वृष्टि जन्य पानी में भी जीव मानते हैं और उसे सचित्त कहते हैं। जब तक अग्नि आदि अनेक विध विजातीय द्रव्य रूप शस्त्र का प्रयोग नहीं होता, तब तक वह अपनी सचित्तता नहीं छोड़ता इस लिये जैन श्रमण कुआ, तालाब, नदी आदि का पानी जब तक वह अपना मूल स्वरूप छोड़कर प्रासुक (निर्जीव) नहीं होता, तब तक श्रमणों के लेने योग्य नहीं माना जाता। प्रासुक जल भी वे जहां तहां से स्वयं नहीं लेते, किन्तु गृहस्थ द्वारा दिया जाने वाला ही लेते हैं। श्रमणों के ग्रहण योग्य प्रासुक जल किस प्रकार का होता है उसका स्वरूप नीचे दिया जाता है—

तहे वुच्चावयं पाणं, अदुवा वार धोअणं।
सं से इमं चाउलोदं, अहुणा धोअं विवज्जए ॥७५॥

जं जाणेज्ज चिराधोयं मईए दंसणेण वा ।
पडि पुच्छिऊण सुच्चावा, जं च निस्संकिअं भवे ॥७६॥
अजीवं परिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए ।
अह संकियं भविज्जाहिं, आसा इत्ताण रोयए ॥७७॥
थोव मासाय णट्ठाए, हत्थगंमि दलाहि मे ।
मामे अच्चं विलं पूयं, नालं तण्हं विणित्तए ॥७८॥

अर्थ—तथा अधिक और अल्प द्रव्यान्तर संयुक्त पानी अथवा वारक (गुड़ का घडा) धोकर वर्त्तन में रक्खा हुआ, जल, पिष्ट से लिप्त वर्त्तन धावन जल, और चावल धावन जल, ये सभी प्रकार के पानी यदि तत्काल तैयार किये हुए हों तो साधु को न लेना चाहिए। अपनी बुद्धि से अथवा उसके देखने से यदि मालुम हो कि यह पानी बहुत समय पहले वर्त्तनादि धोकर रक्खा हुआ है, तथा पूछने और देने वाले के मुख से सुनने से निःशंकित हो गया हो कि यह निर्जीव और परिणत हो गया है, तब संयत उसे ग्रहण करे। यदि धावन जल में किसी प्रकार की शङ्का रहती हो, तो उसे चख कर निर्णय करे, दायक को कहे थोड़ा सा जल मेरे हाथ में दो, मैं चख कर लेने का निर्णय करूंगा। ऐसा न हो कि जल अतिखट्टा, दुर्गन्ध और तृष्णा को दूर करने में समर्थ न हो।

आचाराङ्ग सूत्र में श्रमणों के लेने योग्य धावन जलों की तीन सूचियां दी गई हैं। जो क्रमशः नीचे दी जाती हैं—

१ से भिक्खू वा २ से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा। तं जहा— उस्से इमं १ वा, संसे इमं २ वा, चाउलोदगं ३ वा, अन्नयरं वा

तहप्पगारं पाणगजायं अहुणाधोयं अणंबिलं अव्वुक्कंतं अपरिणयं अविद्धत्थं अफासुयं जावनो पडिगाहिज्जा अह पुण एवं जाणिज्जा चिराधोय अंबिलं वुक्कंतं परिणयं विद्धत्थं फासुयं पडिगाहिज्जा ।

अर्थ—वह भिक्षु वह भिक्षुणी उस पानक जात को जाने। जैसे—उत्स्वेदिम जल (पिष्ट से खरण्टित वर्त्तन का साफ करने के लिये गर्म जल डालकर धोये हुए पिष्ट लिप्त वर्त्तन का धावन जल) संस्वेदिम जल (कोरे पिष्ट के अंश से भरे वर्त्तन का धावन जल) तन्दुलोदक (चावलों का धावन जल) इनके अतिरिक्त दूसरे भी इसी प्रकार के धावन जलों को जाने, और अधुना धौत तत्काल धोकर निकाला हुआ) अनम्ल (जिस में अम्लता नहीं हुई है) अव्युत्क्रान्त (जिसके मूल रस गन्धादि में परिवर्त्तन नहीं हुआ है) अपरिणत (जिसको तैयार किये मुहूर्त्त भर भी समय नहीं हुआ है) अविध्वस्त (जिसका सचित्तत्व नष्ट नहीं हुआ है) अप्रासुक (जो सर्वथा प्राण हीन नहीं बना है) इस प्रकार के जलों को भिक्षु ग्रहण न करे, अगर यह जाने कि वह चिर धौत है, अम्लता प्राप्त व्युत्क्रान्त, परिणत, विध्वस्त, और प्रासुक है तो उसे ग्रहण करे।

२. से भिक्खू वा० से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तं जहा तिलोदगं ४ वा, तुसोदगं ५ वा, जवोदगं ६ वा, आयामं ७ वा, सौवीरं ८ वा, सुद्धवियडं ९ वा, अन्नयरं वा तहप्पगारं वा पाणगजायं पुव्वामेव आलोइज्जा आउसोत्ति वा भइणित्ति वा, दाहिसी मे इत्तो अन्नयरं पाणगजायं से एवं वयं तस्स परो वइज्जा-आउ संतो

समणा ! तुमं चेवेयं पाणगजायं पडिग्गहेण वा उस्सिं चियाणं उवत्तियाणं गिण्हाहिं, तहप्पगारं पाण गजायं सयं वा गिण्हिज्जा परो वा से दिज्जा, फासुयं लाभे संते पडिगाहिज्जा (सूत्र ५१)

(आचाराङ्ग श्रुत स्कन्धे २ पृ० ३४६)

अर्थ—वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी पानी के इन भेदों को जाने, वह इस प्रकार तिलोदक (तिलों का सन्धान जल) तुषोदक[१] (तुषों का सन्धान जल) यवोदक[२] (यवों का सन्धान जल) आयाम (अव स्रावण जल) सौवीर[३] (कच्चे यव तथा गेहूँ के सन्धान से बनाया गया जल) शुद्ध गरम जल, इस प्रकार का अथवा अन्य प्रकार का सन्धान जल देखकर दायक को कहे, आयुष्मन् ! अथवा बहिन। इनमें से अमुक प्रकार का पानी हमें दोगे ? इस प्रकार कहते हुए श्रमण को यह उत्तर दे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! तुम खुद ही अपने पात्र द्वारा इस जल की उलीच कर भर लो, इस पर श्रमण स्वयं उस प्रकार के जल को अपने पात्र में ले अथवा अन्य गृहस्थ द्वारा ग्रहण करे, प्रासुक मिलता हो तब तक उसी को ग्रहण करे।

टिप्पणी—१. २. ३.

सौवीरकं सुवीराम्लं, यवोत्थं गोधूम सम्भवम्।
यवाम्लजं तुषोत्थं च, तुषोदकश्चापि कीर्तितम्॥

अर्थ—सौवीर अथवा सुवीराम्ल यवों के अथवा गेहूंओं के सन्धान से बनाया जाता है, और यवोदक तथा तुषोदक क्रमशः यवों के और उनके छोकर के सन्धान से बनाया जाता है।

ऊपर लिखे अनुसार शालिग्राम निघण्टु भूषण में सौवीर यवोदक और तुषोदक का लक्षण बताया हैं।

भाव प्रकाश निघण्टु में सौवीर की बनावट और उसके गुणों का दिग्दर्शन कराया गया हैं—

सौवीरं तु यवैरामैः, पक्वैर्वा निस्तुषैः कृतं।
गोधूमैरपि सौवीरमाचार्याः केचिदूचिरे ॥८॥
सौवीरं तु ग्रहण्यर्शः कफघ्नं भेदि दीपनम्।
उदावर्त्ताङ्गमर्दास्थिशूलानाहेषु शस्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—सौवीर छीले हुए कच्चे अथवा पके यवों से बनाया जाता है, कितने आचार्य गोधूमों से भी सौवीर बनाने की बात कहते हैं।

सौवीर संग्रहणी अर्श और कफ का नाश करने वाला है, दस्तावर और जठराग्नि को दीप्त करने वाला है, उदावर्त्त (आंतों की वायु का ऊपर चढ़ना) अंगमर्द, (शरीर का फूटना) अस्थि शूल (हड्डियों में तीव्र पीड़ा) होना और आनाह (अफरा चढ़ना) इन रोगों में लाभ कारक है।

वृहत्कल्प की टीका में सुरा और सौवीर का लक्षण नीचे अनुसार लिखा है

टीका—व्रीह्यादि सम्बन्धिना पिष्टेन यद् विकटं भवति सा सुरा यत्तु पिष्टवर्जितम् द्राक्षा खर्जूरादिभिर्निष्पाद्यते तन्मद्यं सौवीरकं जानीयात्।

---

३. से भिक्खू वा सेज्जं पुण पाण गजायं जाणिज्जा, तं जहा अंब पाणं १० वा, अंबाडग पाणं ११ वा, कविट्ठपाणं १२, माउ-

लिंग पाण० १३, मुद्दिया पाण० १४, दालिम पाण० १५, खज्जूर पाण० १ , नारियेर पाण० १७, करीर पाण० १८, कोल पाण० १६, आमलय पाण० २०, चिंचा पाण० २१, अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणग जात स अट्टियं, सकणुयं सबीयगं असज्जए भिक्खू पडि-याए, छब्बेण वा दूसेण वा वालगेण वा आविलियाण परिवीलियाण परिसावियाण आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं पाणगजायं अफा० लाभे संते तो पडिगाहिज्जा ॥ सू० ४३ ॥

(आचारांग द्वितीय श्रत स्कन्ध पृ० ३४७)

अर्थ—वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी उस पानक जात को जाने जैसे—आम्रपानीय (आम की गुठलियां तथा उसके छिलके को धोकर बनाया हुआ पानी) आम्रातक पानीय, (अमरोरे को धोकर अचित्त किया हुआ पानी) कपित्थ पानीय, (कैंथ फल के गूदे से अम्ल बना हुआ पानी) मातुलिंग पानीय (बिजोड़ा निम्बू के रस से अम्ल बनाया हुआ पानी) मृद्वीका पानीय (द्राक्षाओं को पानी में भिगो कर छाना हुआ पानी) दाड़िम पानीय (दाड़िम का रस अगर शरबत मिला कर तैयार किया गया पानी) खजूर पानीय (खजूरों को पानी में धोकर तैयार किया हुआ पानी) नारिकेरल पानीय (कच्चे नारियल में से निकाला गया पानी) करीर पानीय (पक्के केरों को जल में मसल कर तैयार किया पानी, कोय पानीय (बेरों के चूर्ण से बनाया हुआ अम्ल जल आमलक पानीय (आमले की खटाई से अम्लता प्राप्त पानी, अम्लिका पानीय (इमली का पानी) इस प्रकार का अन्य भी कोई पानी

हो, जिसमें अस्थि (गुठली) हो, कणुक (छिलके आदि) और बीज आदि हो. उसे गृहस्थ बांस की टोकरी से वस्त्र से अथवा बालों से बनाये हुए छानने के उपकरण द्वारा उनको मसल कर चारों ओर से दबा कर छान के दे तो अन्य प्रासुक जल की प्राप्ति होती हो तो वैसा अप्रासुक पानी न ले।

पानी पीने सम्बन्धी नियम

दश वैकालिक तथा आचाराङ्ग सूत्र के आधार पर हमने साधुओं के ग्राह्य जलों का वर्णन ऊपर दिया है. अब हम यह दिखायेंगे कि किस प्रकार का जल किस प्रकार की तपस्या करने वाले साधु के काम में आता था।

वासावासं पज्जोम वियस्स निच्च भत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति सव्वाइं पाणगाइं पडिगाहित्तए वासावासं पज्जोस विदस्स चउत्थ भत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए तं जहा-

ओसे इमं संसे इमं चाउलोदकं वासावासं पज्जोस वियस्स छट्ठ भत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए। तं जहा-तिलोदगं वा, तुसोदगं वा, जवोदगं वा, वासावासं पज्जोस वियस्स अट्ठमभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाण गाइं पडिगाहित्तए, तं जहा-आयामे वा, सोवीरे वा, सुद्ध वियडे वा, वासावासं पज्जोस वियस्स विगिट्ठ भत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगे उसिण वियडे पडिगाहित्तए सेऽवियणं असित्थे, नो वियणं ससित्थे वासावासं पज्जोस वियस्स भत्तपडिया इक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगे

उसिण वियडे पडिगाहित्तए, सेऽवियणं असित्थे नो चेवणंससित्थे से वियणं परिपूए नो चेवणं अपरिपूए, सेऽवियणं परिमिए सेऽ बयणं बहु सम्पन्ने नो चेवणं अबहु सम्पन्ने ॥२५॥

(कल्प सूत्रे पृ० ७३)

अर्थ—वर्षा वास रहे हुए नित्य भोजी भिक्षु के सर्व प्रकार के पानी ग्रहण करने कल्पते हैं। वर्षावास स्थित चतुर्थ भक्तिक (एकान्तर उपवास करने वाले) भिक्षु को तीन प्रकार के पानी ग्रहण करने कल्पते हैं। वे इस प्रकार उत्स्वेदिम, संस्वेदिम, तन्दुलोदक। वर्षावास स्थित षष्ठ भक्तिक (दो दो उपवास के बाद भोजन करने वाले) भिक्षु को तीन प्रकार के पानी लेने कल्पते हैं, वे इस प्रकार–तिलोदक, तुषोदक, अथवा यवोदक। वर्षावास स्थित अष्टम भक्तिक (तीन तीन उपवास के उपरान्त आहार लेने वाले) भिक्षु को तीन प्रकार के जल लेने योग्य होते हैं, वे ये–आयाम, सौवीर अथवा शुद्ध गरम जल। वर्षावास स्थित विकृष्ट भक्तिक (तीन से अधिक प्रमाण में उपवास करके भोजन लेने वाले) भिक्षु को एक उष्ण जल ग्रहण करना योग्य होता है। वह भी असिक्थ (जिसमें अन्न का दाना न गिरा हो) ससिक्थ न हो।

वर्षावास स्थित भक्त प्रत्याख्यान (अनशन करने वाले) भिक्षु को एक उष्ण जल ग्रहण करने योग्य होता है, वह भी असिक्थ, ससिक्थ नहीं, वह भी छाना हुआ, वगैर छाना नहीं, वह भी परिमित, अपरिमित नहीं, वह भी पूरा उष्ण किया हुआ, साधारण उष्ण नहीं।

श्रमणों के गण

जैन श्रमणों के पारस्परिक सम्बन्ध और संघटन के लिए भगवान् महावीर के समय से ही सुन्दर व्यवस्था चली आ रही है। महावीर ने अपने हजारों श्रमणों को नव विभागों में बांट दिया था। सात विभागों के उपरि एक-एक और दो विभागों के ऊपर दो दो प्रमुख स्थविर नियत थे, और वे गणधर नाम से पहिचाने जाते थे।

महावीर निर्वाण के अनन्तर भी सैकड़ों वर्षों तक यही व्यवस्था चलती रही, मौर्य-राज के समय में जैन श्रमणों की संख्या पर्याप्त रूप से बढ़ी और एक एक स्थविर से उन श्रमणों गणों का नियन्त्रण होना कठिन हो गया, तब तत्कालीन स्थविरों ने व्यवस्था में कुछ परिवर्त्तन किया और गणों के भी विभाग पाड़ कर उनको कुल नाम से जाहिर किया, प्रत्येक कुल के ऊपर एक एक स्थविर. प्रत्येक गण के ऊपर एक स्थविर और सवगण समुदायात्मक संघ के ऊपर एक स्थविर नियुक्त करने की पद्धति नियत की। इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक गण की व्यवस्था सुगमता से हो इसलिये गण स्थविरों ने अपने गण में से योग्य स्थविरों को भिन्न भिन्न कार्याधिकार सौंपा और उनके नियम उपनियम बना कर अधिकारियों का कार्य सुगम बना दिया। हम इस व्यवस्थित कुल गण, और संघ शासन की संक्षिप्त रूप रेखा नीचे बताते हैं। पाठक-गण देखेंगे कि श्रमणों ने अपनी धार्मिक व्यवस्था के लिये कितनी सुन्दर शासन-पद्धति निर्माण की थी।

१–कुल

एक आचार्य का शिष्य परिवार जिनकी संख्या कम से कम आठ की होती और नवमां उनका गुरु इस प्रकार के एक आचार्य के परिवार को कुल [1] नियत किया।

२–गण

कुल के साधुओं की व्यवस्था उनके पारस्परिक सम्बन्धों को ठीक रखना उनमें स्थविर के स्वाधीन रक्खा गया था।

उपर्युक्त तीन अथवा अधिक एक आचार वाले कुलों का समुदाय गण कहलाता था, और उनके ऊपर एक आचार्य शासक के रूप में नियत रहता था, जो गण स्थविर कहलाता था। गण में कम से कम अट्ठाईस श्रमणों की संख्या होना अनिवार्य था (तीन कुलों की श्रमण संख्या २७ सत्ताईस और एक गण स्थविर कुल २८ अट्ठाईस) यह तो कनिष्ठ प्रकार का गण हुआ परन्तु गणों में श्रमण-संख्या इससे बहुत अधिक हुआ करती थी। इसलिये गण स्थविर अपने गण में से भिन्न २ कार्यों के लिये भिन्न भिन्न पदाधिकारियों को नियुक्त करता था जिन का नाम निर्देश नीचे की गाथा में किया है।

टिप्पणी:—१.

कुल की यह श्रमण-संख्या सब से कनिष्ठ है, इससे अधिक सैकड़ों श्रमण एक कुल में हो सकते थे। अगर वे एक आचार्य का शिष्य प्रशिष्यादि परिवार होता।

"आयरिए उव्जा उवज्झाए, पवित्ति थेरे गणी गणधरेय ।
गण वच्छेइय णीसा, पवित्तिणी तत्थ आणेति ।।४१७७।।

"बृहत्कल्प सू० पृ० ११३५

अर्थः—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्ती स्थविर, गणी, और गणधर (कुल स्थविर) गणावच्छेदक और प्रवर्त्तिनी ।

१—आचार्य

गण स्थविर जिनके अनुशासन में सारा गण रहता था वे आचार्य कहलाते थे। विद्यार्थी साधुओं को आचार्य सूत्रों का अनुयोग (सूत्रों का अर्थ) देते और किसी भी दर्शन के विद्वान् अथवा अन्य किसी महत्त्वपूर्ण कार्यों के सम्बन्ध में कोई भी पूछने वाला आता तो उनसे बात चीत करते, गच्छ के आन्तरिक कार्यों में आचार्य प्रायः हस्तक्षेप नहीं करते थे।

२—उपाध्याय

उपाध्याय का मुख्य कर्त्तव्य साधुओं को सूत्र पढ़ाना था; इसके अतिरिक्त वे आचार्य के प्रत्येक कार्य में सहायक होते थे। इनका दर्जा युवराज जैसा माना गया है।

३—प्रवर्त्ती अथवा प्रवर्त्तक

प्रवर्त्ती का कर्त्तव्य गण के साधुओं को उनके योग्य कामों में नियुक्त करना, और उनके कार्यों की देख भाल रखना होता था। प्रवर्त्तक का दर्जा गृह—मन्त्री का सा माना गया है।

४—स्थविर

स्थविर का कर्त्तव्य गणस्थित श्रमणों के आपसी मतभेदों तथा झगड़ों तकरारों और अपराधों की जांच करना और उचित न्याय देना होता था। छेद सूत्रों के ज्ञाता और माध्यस्थ्य परिणामी होते, वे ही स्थविर-पद पर नियुक्त किये जाते थे।

५—गणी

गणी आचार्य तथा उपाध्याय के आगे उनके मंत्री का काम करता था। यही कारण है कि सूत्रों में कहीं आचार्य के अर्थ में और कहीं उपाध्याय के अर्थ में गणी शब्द प्रयुक्त हुआ है।

६—गणधर

कुल के प्रतिनिधि को गणधर कहते थे। कुलों के पारस्परिक मत-भेद गणधर के पास आते और वह उन्हें गण स्थविर के पास उपस्थित करता।

७—गणावच्छेदक

गणावच्छेदक का कार्य गण के साधुओं को कम से कम अथवा अधिक संख्यक टुकड़ियों में बांट कर विहार कराना या विहार करते हुए को आचार्य के पास बुलाना, इत्यादि कार्य गणावच्छेदक के सुपुर्द होते थे। श्रमणी समुदाय की व्यवस्था का कार्य प्रायः आचार्य उपाध्याय की सूचनानुसार गणावच्छेदक द्वारा होता था। श्रमणी गण की प्रमुख साध्वी को प्रवर्त्तिनी

कहते थे। इस प्रकार श्रमण तथा श्रमणी-गण का शासन व्यवस्थित रूप से चलता था।

उक्त गाथा में आचार्य आदि सात अधिकारियों का उल्लेख किया गया है, परन्तु इनमें मुख्य अधिकार सम्पन्न पुरुष पांच ही हैं। (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्त्तक, (४) स्थविर, और (५) गणावच्छेदक। गणी और गणधर ये उक्त अधिकारियों के कार्य को विशेष सरल करने के लिये रक्खे जाते थे।

इस विषय में निशीथ भाष्यकार नीचे के अनुसार लिखते हैं-

तत्थ न कप्पइ वासो, गुणागरा जत्थ नत्थि पञ्च इमे।
आयरिय उवज्झाए, पवित्ति थेरो य गीयत्थो ॥

अर्थ—उस गच्छ में रात भर के लिये भी रहना उचित नहीं जहां गुण के आगर आचार्य १, उपाध्याय २, प्रवर्त्तक ३, स्थविर ४, और गीतार्थ[1] अर्थात् गणावच्छेदक ये पांच नहीं हैं।

संघ

ऊपर कह चुके हैं कि श्रमणों के सम्पूर्ण गणों के समुदाय का नाम संघ था। संघ सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था के लिए भी एक युग प्रधान आचार्य संघ स्थविर के नाम से नियुक्त किये जाते थे। कुल स्थविर के कार्य में हस्तक्षेप करने का और उनके फैसलों को

१—"गीतार्था गणावच्छेदिनः" इस प्रकार निशीथ चूर्णीकार ने गीतार्थ का अर्थ गणावच्छेदक किया है।

बदलने का जिस प्रकार गणस्थविर को अधिकार होता था, उसी प्रकार गणस्थविरों के दिये हुए फैसलों को बदलने का अधिकार संघ स्थविर को था। यद्यपि संघ स्थविर किसी भी गण के आन्तरिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते थे, फिर भी किसी आचार्य के विरुद्ध दूसरा कोई आचार्य संघ स्थविर के यहां अपील करता तो उसे वे सुनते और योग्य निर्णय देते। इसके अतिरिक्त कोई भी आचार्य जैन शासन के विरुद्ध प्ररूपणा करता तो संघस्थविर उसको रोकने की आज्ञा देते थे। यदि संघ स्थविर की आज्ञा को मानकर प्ररूपक आचार्य अपनी अयोग्य प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता तब तो मामला वहीं समाप्त हो जाता। परन्तु यदि कोई ऐसे भी आचार्य होते जो अपने दुराग्रह से पीछे नहीं हटते, तब संघ स्थविर संघ समवाय बुलाने को उद्घोषित करते। जिस पर देश देश से तमाम आचार्य अथवा उनके प्रतिनिधि नियत स्थान पर एकत्र होते, ऐसे संघ सम्मेलन को शास्त्रकारों ने "संघ समवसरण" इस नाम से उल्लिखित किया है। संघ समवसरण में आचार्य अथवा अन्य साधु जिसके विरुद्ध वह समवसरण किया जाता, उन्हें बुलाया जाता था, और तमाम आचार्यों के सामने विवाद विषयक मामले की जांच की जाती थी, अगर उस समय अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर उचित दण्ड लेने को तैयार हो जाता तो संघ स्थविर उसको योग्य दण्ड प्रायश्चित देकर मामले को वहीं खत्म कर देते। परन्तु किन्हीं भी कारणों से अपराधी संघ समवसरण में आने से ही हिचकिचाता तो गीतार्थ श्रमण उसको मधुर वचनों से समझाते और संघ की न्याय प्रियता तथा

निष्पक्षता का विश्वास दिला कर वहां बुलाते। इस पर वह सभा में आ जाता तो उसके सम्बन्ध में उचित कार्यवाही करके दण्ड प्रायश्चित्त आदि द्वारा झगड़ा निपटा दिया जाता था, परन्तु अपराधी के हाजिर न होने अथवा संघ का दिया हुआ न्यायसङ्गत फैसला न मानने की अवस्था में उसे संघ से बहिष्कृत उद्घोषित किया जाता था, तब से उसका किसी भी कुल और गण से सम्बन्ध नहीं रहता, और न उसे किसी भी प्रकार के संघ समवसरण में आने का अधिकार ही रहता।

श्रमणों का श्रुताध्ययन

श्रमण-गण अपने शिष्यों को लौकिक विद्याओं के अतिरिक्त उनको आगम श्रुत पढ़ाने के लिये भी सुन्दर व्यवस्था रखते थे।

नव दीक्षित श्रमण प्रथम अपने आचार विषयक श्रुत का अध्ययन करता और साध्वाचार में प्रवीण बनता फिर उसको विधि पूर्वक उत्तरोत्तर आगम श्रुत की शिक्षा दी जाती थी।

आगम श्रुत से हमारा अभिप्राय अङ्ग सूत्रों से है, और अङ्ग सूत्र निर्ग्रन्थ प्रवचन में बारह माने गये हैं। जो शास्त्रीय परिभाषा में "द्वादशाङ्ग गणि पिटक" इस नाम से पहिचाने जाते हैं। गणि पिटक के बारह अङ्ग सूत्रों के नाम निम्न लिखित हैं—

आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ, विआह पन्नत्ति, नायाधम्म कहाओ, उवासग दसाओ, अंतकडदसाओ, अणुत्तरोव वाइय दसाओ, पन्हा वागरणं, विवाग सुअं, दिट्ठिवाओ।

अर्थात्—आचाराङ्ग १, सूत्रकृताङ्ग २, स्थानाङ्ग ३, समवायाङ्ग ४, व्याख्याप्रज्ञप्ति ५, ज्ञाताधर्म कथाङ्ग ६, उपासक दशाङ्ग ७, अन्त कृद्दशाङ्ग ८, अनुत्तरोपपातिक दशाङ्ग ९, प्रश्न व्याकरण १०, विपाक श्रुत ११, और दृष्टिवाद १२, ये गणि पिटक के बारह अङ्गों के नाम हैं।

अङ्ग शब्द यहां मौलिक श्रुत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। निर्ग्रन्थ प्रवचन के उपदेशक तीर्थङ्करों ने उक्त गणि पिटक में निर्ग्रन्थ प्रवचन का सम्पूर्ण ज्ञान भर दिया था, जिसे पढ़ कर निर्ग्रंथ श्रमण त्रिकाल ज्ञानी बन जाते थे।

आर्य भद्रबाहु और स्थूलभद्र तक द्वादशाङ्ग गणि पिटक अविच्छिन्न रहा, परन्तु आर्य स्थूल भद्र के बाद उसमें से पूर्वगत श्रुत का कुछ अंश नष्ट हो गया और आर्य स्थूल भद्र के शिष्य आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ती केवल दश पूर्वधर ही रहे।

अन्तिम दश पूर्वधर आर्यवज्र के बाद दशवां पूर्व भी खण्डित हो गया। उनके पास पढने वाले आर्य रक्षित तथा आर्यवज्र के शिष्य आर्य वज्रसेन प्रमुख के पास साढ़े नव पूर्व से अधिक श्रुत ज्ञान नहीं रहा था।

आर्यरक्षित द्वारा जिन प्रवचन में क्रान्ति

स्थविर आर्य रक्षित विक्रमीय द्वितीय शताब्दी के श्रुतधर थे, दीर्घ जीवी और विपुल श्रमण श्रमणी गण के नेता थे। इनके समय तक देश, काल, पर्याप्त रूप से बदल चुका था। मानव बुद्धि

में भी पर्याप्त ह्रास हो चुका था। इनके पहले के श्रमण अविभक्त अनुयोग मय श्रुत पढते थे, और अपनी बुद्धि से उनमें से अनुयोग नय, निक्षेप विषयक ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। परन्तु आर्य रक्षित जी ने वर्त्तमान समय के लिये इस पद्धति को दुरूह समझा और जैन प्रवचन को चार अनुयोगों में बांट दिया। जिसका सूचक आवश्यक निर्युक्ति की निम्नोद्धृत गाथाओं से मिलता है।

> जावंति अज्जवइरा अपुहुत्तं कालियाणुओगस्स।
> तेणारेणपुहुत्तं कालिय सुअ दिट्ठिवाए य ॥७६२॥
> देविंद वंदिएहिं महाणुभागे हि रक्खि अज्जेहिं।
> जुग मासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउहा ॥७७४
>
> (आ० नि०)

अर्थ—जब तक आर्य वज्र जीवित रहे, तब तक कालिक श्रुत का अनुयोग पृथक् नहीं हुआ था। आर्य वज्र के बाद कालिक श्रुत तथा दृष्टिवाद में अनुयोग पृथक् हुए।

इन्द्रवन्दित महाभाग आर्य रक्षित ने समय की विशेषता पाकर अनुयोग को चार भागों में बांटा, अर्थात् वर्त्तमान श्रुत को चरण करणानुयोग, धर्मकथानुयोग. गणितानुयोग, और द्रव्यानुयोग इन चार विभागों में बांट दिया।

मूल भाष्यकार चार अनुयोगों का सूचन नीचे अनुसार करते हैं

> कालिय सूयं च इसि भासियाइं तइओ य सूर पण्णत्ति।
> सव्वोय दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥१२४॥
>
> (मू० भा०)

अर्थ—कालिक श्रुत (एकादशाङ्ग) ऋषिभाषित (उत्तराध्ययनादि) सूर्यप्रज्ञप्ति (उपलक्षण से चन्द्र प्रज्ञप्ति भी) और सम्पूर्ण दृष्टिवाद इनका क्रमशः चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, कालानुयोग[१], तथा द्रव्यानुयोग, में समावेश होता है।

आवश्यक नियुक्ति का विशेष रूप से कहते हैं।

जं च महाकप्प सुयं जाणिय सेसाणि छेय सुत्ताणि।
चरण करणानुओगोत्ति कालियत्थे उवगयाइं ॥७७७॥

"आ० नि०"

अर्थः—महाकल्प सूत्र और शेष छेद सूत्र (कल्प, व्यवहार निशीथ, आदि) ये सब चरण करणानुयोग होने से कालिक श्रुत में समाविष्ट हो जाते हैं।

आर्य रक्षितजी ने अनुयोगों को ही विभक्त नहीं किया बल्कि दूसरे भी अनेक परिवर्त्तन किये हैं। जैसे पहले प्रत्येक श्रमण अपने पास एक पात्र रखता था, परन्तु आर्य रक्षित जी ने मात्रक नामक एक दूसरा भी पात्र रखने की आज्ञा दी।

आर्य रक्षितजी द्वारा श्रमणों को ग्रामों में निवास करने की आज्ञा देने का भी एक प्राचीन गाथा में सूचन मिलता है, परन्तु उस गाथा का आधार-ग्रन्थ न होने के कारण उस पर विश्वास करना उचित नहीं है, क्योंकि आर्य रक्षित जी के चरित्र

१—इस अनुयोग में ज्योतिष विषयक गणित मुख्य होने के कारण इसका नाम कहीं कहीं गणितानुयोग तथा संख्यानुयोग भी लिखा गया है।

से यह निश्चित होता है कि वे स्वयं ग्राम के बाहर इक्षुवाट आदि स्थानों में ठहरते थे। वास्तव में जैन श्रमणों का वसतिवास विक्रम की चतुर्थी शताब्दी से होने लगा था, और पञ्चमी शताब्दी में सार्वत्रिक वसतिवास हो गया था।

आर्य रक्षित जी के समय में जैन श्रमण बहुधा नग्न भाग ढांकने के लिये कटि के अग्रभाग में कपड़े का एक टुकडा लटकाते थे, जो "अग्रावतार" इस नाम से व्यवहृत होता था। इस बात के समर्थन में हम मथुरा के जैन स्तूप में से निकली हुई आर्य कृष्ण की प्रस्तर मूर्ति का उदाहरण दे सकते हैं। उक्त मूर्ति कुशाण राजा कनिष्क के समय की बनी हुई है। जो समय विक्रमीय द्वितीय सदी के अन्त में पड़ता है।

जैन श्रमणों को झोली में भिक्षा लाने का व्यवहार भी सम्भवतः आर्य रक्षित जी के समय में ही प्रचलित हुआ हो तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि उनके समय में अथवा तो कुछ बाद में बनी हुई आवश्यक निर्युक्ति आदि में वर्णित स्थविर कल्पिक श्रमण की उपधि में मात्रक तथा पात्र निर्योग का निरूपण मिलता है। यह सब होते हुये भी इतना तो निश्चित है, कि उनके समय तक श्रमणों का श्रुताध्ययन प्राचीन शैली से होता था।

प्राचीन काल में जैन श्रमणों को किस क्रम से श्रुताध्ययन कराया जाता था, और किस सूत्र के पढ़ने के लिये कितने वर्ष का चारित्र पर्याय होना आवश्यक माना जाता था, इसका निरूपण

सूत्रों में किया गया है परन्तु उसका विवेचन करने के लिये यह स्थल उचित नहीं।

आर्य रक्षितजी के बाद धीरे धीरे सूत्रों को लिखने का प्रचार होता गया। पांच प्रकार के पुस्तक ताड पत्रों पर लिखकर अनुयोग धर आचार्य आवश्यकतानुसार अपने पास रखने लगे, फिर भी सूत्रों का पठन-पाठन मौखिक ही होता था। काल-वशात् अनेक महत्त्व-पूर्ण आगम ग्रन्थ विच्छिन्न हो गये फिर भी जो कुछ शास्त्र श्रमणों को कण्ठस्थ रहा था, उसको आर्य स्कन्दिल सूरिजी ने मथुरा में तथा आर्य नागार्जुन वाचक जी ने वलभी-पुर में विद्यमान सर्व शास्त्रों को ताड पत्रों पर लिखवा कर सुरक्षित किया, और इन दोनों स्थानों में लिखे गये शास्त्रों का समन्वय बलभी नगरी में विक्रमीय षष्ठी शताब्दी के प्रथम चरण में आचार्य देवर्द्धिगणी जी की प्रमुखता में किया गया जो आज तक चल रहा है।

आर्य भद्र बाहु स्वामी के समय श्रुत ज्ञान अखण्डित था, और उसको पढ़कर सम्पूर्णता प्राप्त करने में श्रमण को बीस वर्ष लगते थे। तब वर्त्तमान जैन श्रुत के पढ़ने में इतना लम्बा समय नहीं लगता क्योंकि सब से विस्तृत अंग सूत्र दृष्टि वाद का अस्तित्व अब नहीं है फिर भी अनेक वर्ष तो लग ही जाते हैं।

कुल गण संघ की व्यवस्था के लिये जैन श्रमण किस प्रकार योग्य अधिकारियों को नियुक्त करते थे, और अपने शिष्यों को किस प्रकार की काल मर्यादा से निर्ग्रन्थ प्रवचन का अध्ययन

कराया करते थे, यह ऊपर कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त श्रमण अपने समुदाय में से पांच प्रकार की सभाओं का निर्माण करके श्रमणों को सूत्र पाठन के साथ साथ विशेष प्रकार की योग्यता प्राप्त कराया करते थे, जिसका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

पांच परिषदें

पठित तथा अभ्यासी श्रमणों में से पांच प्रकार की परिषदें स्थापित की जाती थीं। जिनके नाम तथा कर्त्तव्य निम्नोद्धृत कल्प भाष्य की गाथाओं से ज्ञात होंगे।

आवास गमादीया सुत्तकड पुरंतिया भवे परिसा।
दसमादि उवरिम सुया, हवंति उच्छतंतिया परिसा ॥३८४॥
लोइय-वेइय सभाइयेसु, सत्थेसु जे समो गाढा।
स समय-पर समय विसारया य कुसलाय बुद्धिमती ॥३८५॥
आसन्नपती भत्तं खेय परिस्सम जंतो तहा सत्थे।
कह मुत्तरं च दाहिसि, अमुगो किर आगतो वादी ॥३८६॥
पुव्वं पच्छा जेहिं सिगणादि तविही समणुभूतो।
लोए वेदे समए कया गमा मंति परिसाउ ॥३८७॥
गिठ्या से अत्थ सत्थेहिं कोविया केइ समण भावम्मि।
कज्जे सु सिंह भूयं तु सिंग नादिं भवे कज्जं ॥३८८॥
तं पुण चेइय नासे तदव्वविणासणे दुविह भेदे।
भत्तो वहिवोच्छेदे, अभिवायण-बंध-घायादी ॥३८९॥

वितहं ववहर माणं, सत्थेण वियाणतो निहो डेइ ।
अम्हं सपक्ख दण्डो, न चेरिसो दिक्खिए दंडो ॥३६०॥
सल्लुद्धरणे समणस्सं, चाउकण्णा रहस्सिया परिसा ।
अज्जाणं चउकण्णा छक्कण्णा अट्ठकण्णा वा ॥३६१॥

अर्थः—पहली परिषद् का नाम "सूत्रकृत पुरान्तिका" है। इस परिषद् में आवश्यक सूत्र से लेकर द्वितीयाङ्ग सूत्र कृतान्त तक पढ़े हुए साधु बैठते और अपना अपना पाठ्य सूत्र पढ़ते, तथा उस पर चर्चा समालोचना करते। इस परिषद् में उक्त योग्यता वाला कोई भी श्रमण पढ़ सकता था।

द्वितीय परिषद् का नाम "छत्रान्तिका है। इस परिषद् में दशाश्रुत स्कन्ध तथा उसके ऊपर के सूत्रों के अभ्यासी श्रमण बैठते तथा शास्त्र विषयक ऊहापोह करते, परन्तु इस परिषद् में अपरिणामी तथा अतिपरिणामी श्रमण नहीं बैठ सकते थे, भले ही वे उक्त योग्यता वाले क्यों न हो, इसमें उन्हें बैठने का अधिकार नहीं मिलता था। ॥३८४॥

तीसरी परिषद् "बुद्धिमती" थी। इस परिषद् में बैठने वाले श्रमण लौकिक। वैदिक और सामाजिक शास्त्रों में प्रवीण होते और जैन जैनेतर धार्मिक तथा दार्शनिक शास्त्रों में कुशल होते थे। इस कारण यह परिषद् स्वसमय विशारदा होने से बुद्धिमती कहलाती थी। ॥३८५॥

बुद्धिमत परिषद् में जाने वालों की प्रतिभा को विकसित करने तथा हाजिर जबाबी का गुण उत्पन्न करने के लिये सभ्यों का अनेक प्रश्नों द्वारा तैयार किया जाता था। जैसे "अमुक मान्यता वाला वादी आया है, उसको क्या उत्तर दोगे" इत्यादि प्रश्न पूछ कर उनके उत्तर ढूंढने के लिये सभ्यों को कहा जाता था। जिन्हें वे अपनी तार्किक कल्पनाओं से वास्तविक उत्तरों को ढूंढ निकालते अथवा तो पूछ कर खरा उत्तर प्राप्त करते। इस प्रकार इस परिषद् में बुद्धिमान् श्रमणों की वाद विषयक प्रतिमा को बढाया जाता था।   ॥२८६॥

चौथी परिषद् को मन्त्री पारषद् कहा गया है। इस परिषद् के पार्षद् वे श्रमण होते थे, जिन्होंने कि प्रव्रज्या लेने के पहले अथवा बाद "शृङ्गनादित विधि" का अनुभव किया होता था, तथा लौकिक वैदिक और जैन शास्त्रों का अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त किया होता था।   ॥२८६॥

मन्त्री परिषद् का विशेष स्पष्टीकरण यह है–जिन श्रमणों ने प्रव्रज्या लेने के पूर्व गृहस्थाश्रम में रहते हुए राजनीति शास्त्र द्वारा प्रवीणता प्राप्त की होती, अथवा श्रमण बनने के बाद उक्त विद्वत्ता प्राप्त कर लेते। वे सब कार्यों में चोटी के कार्य जो 'शृङ्गनादित' कहलाते हैं। जैसे किसी दुष्ट विधर्मी द्वारा जिन-चैत्य, देवद्रव्य का विनाश, साधुओं को भोजन तथा उपधि देने से रोकना, श्रमणों को ब्राह्मण आदि को अभिवादन करने की आज्ञा तथा श्रमणों को बन्दी खाने में डालना और मार-पीट

करना आदि कार्य जो "शृङ्गनादित" कहलाते हैं, उन कार्यों के उपस्थित होने पर राजा के व्यवहार को असत्य जानता हुआ इस परिषद् का नेता कायदा शास्त्र से उत्तर देता, और राजा को निरुत्तर करके कहता, अगर हमारे पक्ष वालों का कोई अपराध है तो उन्हें हम दण्ड देंगे। न्यायानुसार दीक्षित को ऐसा दण्ड नहीं दिया जाता, जैसा कि आप देना चाहते हैं।

॥३८८-३८९-३९०॥

राहसिकी परिषद् श्रमण तथा श्रमणियों के दोषों का उद्धार करने के लिये प्रायश्चित्त देने का काम करती है। यह परिषद् 'चतुष्कर्णा' 'षट्कर्णा' अथवा 'अष्टकर्णा' होती है। ॥३९१॥

जहां श्रमण प्रायश्चित्त लेने वाला हो, वहां वह आचार्य के पास एकान्त में जाकर विधिपूर्वक अपने अतिचारों-व्रत में लगे हुए दोषों को प्रकट करता है, और आचार्य उसको शुद्धि योग्य प्रायश्चित्त देते हैं। यह 'चतुष्कर्णा' राहसिकी परिषद् कहलाती है।

जहां प्रायश्चित्त लेने वाली श्रमणी होती है, वह अपने साथ एक दूसरी वृद्ध श्रमणी को लेकर स्थविर आचार्य के पास जाती है और अपने दोषों को प्रकट करके आचार्य से प्रायश्चित्त लेती है। 'षट्कर्णा' राहसिकी परिषद् कहलाती है।

जहां श्रमणी द्वितीय के साथ प्रायश्चित्त लेने को आचार्य के पास जाती है, और आचार्य तरुण होने से अपने पास एक

समझदार वृद्ध श्रमण को बैठाकर श्रमणी को प्रायश्चित्त देते हैं। यह राहसिकी परिषद् 'अष्टकर्णा, कहलाती है।

श्रमणों की दिन चर्या

जैन श्रमणों की दिनचर्या के विषय में जैन सूत्रों में बहुत लिखा हुआ है, परन्तु उन सभी का वर्णन करने का यह स्थल नहीं. यहां पर हम उन्हीं बातों का संक्षेप में सूचन करेंगे, जो आज तक मौलिक हैं।

१—जैन श्रमण को पिछले पहर रात रहते निद्रा त्याग कर उठ जाने का आदेश है।

२—रात्रि के चौथे प्रहर में उठ कर वह प्रथम स्वाध्याय ध्यान करता है, और रात्रि के अन्तिम मुहूर्त्त में प्रतिक्रमण करके प्रतिलेखना करता है।

३—प्रतिलेखना के अनन्तर सूर्योदय के बाद अपने स्थान को प्रमार्जित कर फिर दिवस के प्रथम प्रहर में वह यदि विद्यार्थी

१—आजकल भिक्षा–चर्या का टाइम मध्यान्ह का नहीं रहा। देशानुसार जिस देश में लोगों के भोजन करने का समय होता है लगभग उसी समय में उस देश में विचरने वाले भिक्षा चर्या को चले जाते हैं। पूर्वकाल में प्रत्येक श्रमण नियमतः एक समय ही भोजन करते थे, परन्तु आजकल एक भुक्ति का भी नियम नहीं रहा। इसलिये भिक्षाचर्या के जाने के समय में भी परिवर्त्तन हो गया है। आजकल अधिकांश श्रमण दो बार भोजन करते हैं।

हो तो सूत्र का अध्ययन करता है, और अन्य साधु अपने अभ्यस्त शास्त्रों का पारायण करते हैं।

४—दिवस के द्वितीय प्रहर में श्रमण पढ़े हुए सूत्र का आचार्य के पास अर्थ सीखता है।

५—दो प्रहर हो जाने पर वह भिक्षा चर्या में जाने की तैयारी करता है, और गुरु की आज्ञा लेकर बस्ती में से जरूरी आहार पानी लेकर अपने उपाश्रय में आता है।

६—आचार्य के सामने ईर्य्या पथ प्रतिक्रमण कर भिक्षान्न गुरु को बताता है, और उस में से कुछ लेने के लिये गुरु को तथा अन्य श्रमणों को प्रार्थना करता है।

७—भोजन करने के बाद भोजन पात्रों को साफ कर योग्य स्थान पर रख के फिर देह चिन्ता-निवृत्त्यर्थ स्थण्डिल भूमि को जाता है, अगर उसे विहार कर ग्रामान्तर चला जाना होता है, तो भी दिवस के तीसरे प्रहर में ही विहार करेगा[1]। फिर वह शास्त्राध्ययन करता है।

८—दिवस के चतुर्थ प्रहर में वह प्रतिलेखना कर के स्वाध्याय करता है।

१—तीसरे प्रहर विहार करने का नियम भी आजकल शिथिल हो गया है। श्रमणों का अधिक भाग आज कल दिनके पहले प्रहर में ही विहार किया करता है।

९ पिछला मुहूर्त्त भर दिन रहते पानी का त्याग कर के सन्ध्या समय दैवसिक प्रतिक्रमण करता है।

१०—फिर रात्रि के प्रथम प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय ध्यान करके सो जाता है।

११—लग भग छः घंटे तक वह निद्रा लेता है। रात्रि का चतुर्थ प्रहर लगने पर वह उठ जाता है।

१२—कृष्ण तथा शुक्ल चतुर्दशी के दिन श्रमण उपवास करता है, और पाक्षिक प्रतिक्रमण करता है। आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा, कार्त्तिक शुक्ल पूर्णिमा, और फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा को वह चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करता, और चतुर्दशी पूर्णिमा का षष्ठ भक्त (दो दो उपवास) का तप करता है। [1] भाद्र पद शुक्ला-पञ्चमी को सांवत्सरिक प्रति क्रमण करता है, और तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी का अष्टमभक्त (तीन उपवास) तप करता है। [2]

१—इस नियम में भी परिवर्त्तन हो चुका है,जब तक सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण भाद्रपद शुक्ला पंचमी को होता था, तब तक चातुर्मासिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा को होता रहा, परन्तु विक्रम के पूर्व प्रथम शताब्दी में आचार्य आर्यकालक सूरिजीने कारणिक भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को सांवत्सरिक पर्व किया, उसके बाद चातुर्मासिक प्रतिक्रमण भी चतुर्दशी में आगये।

२—आर्य कालक द्वारा सांवत्सरिक पर्व भाद्र पद शुक्ल चतुर्थी को करने के बाद सर्व जैन संघ ने उसी दिन सांवत्सरिक पर्व करना नियत

श्रमण की जीवन-चर्या

इस शीर्षक के नीचे हम श्रमण के उन नियमों की सूची देंगे, जिन्हें वह जीवन-पर्यन्त पालन करता है।*

१—श्रमण किसी भी सचित्त पृथ्वी को नहीं खोदता।

२—वह खेती के लिये हलकृष्टभूमि में नहीं चलता।

३—श्रमण प्रासुक पानी को छोड़कर सचित्त जल को कभी नहीं पीता।

४—वह अपने कपड़े नदी तालाब आदि में न धोकर खास आवश्यकता के समय अचित्त जल "गर्म पानी" से धोता है।

किया, जो विक्रम की बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलता रहा। विक्रम सम्वत् ११६६ ग्यारह सौ ऊनहत्तर में अंचल गच्छ के प्रवर्त्तक आचार्य ने चतुर्थी को किये जाने वाले सांवत्सरिक पर्व का विरोध किया। उन्होंने कहा कालकाचार्य ने कारण वश चतुर्थी को पर्वाराधन किया था, परन्तु अब वह कारण नहीं है, अतः—पर्युषण पर्व पंचमी को ही मनाना चाहिए। पौर्णमिक गच्छ वालों ने भी अंचल गच्छ वालों का साथ दिया। आज आंचलिक, पौर्णमिक लोंकागच्छ तथा पार्श्वचन्द्र गच्छ के अनुयायी श्रमण तथा श्रावक भाद्रपद शुक्ल पंचमी को सांवत्सरिक पर्व मनाते हैं, तपागच्छ, खरतर गच्छ, आगमिक आदि जैन संघ का मुख्य भाग आर्य कालक की परम्परानुसार भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को सांवत्सरिक पर्व का आराधन करता है और आषाढ़ी, कार्त्तिकी, फाल्गुनी, शुक्ल चतुर्दशी को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करता है।

५—वह वृष्टिकाल के मध्य अपने आश्रय स्थान से बाहर नहीं निकलता।

६—वह स्नान नहीं करता।

७—श्रमण अग्नि को कभी नहीं जलाता, न जलती हुई आग का शीत काल में भी सेवन करता है।

८—श्रमण अपने आश्रय स्थान पर दीपक न रखता, न रखवाता है।

९. श्रमण कितनी भी गर्मी क्यों न हो वस्त्र से तथा पंखा से हवा नहीं लेता।

१०. वह रात्रि के समय खुले मैदान में नहीं बैठता और न सोता है।

११. श्रमण हरी वनस्पति को नहीं छूता है।

१२. वह कच्चे नाज नहीं खाता न स्पर्श ही करता है।

१३. श्रमण अपने लिये बनाये गये भोजन पानी को स्वीकार नहीं करता, न स्वयं कुछ पकाता पकवाता है।

१४. वह प्याज, मूली, लहसुन. सक्कर कन्द, आदि तमाम कन्द मूलों को प्रासुक होने पर भी भिक्षा में नहीं लेता।

१५. श्रमण भोजन पानी दवाई आदि खाद्य पेय पदार्थ को अपने पास बासी नहीं रखता है।

१६. वह मांस तथा किसी भी नशीली चीज का सेवन नहीं करता है।

१७. वह रजोहरण, मुखवस्त्र, कटिपट्ट, दण्ड, तथा अन्य आवश्यक वस्त्र, पात्र, पुस्तक के अतिरिक्त कोई परिग्रह नहीं रखता है।

१८. उस का दण्ड लकडी का होता है, जो उसके कानों तक पहुँचे इतना लम्बा होता है।

१९. उसके भोजन-पात्र, तथा जल-पात्र, तुम्बे लकड़ी अथवा मिट्टी के होते हैं।

२०. वह अपने पास किसी प्रकार का द्रव्य सिक्का नोट धातु आदि नहीं रखता है।

२१. वह भूमि पर सोता है, मात्र वर्षा काल में लकड़ी के पट्टो पर पथारो करता है, चार पाई पलङ्ग, आदि पर नहीं सोता है।

२२. वह सूर्यास्त के बाद अपना स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाता है।

२३. वह शीत काल तथा उष्ण काल में एक स्थान में मास से अधिक नहीं रहता है।

२४. वह वर्षा काल में चार मास तक एक स्थान में रहता है।

२५. वह अपने विहार में किसी प्रकार के यान वाहन का उपयोग नहीं करता है।

२६. विहार में वह अपना सामान स्वयं लेकर चलता है।

२७. वह अल्प मूल्यक श्वेतवस्त्रों के सिवाय अन्य रंग के वस्त्र नहीं पहनता है।

२८. विहार के रास्ते में नदी आने पर पानी में होकर नदी पार कर सकता है।

२६. वह गहरी नदी को नौका में बैठकर पार कर सकता है, परन्तु समुद्र-यात्रा नहीं कर सकता।

३०. वह खुले शिर नङ्गे पैर चलता है।

३१. वह कड़ी धूप में भी शिर पर छाता नहीं रखता है।

३२. श्रमण किसी पदार्थ का क्रय-विक्रय नहीं करता है।

३३. वह गृहस्थ धर्मी के सम्पर्क से सदा दूर रहता है।

३४. वह ऐसे स्थान में कभी नहीं ठहरता, जिसमें पशु, पंडक स्त्री आदि रहते हों।

३५. वह साल भर में दो बार अपने शिर तथा मुंह के बालों का लुञ्चन करता है।

३६ वह सिले हुए वस्त्र को नहीं पहनता है।

३७. श्रमण पञ्चास्रव से सदा दूर रहता है।

३८. श्रमण अपने गृहीत नियमों को अखण्डित रखता है।

३६. जिन कार्यों का उसने त्याग किया है, उन्हें जीवन पर्यन्त नहीं करता है।

४०. श्रमण सर्व जीवों के साथ समदृष्टि रखता है।

४१. वह विग्रह (क्लेश) जनक बात अपने मुख से नहीं निकालता है।

४२. श्रमण सर्व प्रकार के आक्रोश वधादि को पृथ्वी की तरह सहन करता है।

४३. वह निस्नेह और सत्कार पुरस्कार की इच्छा का त्यागी होता है।

४४. वह ऐसा वचन कभी नहीं बोलता जिसके सुनने से दूसरे को दुःख हो।

४५. श्रमण अपनी जाति, रूप, ज्ञान, आदि का अहंकार नहीं करता है।

४६. वह श्रामण्य स्वीकार दिन से मनसा, वाचा, कर्मणा, ब्रह्मचारी होता है।

४७. वह स्वयं धर्म में दृढ़ रहता हुआ, आर्य वचनों द्वारा अन्य मनुष्य को धर्म में जोड़ा करता है।

४८. वह अपने इस अशाश्वत जीवन पर आस्थावान् नहीं होता, और मरण के लिये सदा तैयार रहता है।

४९. वह अपने जीवन का अन्त निकट आने पर अन्य प्रवृत्तियों को छोड़कर अनशन करके अर्हद् देव के ध्यान में लीन होकर शरीर का त्याग करता है।

श्रमण जीवन के अगणित नियमों में से थोड़े से स्थूल नियम ऊपर लिखे हैं, इनके पढ़ने से वाचक गण को यह ज्ञात हो जायगा कि जैन श्रमण का जीवन कितना अहिंसक, निरीह और आत्मलक्षी होता था और होता है।

जैन श्रमण का तप

यों तो जैन वैदिक बौद्ध आदि भारत वर्षीय सभी सम्प्रदायों में तप का महत्त्व माना गया है। तपस्वी, तापस आदि नाम तपस् शब्द से ही निष्पन्न हुए हैं, फिर भी जैन श्रमणों का तप कुछ विशेषता रखता है। जैन श्रमण पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिकादि नियत तप तो करते ही हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की तपो विधियां जैन सूत्रों में दी गयी है। जिनके अनुसार भिन्न भिन्न तपस्या का आराधन करके श्रमण अपने कर्मों की निर्जरा किया करते हैं।

द्वादश विध तप

जैन शास्त्र कारों ने सामान्य-रूप से तप के दो प्रकार माने हैं, एक बाह्य दूसरा आभ्यन्तर। इस प्रत्येक प्रकार के छः छः उप-भेद बताये गये हैं, जो निम्नोद्धृत गाथाओं से ज्ञात होंगे।

अणसणमूणोअरिया, वित्तिसंखेवणं रसचाओ ।
काय किलेसो संलीनया य, वज्झो तवो होइ ॥१॥

अर्थ—अनशन १, ऊनोदरिका २, वृत्ति संक्षेप ३, रसत्याग ४ कायक्लेश ५, और संलीनता ६, इस प्रकार का बाह्य तप होता है।

भावार्थ—इस का तात्पर्य यह है कि भोजन न करना यह अनशन कहलाता है, भूख से इच्छा पूर्वक कम खाना ऊनोदरिका अथवा अवमौदर्य कहलाता है, अनेक खाद्य चीजों में से अमुक

रखकर शेष सभी का त्याग करने का नाम वृत्ति संक्षेप है, दूध, दही, घी, सक्कर, पक्वान्न आदि में से अमुक अथवा सभी त्याग करना इसका नाम रस-त्याग है। इच्छा पूर्वक शारीरिक कष्ट केश लोच वीरासन, आदि कष्टकारी क्रियायें करना कायक्लेश तप है, इन्द्रियों को वश कर निर्जन स्थानों में निवास करना सलीनता नामक तप है।

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गोविय, अब्भिंतरओ तवो होई ॥२॥

अर्थ—प्रायश्चित्त १, विनय २, वैयावृत्त्य ३, तथा स्वाध्याय ४, ध्यान ५, और उत्सर्ग ६, यह आभ्यन्तर तप होता है।

भावार्थ—प्रायश्चित का तात्पर्य है, अपना अपराध गुरु के समक्ष प्रगट कर गुरु से उसके शुद्ध्यर्थ दण्ड लेना, विनय का अर्थ अपने पूजनीय पुरुषों के सामने नम्रभाव से वर्त्तना, वैयावृत्त्य का तात्पर्य है सेवा करना बाल, वृद्ध, ग्लान, आचार्य, उपाध्याय आदि के लिये जरूरी कार्यों में प्रवृत्त होने का नाम वैयावृत्य तप है। सूत्र सिद्धान्त का पाठ-पारायण करना स्वाध्याय कहलाता है, मानसिक, कायिक वाचिक एकाग्रता पूर्वक आत्मचिंतन को ध्यान कहते हैं। उत्सर्ग का पूरा नाम है कायोत्सर्ग, शरीर का मोह छोड़ कर बैठे-बैठे अथवा खड़े-खड़े पवित्र नाम का स्मरण करना अथवा मानसिक एकाग्रता साधने का नाम है कायोत्सर्ग। लोकदृष्टि में तपोरूप न होने पर भी इन छह ही प्रकारों को जैन श्रमण आभ्य-

न्तर तप मानते हैं, क्योंकि बाह्य तप की ही तरह इनसे भी आत्म-विशुद्धि ही होती है।

उक्त द्वादश विध तप में से अनशन तप की आराधना के अनेक भेद उपभेद जैन सूत्रकारों ने लिखे हैं। जिनमें से कतिपय तपोविधानों का यहां दिग्दर्शन कराते हैं।

रत्नावली तप

चतुर्थ भक्त-पारणा, षष्ठभक्त-पारणा, अष्टम-भक्त पारणा, आठ षष्ठभक्त और आठ पारणे। चतुर्थ भक्त-पारणा, षष्ठभक्त-पारणा, अष्टमभक्त और पारणा, दशमभक्त-पारणा, द्वादशभक्त-पारणा, चतुर्दश भक्त-पारणा, षोडशभक्त-पारणा, अष्टादशभक्त-पारणा, विंशतिभक्त-पारणा, द्वाविंशतिभक्त-पारणा, चतुर्विंशतिभक्त पारणा, षड्विंशतिभक्त-पारणा, अष्टाविंशतिभक्त-पारणा, त्रिंशद्भक्त-पारणा, द्वात्रिंशद्भक्त-पारणा, चतुस्त्रिंशद्भक्त-पारणा, चौतीस षष्ठ भक्त और चौतीस पारणे। चतुस्त्रिंशद्भक्त, पारणा, द्वात्रिंशद्भक्त-पारणा, त्रिंशद्भक्त-पारणा, अष्टाविंशतिभक्त-पारणा, षड्विंशति-भक्त-पारणा, चतुर्विंशतिभक्त पारणा, द्वाविंशतिभक्त-पारणा, विंशतिभक्त-पारणा, अष्टादशभक्त-पारणा, षोडशभक्त-पारणा, चतुर्दशभक्त-पारणा, द्वादशभक्त-पारणा, दशभक्त-पारणा, अष्टभक्त-पारणा, षष्ठभक्त-पारणा, चतुर्थभक्त—पारणा, आठ षष्ठ भक्त और आठ पारणे। अष्टमभक्त-पारणा, षष्ठभक्त-पारणा, चतुर्थभक्त-पारणा।

उक्त प्रकार से रत्नावली तप के कुल दिन तीन सौ चौरासी (३८४) और पारणों के दिन अठासी (८८) होते हैं। इस

प्रकार एक वर्ष तीन मास और बाईस दिन में रत्नावली की प्रथम परिपाटी पूरी होती है। तथा चार परिपाटियों में यह तप पूरा होता है। पहली परिपाटी में पारणा सर्वकामगुणित आहार से होता है दूसरी परिपाटी में निर्विकृतिक भोजन से होता है। तीसरी परिपाटी में निर्लेप द्रव्यों से होता है। और चौथी परिपाटी में पारणा आयंबिल से होता है। इस प्रकार निरन्तर रत्नावली तप करने से पांच वर्ष दो मास अट्ठाईस दिन में सम्पूर्ण होता है।

परिभाषाओं की स्पष्टता

यहां पारिभाषिक शब्दों की स्पष्टता करना उचित समझते हैं। सामान्य रूप से मनुष्यों के दैनिक दो भोजन होते हैं, सुबह का और शाम का। जैन श्रमण यों तो एक बार ही भोजन करते हैं, परन्तु अमुक कारणसे दो बार मगर दो से अधिक बार भी भोजन लेने का आदेश मिलता है। परन्तु उपवास से लगा कर कोई भी छोटी बड़ी तपस्या करनी होती है, तब वे तप के पूर्व दिन एक ही बार भोजन लेते हैं। इसी प्रकार उपवास के दूसरे दिन भी एक ही बार भोजन लेते हैं। इस तप को चतुर्थ भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं, क्यों कि पूर्व उत्तर के दो दिनों के दो और उपवास के दिन के दो ऐसे चार भोजनों का उसमें त्याग होता है।

इसी प्रकार दो, तीन, चार, पांच, आदि कितने भी दिन के संलग्न उपवास हो, परन्तु तप के पूर्व उत्तर दो दिनों के दो

भोजन करते होने से उनका उल्लेख तप के प्रत्याख्यान में किया जाता है, और दो उपवास को षष्ट भक्त प्रत्याख्यान चार उपवास को दश भक्त, पांच उपवास को द्वादश इत्यादि संज्ञायें प्राप्त होती है। यावत् सोलह उपवास को चतुर्स्त्रिशत् भक्त कहा जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र उपवासों के दो दो भक्त और पूर्व उत्तर दिन का एक भक्त छोड़ा जाने के कारण उक्त सर्व संज्ञायें बनती है।

उपर्युक्त रत्नावली का विधान परिभाषामय होने के कारण दुर्बोध होने से उसी वस्तु को परिभाषाओं से मुक्त करके सुगमता के निमित्त दुबारा लिखते हैं।

रत्नावली तप करने वाला श्रमण एक उपवास और पारणा, दो उपवास-पारणा, तीन उपवास-पारणा करके दो दो उपवास और पारणा करता हुआ, चौबीस दिन में सोलह उपवास और आठ पारणा करेगा। इस के बाद फिर एक उपवास और पारणा, दो उपवास और पारणा ऐसे तप में एक एक दिन की वृद्धि करता हुआ सोलह उपवास और पारणा करेगा। इसके बाद फिर वह चौंतीस दो दो उपवास और पारणा करता चला जायगा। फिर सोलह उपवास और पारणा, पन्द्रह उपवास-पारणा, ऐसे एक एक उपवास घटाता हुआ एक उपवास और पारणा करेगा। इस के बाद आठ दो दो उपवास और पारणे कर तीन उपवास और पारणा, दो उपवास पारणा, और एक उपवास तथा पारणा करके रत्नावली तप की प्रथम परिपाटी को पूरा करेगा। ऐसे ही दूसरी तीसरी और चौथी परिपाटी में भी तपस्या करेगा, केवल पारणा के दिन प्रथम परिपाटी में इच्छित आहार लेगा, दूसरी परिपाटी में घृत दूध आदि को छोड़ कर सामान्य आहार

लेगा, तीसरी परिपाटी के पारणा में खजूर द्राक्षा आदि मेवा भी त्याग करेगा और चौथी परिपाटी में केवल नीरस और रूक्ष आहार से पारणा करेगा।

कनकावली

कनकावली तप की परिपाटी भी रत्नावली की जैसी है। भेद मात्र इतना ही है कि रत्नावली में दो स्थान पर आठ आठ षष्ठ भक्त प्रत्याख्यान आते हैं, वहां कनकावली में अष्टम भक्त प्रत्याख्यान किया जाता है। ऐसे ही रत्नावली के चौंतीस षष्ठ भक्तों के स्थान पर कनकावली में चौंतीस अष्टम भक्त किये जाते हैं। शेष रत्नावली के दोनों भागों में एक एक की वृद्धि से सोलह पर्यन्त के तपों की परिपाटी कनकावली में भी समझ लेनी चाहिए। इस प्रकार रत्नावली की एक परिपाटी के दिनों से कनकावली में पचास दिन बढ़ते हैं। ऐसे चारों परिपाटियों में पचास पचास दिन बढ़ाने से कनकावली तप पांच वर्ष नवमास अठारह दिन में पूरा होगा। पारणों के विषय में रत्नावली की तरह कनकावली में क्रमशः इच्छित १, निर्विकृतिक २, अलेप कृत द्रव्य ३, और आयंबिल ४, से पारणे किये जाते हैं।

मुक्तावली तप

मुक्तावली तप में एक उपवास–पारणा, दो उपवास–पारणा फिर एक उपवास–पारणा, तीन उपवास–पारणा, एक उपवास–पारणा, चार उपवास–पारणा, एक उपवास–पारणा, पांच उपवास

पारणा, एक उपवास-पारणा, छह उपवास-पारणा, एक उपवास-पारणा, फिर सात उपवास-पारणा, एक उपवास पारणा, आठ उपवास-पारणा, एक उपवास-पारणा, इसी प्रकार नव उपवास-एक उपवास, दश उपवास, एक उपवास, ग्यारह उपवास, एक उपवास, बारह उपवास, एक उपवास, तेरह उपवास, एक उपवास, चौदह उपवास, एक उपवास, पन्द्रह उपवास, एक उपवास, पारणों के साथ कर अन्त में सोलह उपवास और पारणा किया जाता है। इस प्रकार अर्द्ध मुक्तावली के कुल दिन एक सौ अस्सी (१८०) होते हैं। इसी प्रकार दूसरी तरफ के मुक्तावली के अर्द्ध में विपरीत क्रम से सोलह उपवास, एक उपवास, फिर पन्द्रह उपवास, एक उपवास, चौदह, एक, तेरह, एक बारह एक, ग्यारह एक, दश एक, नव एक, आठ एक, सात एक, छह एक, पांच एक, चार एक, तीन एक, दो एक, इस क्रमसे उपवास और पारणा करनेसे मुक्तावली तपकी प्रथम परिपाटी बारह मास में पूरी होती है। इसी प्रकार दूसरी, तीसरी, चौथी, परिपाटी की जाती है। पारणा यथेच्छ आहार से किया जाता है। मुक्तावली तप चार वर्ष में सम्पूर्ण होता है[१]।

१—अन्तकृद्दशांङ्ग सूत्र में मुक्तावली तप की एक परिपाटी ग्यारह महिने पन्द्रह दिन में और सम्पूर्ण तप, तीन वर्ष दश महीनों में पूरा होने का विधान बताया है। इसका कारण यह है कि सूत्र में मुक्तावली के मध्यभाग में केवल एक ही बार सोलह उपवास करने का निर्देश है। इस कारण से एक सौलह और पारणा का दिन मिल कर सत्रह दिन एक परिपाटी में कम होते हैं, परन्तु सोलह के पहले पीछे एक उपवास के बदले दो दो उपवास लेने से साढ़े ग्यारह महीनों का हिसाब मिल जाता है।

लघु सिंह निष्क्रीड़ित तप

लघु सिंह निष्क्रीड़ित तप करने वाला एक उपवास और पारणा, दो उपवास–पारणा, एक उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, पांच उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, छह उपवास पारणा, पांच उपवास पारणा, सात उपवास पारणा, छह उपवास पारणा, आठ उपवास पारणा, सात उपवास पारणा, नव उपवास पारणा, आठ उपवास पारणा नव उपवास पारणा, सात उपवास पारणा, आठ उपवास पारणा, छह उपवास पारणा, सात उपवास पारणा, पांच उपवास पारणा, छह उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, पांच उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, एक उपवास पारणा।

लघु सिंह निष्क्रीड़ित तप में तपोदिन एक सौ चौपन तथा पारणा के दिन तैंतीस कुल दिन एक सौ सतासी एक परिपाटी में होते हैं, जो छह मास और सात दिन होते हैं। इसी प्रकार चार परिपाटियों के दो वर्ष अट्ठाईस दिन होते हैं। लघु सिंह निष्क्रीड़ित में पारणा यथेच्छ आहार से किया जाता है।

महा सिंह निष्क्रीड़ित तप

एक उपवास, दो उपवास, एक उपवास, तीन उपवास, दो उपवास, चार उपवास, तीन उपवास, पांच उपवास, चार उपवास, छह उपवास, पांच उपवास, सात उपवास, छह उपवास, उपवास, आठ

उपवास, सात उपवास, नव उपवास, आठ उपवास, दश उपवास, नव उपवास, ग्यारह उपवास, दस उपवास, बारह उपवास, ग्यारह उपवास, तेरह उपवास, बारह उपवास, चौदह उपवास, तेरह उपवास, पन्द्रह उपवास, चौदह उपवास, सोलह उपवास, पन्द्रह उपवास, सोलह उपवास, चौदह उपवास, पन्द्रह उपवास, तेरह उपवास, चौदह उपवास, बारह उपवास, तेरह उपवास, ग्यारह उपवास, बारह उपवास, दश उपवास, ग्यारह उपवास, नव उपवास दश उपवास, आठ उपवास, नव उपवास, सात उपवास, आठ उपवास, छः उपवास, सात उपवास, पांच उपवास, छः उपवास, चार उपवास, पांच उपवास, तीन उपवास, चार उपवास, दो उपवास, तीन उपवास, एक उपवास, दो उपवास, एक उपवास।

इस महासिंह निष्क्रीडित तप में तप की एक परिपाटी में एक–सठ तपः स्थान और एक–सठ पारणे आते हैं। तपः स्थानों की दिन संख्या ४९७ (चार सौ सत्ताणवें) में पारणा के दिन ६१ एक सठ मिलाने से कुल समय १ एक वर्ष, छः मास और अठारह दिन होते हैं। चारों परिपाटियों का सम्मिलित समय छः वर्ष दो मास बारह दिन होता है। इस तप में भी पारणा सर्व काम गुणित आहार से किया जाता है।

भिक्षु प्रतिमा

भिक्षुओं के अभिग्रह विशेष को भिक्षु प्रतिमा कहते हैं। भिक्षु प्रतिमाओं का निरूपण करके विस्तार नहीं करेंगे। यहां पर केवल

सप्तमी अष्टमी, नवमी और दशमी प्रतिमाओं से सम्बन्ध रखने वाले तपों का ही निरूपण करेंगे।

सप्त सप्तमिका प्रतिमा

सप्तमी प्रतिमा सप्त रात्रि दिन की है, परन्तु इसे सात बार आराधन करने से यह सप्तसप्तमिका कहलाती है। इसमें उपवास कुल ऊनपचास और भोजन दत्तियां एक सौ छयानवें होती हैं।

पहले सप्तक में एक उपवास और पारणे में एक ही भोजन पानी की दत्ति ली जाती है। दूसरे सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में दो दो दत्तियां ली जाती हैं। तीसरे सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में तीन-तीन दत्तियां ली जाती हैं। चौथे सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में चार चार दत्तियाँ ली जाती हैं। पाँचवें सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में पांच-पांच दत्तियां ली जाती हैं। छट्टे सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में छः छः दत्तियां ली जाती हैं। सातवें सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में सात-सात दत्तियाँ ली जाती हैं। इस प्रकार सप्तसप्तमिका प्रतिमातप में उन-पचास उपवास और उन-पचास ही पारणा के दिन आते हैं। उन-पचास पारणा में कुल भिक्षा दत्तियां एक सौ छयानवें आती हैं, और यह सप्त-सप्तमिका तप तीन महीना आठ दिन में सम्पूर्ण होता है।

अष्ट अष्टमिका प्रतिमा तप

सप्त सप्तमिका की ही तरह अष्ट अष्टमिका के पहले अष्टक के प्रत्येक उपवास के पारणे में एक एक दत्ति भोजन पानी की

ली जाती है। इसी प्रकार दूसरे अष्टक में दो दो, तीसरे अष्टक में तीन-तीन, चौथे अष्टक में चार चार, पांचवें में पांच-पांच, छट्ठे में छः छः, सातवें में सात सात और आठवें में आठ-आठ भोजन पानी की दत्तियां ग्रहण की जाती हैं। इस प्रतिमा-तप में चौसठ उपवास और चौसठ ही पारणे आते हैं। भिक्षा दत्तियां कुल दो सौ अट्ठासी होती हैं। यह तप चार महीना आठ दिन में पूरा होता है।

नव नवमिका प्रतिमा तप

नव नवमिका के प्रथम नवक में उपवास के पारणे एक एक, दूसरे नवक में दो दो, तीसरे में तीन-तीन, चौथे में चार-चार, पांचवें में पांच–पांच, छट्ठे में छः छः, सातवें में सात–सात, आठवें में आठ–आठ और नवें में नव–नव, भोजन पानी की भिक्षा दत्तियां ली जाती हैं। इसमें उपवास एकासी और पारणे एकासी आते हैं। भिक्षा दत्तियां चार सौ पांच होती हैं। यह प्रतिमा तप पांच महीने बारह दिन में सम्पूर्ण होता है।

दश दशमिका प्रतिमा तप

इस प्रतिमा में प्रथम दशक के उपवास के पारणे में भोजन पानी की एक-एक दत्ति ली जाती है। इसी प्रकार दूसरे में दो–दो, तीसरे में तीन–तीन, चौथे में चार–चार, पांचवें में पांच–पांच, छट्ठे में छः छः, सातवें में सात–सात, आठवें में आठ-आठ,

नवमें में नव–नव, दशवें में दश–दश भोजन पानी लेने का विधान है। इसमें उपवास के दिन एक सौ और पारणा के दिन एक सौ मिलकर छः मास बीस दिन में यह प्रतिमा तप पूरा होता है।

इन चारों प्रतिमातपों की संलग्न आराधना एक वर्ष, सात मास, अठारह दिन में होती हैं।

लघु सर्वतो भद्र तप[१]

लघु सर्वतो-भद्रतप की एक परिपाटी में तपोदिन पचहत्तर और पारणा पचीस होते हैं। इसी प्रकार चारों परिपाटियों में समझ लेना चाहिए। एक परिपाटी तीन मास दश दिन में पूरी होता है। सम्पूर्णतप एक वर्ष एक मास दश दिन में पूरा होता है। इस तप की चारों परिपाटियों में पारणे क्रमशः सर्वकाम गुणित, निर्विकृत, निर्लेप और आयंबिल से किये जाते है।

लघु सर्वतो-भद्र करने वाला श्रमण एक एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास और पारणा, करके फिर ३, ४, ५, १, २, उपवास करके पारणा करेगा। इसी प्रकार ५, १, २, ३, ४, तथा २, ३, ४, ५, १, और ४, ५, १, २, ३, उपवास करके पारणा करेगा।

इस तप की दूसरी परिपाटी में ५, २, ४, १, ३, तथा ४, १,

---

१. ग्रन्थान्तर में इस तप का नाम "भद्रप्रतिमा" भी लिखा है।

३, ५, २, तथा ३, ५, २, ४, १, तथा २, ४, १, ३, ५, और १, ३, ५, २, ४, उपवास और पारणा करेगा।

इस तप की तीसरी परिपाटी में ३, २, १, ५, ४, तथा १, ५, ४, ३, २, तथा ४, ३, २, १, ५, तथा २, १, ५, ४, ३, और ५, ४, ३, २, १, उपवास और पारणा करेगा।

इस तप की चौथी परिपाटी में ३, १, ४, २, ५, तथा २, ५, ३, १, ४, तथा १, ४, २, ५, ३, तथा ५, ३, १, ४, २, और ४, २, ५, ३, १, उपवास करके पारणा करेगा।

महा सर्वतो भद्र तप[1]

महा सर्वतोभद्र तप का भी क्रम लघु सर्वतो भद्र के जैसा ही है। लघु की एक पंक्ति में पांच अङ्क होते हैं, तब इस "महासर्वतो भद्र" की एक पंक्ति में सात अङ्क रहते हैं। उसमें एक पंक्ति के अङ्कों की जोड़ पन्द्रह है, तब इसकी एक पंक्ति के अङ्कों की जोड़ अठाईस होते हैं। इस कारण इसकी एक परिपाटी के तपोदिन एक सौ छ्यानवें और पारणा के दिन उन पचास मिलकर कुल दिन दो सौ पैंतालीस होते हैं। जो महीनों में आठ मास पांच दिन के बराबर होते हैं, और चारों परिपाटियों का समय दो वर्ष आठ मास बीस दिन होता है।

महासर्वतोभद्र तप करने वाला प्रथम १, २, ३, ४, ५, ६, ७, उपवास करके फिर ४, ५, ६, ७, १, २, ३, फिर ७, १, २, ३, ४,

---

१. ग्रन्थान्तर में इस तप का नाम "महा प्रतिमा" लिखा मिलता है।

५, ६, फिर ३, ४, ५, ६, ७, १, २, फिर ६, ७, १, २, ३, ४, ५, फिर २, ३, ४, ५, ६, ७, १, फिर ५, ६, ७, १, २, ३, ४, इस क्रम से उपवास करके महासर्वतो भद्र की दक्षिण दिशा तरफ मुड़ेगा और क्रमशः ७, ३, ६, २, ५, १, ४, फिर ६, २, ५, १, ४, ७, ३, फिर ५, १, ४, ७, ३, ६, २, फिर ४, ७, ३, ६, २, ५, १, फिर ३, ६, २, ५, १, ४, ७, फिर २, ५, १, ४, ७, ३, ६, फिर १, ४, ७, ३, ६, २, ५, उपवास करके वह सर्वतो भद्र चक्र के पश्चिम तरफ के अङ्कों को पकड़ेगा, प्रथम ४, ३, २, १, ७, ६, ५, फिर १, ७, ६, ५, ४, ३, २, फिर ५, ४, ३, २, १, ७, ६, फिर २, १, ७, ६, ५, ४, ३, फिर ६, ५, ४, ३, २, १, ७, फिर ३, २, १, ७, ६, ५, ४, फिर ७, ६, ५, ४, ३, २, १, उपवास करके, वह चक्र की उत्तर दिशा में जायगा और प्रथम ५, ६, ७, १, २, ३, ४, फिर २, ३, ४, ५, ६, ७, १, फिर ६, ७, १, २, ३, ४, ५, फिर ३, ४, ५, ६, ७, २, १, फिर ७, १, २, ३, ४,५, ६, फिर ४, ५, ६, ७, १, २, ३, फिर १, २, ३, ४, ५, ६, ७, उपवास और पारणे करके चतुर्थ परिपाटी को पूरा करेगा, और इसके साथ महा सर्वतो भद्र तप पूरा होगा।

भद्रोत्तर प्रतिमा तप

इस तप में संलग्न ५-६-७-८-९ उपवासों के अन्त में पारणे आते हैं। पांच से कम और नव से अधिक संलग्न उपवास नहीं आते। इसकी एक परिपाटी पूरी करने में छः मास बीस दिन

लगते हैं। इन दो सौ दिनों में भोजन के दिन पचीस होते हैं, शेष एक सौ पचहत्तर दिन उपवास के होते हैं। इसी प्रकार चारों परिपाटियों के कुल दिवस आठ सौ होते हैं। जो दो वर्ष, दो मास, बीस दिन के बराबर होते हैं। इस पूरे तप में सात सौ दिन उपवासों के और एक सौ दिन पारणों के होते हैं।

भद्रतपों का कुछ विवरण

लघु सर्वतो भद्र महा सर्वतो भद्र, और भद्रोत्तर तप जो ऊपर लिखे हैं, उनके नामों के विषय में कुछ विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

इनके नामों में आया हुआ भद्र शब्द कल्याण वाचक है, और सर्वतः यह शब्द दिशाओं की प्रतीति कराता है।

लघु तथा महा सर्वतो भद्र की आराधना करने वाले श्रमण तप की प्रथम परिपाटी में पूर्व दिशा के उत्तर छोर पर किसी निर्जीव पदार्थ पर दृष्टि स्थिर कर एक एक दिन ध्यान में खड़े रहेंगे। पारणा करके कुछ दाहिनी तरफ हट कर दो दो दिन उसी प्रकार ध्यान करेंगे। दो उपवासों का पारणा करके लघु तप वाले पूर्व दिशा के मध्य भाग में और महा तप वाला पूर्व दिशा के तृतीय सप्तमांश पर खड़ा रहकर तीन दिन तक उक्त प्रकार से ध्यान करेंगे। लघु वाला मध्य से कुछ दाहिनी तरफ तथा महातप वाला पूर्वा के मध्य भाग में खड़ा रह कर चार दिन तक उक्त प्रकारका ध्यान करेगा। इन उपवासों के पारणे कर लघुतप वाला अग्निकोण के

निकट पूर्व दिशा के अन्तिम भाग में और महातप वाले पूर्वा के पञ्चम सप्तमांश में खड़ा रह करपांच-पांच दिन तक उक्त प्रकार ध्यान करेंगे। लघुतप वाले की एक पंक्ति पन्द्रह दिन में पूरी होगी, परन्तु महातप वाले की प्रथम पंक्ति के अभी दो स्थान शेष रहते हैं। महातप वाला पांच उपवासों का पारणा कर पूर्वा के षष्ठ सप्तमांश में, और छः उपवासों का पारणा कर पूर्वा के अन्तिम सप्तमांश में खड़ा होकर क्रमशः छः तथा सात दिन तक उक्त प्रकार का ध्यान करेगा।

इस प्रकार लघुवाले प्रथम पंक्ति में पन्द्रह दिन और महावाले अट्ठाईस दिन तक तप और ध्यान करेंगे।

लघु सर्वतोभद्र वाला और महा सर्वतो भद्र वाला अब उक्त प्रकार से ही पूर्व दिशा के बायें छोर से दाहिने छोर तक नीचे की पंक्ति में लिखे अङ्क परिमित दिनों तक तप और ध्यान करेगा।

लघु सर्वतोभद्र की पन्द्रह पन्द्रह की संख्या वाली पांच पंक्तियां होने के कारण लघु सर्वतो भद्र तपस्वी पूर्व दिशा में कुल पचहत्तर दिन खड़ा रह कर तप ध्यान करेगा, और पचीस पारणे करेगा, परन्तु महा सर्वतो भद्र की पंक्तियां अट्ठाईस २ संख्या वाली होने से महा भद्र तप का तपस्वी पूर्व दिशा में खड़ा रह कर एक सौ छयानवें दिन तक तप तथा ध्यान करेगा, और उन पचास पारणें करेगा।

इसी प्रकार दोनों प्रकार के सर्वतो भद्र तप आराधक दक्षिण

पश्चिम और उत्तर दिशा सम्मुख भी, उसी प्रकार दिशाओं के भिन्न भिन्न भागों में खड़े रह कर तप और ध्यान करेंगे।

उक्त दिशाओं का सूचन सर्वतः इस शब्द से मिलता है, तथा प्रत्येक पंक्तियों के अंकों की संख्या एक मिलती है, चाहे किसी भी पंक्ति के अंक पूर्व से पश्चिम तरफ गिनो, दक्षिण से उत्तर तरफ गिनो, एक कोने से दूसरे कोने तक गिनो, लघु सर्वतो भद्र के अङ्कों का जोड पन्द्रह ही अवेगा। इसी प्रकार महा सर्वतो भद्र के अङ्कों के कोष्ठक किसी भी दिशा से गिनने पर अङ्क संख्या अट्ठाईस ही होगी।

अब रहा भद्र शब्द—भद्र शब्द कल्याण वाचक है, यह पहले कहा जा चुका है। इन तपों का आराधक ध्यान में चित्त स्थिर कर प्राणिमात्र के कल्याण की कामना करता है।

यह प्राणिमात्र में समान दृष्टि रखता हुआ "आत्मवत्सर्व-भूतेषु" इस वाक्य को चरितार्थ करता है और अपनी राग द्वेष की ग्रन्थियों को विलीन कर देता है। इसी कारण से इन तपों के साथ भद्र शब्द जोड़ा गया है।

भद्रोत्तर इस नाम के साथ यद्यपि सर्वतः शब्दनहीं है, तथापि भद्र शब्द का सहचारी होने से सर्वतः शब्द का अर्थ अध्याहार से लेकर इस तप में भी लघु, महा सर्वतो भद्रों की तरह पूर्वादि दिशाओं में लिखित संख्या के दिनों तक खड़े खड़े तप और ध्यान किया जाता है।

इस तप के नाम के अन्त में प्रयुक्त उत्तर शब्द उपरि तन संख्या का सूचक है। पूर्वोक्त तप एक एक उपवास से शुरू होते हैं, तब भद्रोत्तर की प्रथम पंक्ति पाँच उपवास से शुरू होकर नव पर समाप्त होती है। इस प्रकार संलग्न अधिक उपवास होने के कारण यह भद्रोत्तर तप कहलाया। बाकी भावना तथा दृष्टि-स्थिरता इसमें भी उक्त दो तपों की ही तरह करनी होती है।

उक्त भद्र तप प्रायः उत्कट शारीरिक बल वाले श्रमण ही पूर्व काल में किया करते थे। वर्त्तमान समय में ऐसे तप करने की शक्ति तथा संहनन नहीं रहे।

१—लघुसर्वतोभद्र तपो यन्त्रक

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

उप० दिन १० मास, पा०
दिन ३ मास, १० दिन

२—महासर्वतोभद्र तपो यन्त्रक

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

उपवास दिन
२ वर्ष, २ मास,
४ दिन पारणा
दिन ६ मास
१६ दिन

३—भद्रोत्तर तपो यन्त्रक

५	६	७	८	९
८	९	५	६	७
६	७	८	९	५
९	५	६	७	८
७	८	९	५	६

उपवास दिन १ वर्ष,
११ मास, १० दिन,
पारणा दिन ३ मास,
१० दिन

आयंबिल वर्धमान तप

एक आयंबिल और उपवास, दो आयंबिल और उपवास, तीन आयंबिल और उपवास इस प्रकार एक एक आयंबिल को बढ़ाते बढ़ाते अन्त में उपवास करते करते सौ आयंबिल और उस के ऊपर एक उपवास करने से यह तप सम्पूर्ण होता है।

आयंबिल वर्धमान तप निरन्तर करते रहने से चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन में पूरा होता है।

कुल आयंबिल पांच हजार पचास और उपवास एक सौ होते हैं। एकावन सौ पचास दिनों में यह तप पूरा किया जा सकता है।

गुणरत्न संवत्सर तप

गुणरत्न संवत्सर तप सोलह मास अथवा चार सौ अस्सी दिन में पूरा होता है। इस दिन संख्या में चार सौ सात दिन उपवास में जाते हैं, और तिहत्तर दिन पारणों में।

१—प्रथम मास तीस दिन का होता है। इसमें एक एक उपवास के बाद पारणे आते हैं. अतः पन्द्रह दिन उपवासों के और पन्द्रह दिन पारणों के होते हैं।

२—दूसरा मास तीस दिन का होता है। इसमें दो दो उपवासों के बाद पारणे आते हैं। इस के बीस दिन उपवासों में और दश दिन पारणों में जाते हैं।

३—तीसरा मास बत्तीस दिन का होता है। इसमें तीन तीन उपवासों के अन्त में पारणा किया जाता है। इसके चौबीस दिन उपवासों में और आठ दिन पारणों में व्यतीत होते हैं।

४—चौथा मास तीस दिन का होता है। इसमें चार चार उपवासों के अन्त में पारणा होता है। चौबीस दिन उपवासों में छः दिन पारणों में पूर्ण होते हैं।

५—पांचवां मास भी तीस दिन का होता है। इसमें पांच पांच उपवासों के अन्त में पारणा होता है। पच्चीस दिन उपवासों में और पांच दिन पारणों में व्यतीत होते हैं।

६—छट्ठा मास अठाईस दिन का होता है। इसमें छः छः उपवासों के बाद पारणा किया जाता है। चौबीस दिन उपवासों के और चार दिन पारणों के होते हैं।

७—सातवां मास चौबीस दिन का होता है। इसमें सात सात उपवासों के बाद पारणा किया जाता है। इक्कीस दिन उपवासों के और तीन दिन पारणों के होते हैं।

८—आठवां मास सत्ताईस दिन का होता है। इसमें आठ आठ उपवासों के अन्त में पारणे होते हैं। चौबीस दिन उपवासों में और तीन दिन पारणों में जाते हैं।

९—नवमां मास तीस दिन का होता है। इसमें नव नव उपवास और पारणे होते हैं। सत्ताईस दिन तप के और तीन दिन पारणों के होते हैं।

१०—दसवां मास तैंतीस दिन का होता है। इसमें दश दश उपवासों का पारणा होता है। तीस दिन उपवासों के और तीन दिन पारणों में होते हैं।

११. ग्यारहवां मास छत्तीस दिन का होता है। जिसमें ग्यारह ग्यारह उपबासों के बाद पारणें होते हैं। तेतीस दिन उपवासों के और तीन दिन पारणा के होते हैं।

१२. बारहवां मास छब्बीस दिन का होता है। इसमें बारह उपवास के बाद पारणा होता है। चौबीस दिन उपवासों के और दो दिन पारणा के होते हैं।

१३. तेरहवां मास अठाईस दिन का होता है। इसमें तेरह तेरह दिन के बाद दो पारणें होते हैं। छब्बीस दिन उपवासों में और दो दिन पारणों में निकलते हैं।

१४. चौदहवां मास तीस दिन का होता है। इसमें चौदह चौदह उपवासों के दो पारणें होते हैं। अट्ठाईस दिन उपवासों के और दो दिन पारणों के होते हैं।

१५. पन्द्रहवां मास बत्तीस दिन का होता है। इसमें पन्द्रह पन्द्रह उपवासों के दो पारणे होते हैं। तीस दिन उपवासों के और दो पारणों के होते हैं।

१६. सोलहवां मास चौंतीस दिन का होता है। इसमें सोलह सोलह उपवासों के दो पारणें होते हैं। बत्तीस दिन उपवासों के और दो पारणों के होते हैं।

उपर्युक्त सोलह महीनों में १, २, ४, ५, ६, १४। चौदहवां ये छः महीने पूरे तीस दिन के होते हैं, तब ६, ७, ८, १२, १३, तेरहवां ये पांच मास तीस से कम दिनों के होते हैं और ३, १०, ११, १५, १६, सोलहवां ये पांच महीने अधिक दिनों वाले होते

हैं। कम दिन के महीनों में कुल सत्रह दिन घटते हैं, तब अधिक दिनों वाले पांच महीनों में उतने ही दिन बढ़ जाते हैं। फलस्वरूप सत्रोह महीने बराबर प्रकर्म मास बन जाते हैं।

गुणरत्नसंवत्सर तप प्रायः जैन श्रमण किया करते थे।

चन्द्र प्रतिमा तप

चन्द्र प्रतिमा तप दो प्रकार का होता है। यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप और वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप।

यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप

श्रमण शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन एक दत्ति भोजन की और एक ही दत्ति पानी की लेकर आहार पानी करे। इसी प्रकार शुक्ल द्वितीया को दो आहार की और दो पानी की, तृतीया को तीन आहार की और तीन पानी की, इसी प्रकार क्रमोत्तर वृद्धि से एक एक भिक्षा दत्ति को बढाता हुआ, पूर्णिमा को पन्द्रह आहार की तथा पन्द्रह पानी की दत्तियां ग्रहण करें। कृष्ण प्रतिपदा के दिन पन्द्रह आहार की और पन्द्रह पानी की दत्तियां लेकर एक एक घटाता जाय, कृष्ण द्वितीया को चौदह, तृतीया को तेरह, यावत् अमावस्या को एक दत्ति आहार की और एक पानी की ग्रहण करे। इस प्रकार के तप को यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप कहते हैं।

भिक्षा की दत्ति का तात्पर्य यह है कि निर्दोष कल्पनीय आहार हाथ में लेकर श्रमण के पात्र में गृहस्थ एक बार डाले वह एक दत्ति

दो बार डाले वह दो दत्ति, इसी प्रकार पानी के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

दत्ति में कुछ भी खाद्य पदार्थ जो डाल दिया, भले ही वह दो चार रत्ती भर ही क्यों न हो, उसी को दत्ति मान कर उस दिन उसी पर निर्वाह करना होता है। यही बात पानी के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिए।

वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को पन्द्रह दत्तियां भोजन पानी की लेकर आगे एक एक घटाता हुआ, अमावस्या को एक दत्ति पर पहुंचे। अमावस्या तथा शुक्ल प्रतिपदा को एक एक दत्ति लेकर द्वितीया से पूर्णिमा तक एक एक दत्ति की वृद्धि करता हुआ, पूर्णिमा के दिन पन्द्रह दत्तियां भोजन पानी की ग्रहण करे।

यवमध्या तथा वज्रमध्या प्रतिमा एक एक मास में पूरी होती है।

इन दो तपों को करता हुआ श्रमण अनेक प्रकार के अभिग्रह रखता है। वह दिन रात कायोत्सर्ग में स्थिर रहता है। उस समय के दर्म्यान उत्पन्न होने वाले देवकृत, मानवकृत, तथा तिर्यक योनिकृत उपसर्गों का समभाव सहन करता से है।

भिक्षा को निकलते समय वह अनेक प्रकार के अभिग्रह मन में धारण करता है। जैसे शुद्ध शिलोञ्छ वृत्ति से प्राप्त किया हुआ भोजन पानी अनेक श्रमण ब्राह्मण लाते हैं और भोजन करते

हैं, उनमें से बचा हुआ आहार पानी कोई देगा तो एक के पास से लूंगा, अन्यथा नहीं, अथवा गृह द्वार के भीतर रह कर वा उसके बाहर आकर गृहस्वामिनी देगी तो उसके हाथ से न लूंगा, किन्तु एक पग द्वार के भीतर तथा एक द्वार के बाहर पग रखकर खड़ी कोई गृहस्वामिनी भिक्षा देगी तो लूंगा इत्यादि।

उक्त तपों के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के तप श्रमण श्रमणियों के करने योग्य हैं। जो यहां नहीं दिये गये हैं। ये सभी तप जैन सूत्रों में वर्णन किये गये हैं। वसु देव हिंडी आदि पौराणिक ग्रन्थोक्त तपो-विधियों की संख्या तो सैकड़ों ऊपर है, परन्तु उनके निरूपण का यह योग्य स्थान नहीं।

उक्त आगमिक तपों में से वर्त्तमान काल में केवल "वर्धमान आयंबिल तप" श्रमण श्रमणियों तथा जैन उपासक उपासिकाओं द्वारा किया जाता है। शेष आगमिक तपों में से आज कोई प्रचलित नहीं है।

संलेखना और भक्त प्रत्याख्यान

जैन श्रमण को अपने अन्तिम जीवन में अन्य प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर विशेष तपस्याओं द्वारा शरीर को कृश बना कर मृत्यु के समीप पहुँचने का शास्त्रादेश है। इस विधान को जैन शास्त्र "संलेखना" इस नाम से उद्घोषित करते हैं। संलेखना करने वाला सामान्य श्रमण अथवा आचार्य उपाध्याय आदि, कोई भी पदस्थ पुरुष हो उसकी भावना जब यह हो जाय कि इस शरीर

से जो कार्य करने थे, वे मैंने कर लिये हैं अब आगामी भव की साधना में विशेष उद्यम करूँ—वह कहता है।

निप्फाइयाय सीसा सउणी जह अंडगं पयत्तेणं।
वारस सम्वच्छरियं सो संलेहं अह करेइ ॥२७०॥

अर्थः—मैंने शिष्यों को सर्व प्रकार से तैयार करदिया है, जैसे चिड़िया यत्नपूर्वक सेकर अंडे को तैयार करती है। अब मुझे संलेखना करना चाहिए यह विचार प्रकट कर के वह बारह वर्ष की संलेखना करता है।

संलेखना विधि

चत्तारि विचित्ताइं विगइं निज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दुन्निउ एगंतरियं तु आयामं ॥२७१॥
नाइ विगिठ्ठो उ तवो छम्मासे परिमियं तु आयामं।
अन्नेऽवि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवो कम्मं॥२७२॥
वासं कोडी सहियं आयामं काउ आणुपुव्वीए।
गिरिकंदरंमि गंतुं पायव गमणं अह करेइ ॥२७३॥

आचा० सू० विमो० अ० उद्दे० १
पृ० २६३

अर्थः—संलेखना-कारक श्रमण प्रथम चार वर्ष तक अनोखे-अनोखे प्रकार के तप करता है, और पारणे में सविकृतिक आहार लेता है। फिर चार साल तक उसी प्रकार विविध तप करता है,

और निर्विकृतिक (दूध, दही, घृत, तेल, पक्वान्न आदि को छोड़ कर अन्य सामान्य) आहार से पारणा करता है, फिर दो वर्ष तक एकान्तरित उपवास और आयंबिल का तप करेगा। इसके बाद छः मास तक षष्ठ अष्टमादि सामान्य तप और आयंबिल से पारण करता है और उसके बाद के छः मास तक विकृष्ट तप (चार अथवा इससे अधिक उपवास का तप) करता है, और पारणे में आयंबिल करता है। फिर एक वर्ष तक निरन्तर आयंबिल करता है, और बारह वर्ष पूर्ण हो जाने के बाद वह किसी पर्वत की गुफा में जाकर "पादपोपगमन" नामक अनशन करता है।

अनशन के तीन प्रकार

भत्त परिन्ना इंगिणि पायव गमणं च होइ नायव्वं।
जो मरइ चरिम मरणं भाव विमुक्खं वियाणाहि ॥२६३॥
सपरिकमेय अपरिकमे य बाघाय आणु पुव्वीए।
सुत्तत्थ जाण एणं समाहि मरणं तु कायव्वं ॥२६४॥

आचा० सू० विमो० अ० उद्दे० १–पृ २६१

अर्थः—अनशन तीन प्रकार के होते हैं। १– भक्त परिज्ञा-भक्त प्रत्याख्यान, २– इंगिनीमरण, और ३– पादपोपगमन, ये तीन प्रकार जानने चाहिए। जो श्रमण अन्तिम मरण (पादपोपगमन) से मरता है उसका भाव मोक्ष होता है यह समझना चाहिए। इन तीन प्रकार के अनशनों में भक्त परिज्ञा

सपरिकर्म होता है। इस अनशन वाला अपनी शारीरिक शुश्रूषा करा सकता है। इंगिनी मरण अनशन वाला परिकर्म नहीं कराता, शक्ति रहते वह स्वयं करवट बदलना आदि कर सकता है। पादपोपगमन अनशन धारी चरम शरीर धारी होता है। वह जिस आसन से अनशन प्रारम्भ करता है उसी आसन में वृक्ष की तरह स्थिर रहता है। खड़ा हो तो बैठ नहीं सकता, सोया हुआ हो तो करवट नहीं बदल सकता। जैसे वृक्ष पवन के झकझोर से गिर जाने पर फिर स्वय अपनी स्थिति को बदल नहीं सकता, उसी प्रकार पादपोपगमन मरण करने वाले को देव, मनुष्य, अथवा तिर्यञ्च अनशन स्थान से उठाकर कहीं दूर फेंक देंगे तो उसी स्थिति में पड़ा रहेगा जो उसके गिरने पर हुई हो।

भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर इसी प्रकार का पाद पोपगमन करके राजगृह नगर के गुणशीलक उद्यान में निर्वाण प्राप्त हुए थे, और उनके अन्य सैकड़ों शिष्य राजगृह के वैभार, विपुल आदि पर्वतों पर इस अनशन से मोक्ष प्राप्त हुए थे।

जैन शास्त्रानुसार यह पादपोपगमन अनशन वे ही श्रमण कर सकते हैं, जिनका संघयन वज्रऋषभनाराच हो और जिनका शरीर अन्तिम हो।

भक्त परिज्ञा और इंगिनी मरण अनशन करने वाले उक्त प्रकार के संघयन वाले भी हो सकते हैं, और इससे हीन संघयन वाले भी। इन दो अनशनों से शरीर त्यागने वाले श्रमण प्रायः स्वर्गगामी होते हैं।

श्रमण के मृत देह का व्युत्सर्जन

पूर्वकाल में श्रमण बहुधा उद्यानों में रहा करते थे, अनशन से, बिमारी से अथवा आशुकार अर्थात् सहसा प्राण निकलने पर मृत श्रमण के शरीर की क्या व्यवस्था की जाती थी, इसका विस्तृत वर्णन आवश्यक सूत्रान्तर्गत "पारिठावणिया निज्जुत्ति" में दिया गया है। आजकल निज्जुत्ति में लिखी विधि से मृतक की व्यवस्था नहीं की जाती फिर भी निर्युक्ति की मौलिक बातें आज भी वर्त्ती जाती हैं। जैसे नक्षत्रानुसार पुत्तलक-विधान दिशा आदि। पहले साधु स्वयं व्युत्सर्जन विधि कर के मृतक शरीर को विहित दिशा में ले जाकर छोड़ देते थे। उसका मस्तक गांव की तरफ रक्खा जाता था, परन्तु श्रमणों का बस्तीवास होने के बाद व्युत्सर्जन के विधान में पर्याप्त परिवर्त्तन होगया है। आज कल प्रमुख साधु अपने स्थान में ही दिग्बन्ध श्रावण पूर्वक मृतक का व्युत्सर्जन कर देता है। बाद में जैन उपासक उसे अरथी अथवा ठठरी में रख कर नगर से बाहर योग्य दिशा में ले जाकर जला देते हैं। यह रीति पहले नहीं थी।

यहां हम "पारिठावणिया निज्जुत्ति" के कथनानुसार प्राचीन कालीन व्युत्सर्जन विधि का संक्षेप में दिग्दर्शन करायेंगे।

"आसुकार गिलाणे पच्चक्खायेव आणुपुव्वीए।
अचित्तसंजयाणं वोच्छामि विहीइ वोसिरणं ॥ १ ॥

अर्थः—आशुकार–अकस्मात् बीमारी से और अनशन से मरे हुए श्रमण के देह की व्युत्र्जन विधि कहता हूँ।

एव य काल गयंमी मुणिणा सुतत्थ गहिय सारेणं।
नहु कायव्व विसाओ कायव्व विहीए वोसिरणं ॥३२॥

अर्थः—उक्त किसी भी कारण से श्रमण का मरण होने पर सूत्रार्थ के जानकर गीतार्थ साधु को विषाद न कर उसका विधि से व्युत्सर्जन करना चाहिये।

मृतक को विहित दिशाओं में त्यागना शुभ होता है। श्रमण देह के व्युत्सर्जन के लिये सब से उत्तम नैऋती और सब से अनिष्ट ऐशानी दिशा मानी गयी है। नैऋती के अभाव में दक्षिणा, उसके अभाव में पश्चिमा, पश्चिमा के अभाव में आग्नेयी, आग्नेयी के अभाव में वायवी, वायवी के अभाव में पूर्वा, पूर्वा के अभाव में उत्तरा दिशा मृतक के त्याग के लिये लेना चाहिए, ईशान दिशा सब प्रकार से वर्जित मानी गयी है।

"पुव्वं दव्वा लोयण पुव्विं गहणं च णंत कट्ठस्स।
गच्छंमि एस कप्पो अनिमित्ते होउ वक्कमणं ॥३६॥
सहसा काल गयं मी मुणिणा सुतत्थ गहिय सारेण।
न विसाओ कायव्वो कायव्व विहीए वोसिरणं ॥३७॥

अर्थः—गच्छवासी साधुओं का यह आचार है कि, वे प्रथम से ही द्रव्य क्षेत्रादि का निरीक्षण कर रक्खे, तथा बाल, वृद्ध,

आकुल, गच्छ में किसी श्रमण के मर जाने पर उसको निकालने के लिये नयन काष्ठ को भी ले रक्खे। उक्त चीजों का आलोचन संग्रह न किया हो और अकस्मात् मर जाय तो परिस्थिति देख कर व्यवस्था की जाय। मरने वाला श्रमण आचार्यादि पद-धारी हो तो उसे दिन-विभाग में ही ले जाना चाहिये, परन्तु सामान्य साधु को मरने बाद रात्रि विभाग में भी तुरन्त त्याग देना चाहिए उसको उठाने के लिये निस्सरण काष्ठ तैयार न हो तो गृहस्थ से मांग कर ले लेना चाहिये।

किसी के अकस्मात् कालधर्म प्राप्त होने पर भी सूत्रार्थ का रहस्य जानने वाले गीतार्थ साधु को उसके सम्बन्ध में खेद न कर उसका विधि पूर्वक व्युत्सर्जन करने के काम में लगना चाहिये।

जं वेलं कालगओ निकारण कारणे भवे निरोहो।
छेयण बन्धण जग्गण काइय मत्तो य हत्थ उडे ॥३८॥
अन्ना विट्ठ शरीरे पंता वा देव याउ उट्ठेज्जा।
काइयं डब्ब हत्थेणं मा उट्ठे बुज्झ गुज्झगा ॥३९॥
वित्ता सेज्ज ह सेज्ज व भीमं वा अट्टहास मुंचेज्जा।
अभी एणं तत्थ उ कायब्ब विहिए वोसिरणं ॥४०॥

अर्थः—श्रमण समुदाय बस्ती में ठहरा हुआ हो और कोई श्रमण काल करे और वहां सकारण या निष्कारण उस समय मृतक को बाहर ले जाने की आज्ञा न हो अथवा नगर पर-चक्र आदि से

घिरा हुआ हो तो उस स्थिति में मृतक का अंगुष्ठ आदि शस्त्र से चीर दे और उसे स्तम्भ आदि से बांध ले और साधु उसके पास जागते रहें, एक मात्रक में लघुनीति भर कर हाथ में रक्खे, यदि मृतक शरीर में किसी क्षुद्र दैवत सत्त्व का प्रवेश होकर अथवा विरोधी देवता के प्रयोग से मृतक उठने लगे तो बायें हाथ से लघु नीति लेकर उस पर छिड़के और बोले 'मत उठ यक्ष!" "मत उठ यक्ष!" अगर शरीर प्रविष्ट क्षुद्र सत्त्व डराये, हँसे, अथवा भयङ्कर अट्टहास करे तो भी न डरता हुआ गीतार्थ श्रमण मृतक का विधि पूर्वक व्युत्सर्जन करे।

दोन्निय दिवड्ढ खेत्ते, दब्भ-मया पुत्तला उ कायव्वा।
सम खेतम्मि उ एक्को अवड्ढऽभीएण कायव्वो ॥४१॥

अर्थ—मृतक यदि द्वितीयार्द्ध क्षेत्रीय नक्षत्रों में मरा हो तो कुश के दो, तथा समक्षेत्रीय नक्षत्रों में मरा हो एक, दर्भ का पुत्तलक बना कर उसके साथ देना, और अपार्द्ध क्षेत्रीय नक्षत्रों में पुत्तलक करने की आवश्यकता नहीं।

नियुक्तिकार ने उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपद, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा इन छः नक्षत्रों को द्वितीयार्द्ध क्षेत्रीत्र, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा और रेवती इन पन्द्रह, नक्षत्रों को समक्षेत्रीत्र, और शतभिषा, भरणी, आर्द्रा अश्लेषा, स्वाती और ज्येष्ठा इन छः नक्षत्रों को

अपार्द्ध क्षेत्रीय कहा है। नक्षत्रों के तीन विभाग क्रमशः पैंतालीस, तीस और पन्द्रह मुहूर्त्त वाले होते हैं।

सुत्तत्थ तदुभय विऊ पुरओ घेत्तूण पाण य कुसे य।
गच्छइ य जउड्डाहो परिट्ठवेऊण आयमणं॥ ४६॥

अर्थ—सूत्र, अर्थ और दोनों का जानने वाला श्रमण शुद्ध प्रासुक जल-पात्र और कुश लेकर मृतक के आगे चलता हुआ पूर्व प्रेक्षित भूमि में जाय और मृतक का व्युत्सर्जन करके जल से हाथ पग धोकर आचमन करे। मृतक को उठाने वाले श्रमण भी उसी प्रकार जल का उपयोग करे जिससे कि लोक-गर्हा न हो।

थंडिल वाघाएणं अहवावि अणिच्छिए अणाभोगा।
भमिऊण उवागच्छे ते णेव पहेण न नियत्ते॥ ४७॥

अर्थ—मृतक-व्युत्सर्जन के लिये जिस स्थण्डिल भूमि का निरीक्षण किया हो उसमें आकस्मिक बाधा उपस्थित हो जाने पर अथवा प्रथम से ही वह व्युत्सर्जन के योग्य न होने पर भी योग्य मान ली गयी हो, पर गीतार्थ की दृष्टि में वह व्युत्सर्जन करने योग्य न होने से दूसरे स्थण्डिल में जाना पड़े तो घूमकर जाय परन्तु जिस मार्ग से आया है उसी मार्ग से वापस न लौटे।

कुस मुट्ठी एगाए अव्वोच्छिन्नाइ एत्थ धाराए।
संथारं संथरेज्जा सव्वत्थ समो उ कायव्वो॥४८॥

विसमा जइ होज्ज तणा उवरि मज्झेव हेट्ठओ वावि ।
मरणं गेलण्णं वा तिण्हंपि उ निद्दिसे तत्थ ॥४६॥
उवरिं आयरियाणं मज्झे वसहाण हेट्ठि भिक्खूणं ।
तिण्हंपि रक्खणट्ठा सव्वत्थ समो उ कायव्वो ॥५०॥

अर्थ—मृतक विसर्जन के लिये गीतार्थ श्रमण जो कुश तृण वहां लेकर आया है, उन कुशों से प्रमार्जित स्थण्डिल भूमि पर अविछिन्न कुश धारा से संस्तारक करे, कुश तृण समच्छेद होने चाहिए, ताकि ऊपर से नीचे तक संस्तारक समान बन जाय किसी भी भाग में संस्तार में विषमता न आनी चाहिए ।

अगर कुश तृण उपरि भाग में, मध्य भाग में, अथवा निम्न भाग में विषम होंगे तो क्रमशः तीन का मरण, अथवा मान्द्य होगा, ऐसा कहना चाहिए ।

उपरिम भाग तृणों की विषमता से आचार्य का, मध्य भाग की विषमता से वृषभ (गच्छ की व्यवस्था करने वाला वयोवृद्ध समर्थ साधु) का और संस्तारक के निम्नभाग की विषमता से सामान्य श्रमणों का मरण होता है, इस वास्ते तीनों की रक्षा के लिये दर्भ-संस्तारक सर्वत्र समान करना चाहिए ।

जत्थ नत्थि तणाइं चुण्णेहिं तत्थ केसरेहिं वा ।
कायव्वोत्थ ककारो हेट्ठ तकारं च बंधेज्जा ॥ ५१ ॥

अर्थ—जहां कुश तृण न मिले वहां वास चूर्ण अथवा नाग केशर से प्रमार्जित भूमि में "ककार" वर्ण लिख कर उसके नीचे "तकार" को संयुक्त करना चाहिये [१]।

जाए दिसाए गामो तत्तो सीसं तु होइ कायव्वं।
उट्ठंतरक्खणट्ठा एस विही से समासेणं ॥ ४२ ॥

अर्थ—शव की परिष्ठापन-भूमि से जिस दिशा में ग्राम हो उस दिशा में शव का शिर करना चाहिए और विपरीत दिशा में उसके पग। शव की उत्थान की रक्षा के लिये संक्षेप में यह विधि कही गयी है।

"चिएहट्ठा उवगरणं दोसा उ भवे अचिंध करणंमि।
मिच्छत्त सो व राया व कुणइ गामाण वह करणं ॥ ४३ ॥

अर्थ—परिष्ठापित श्रमण शरीर के पास उसके उपकरण मुखवस्त्रिका, रजो हरण, चोलपट्टक, ये तीन उपकरण स्थापित करने चाहिए। यथाजात उपकरणों के पास में न रखने से अधिक दोषों की आपत्ति हो सकती है। मृतक श्रमण का जीव कलेवर के पास उपकरण न देखकर पूर्व भविक श्रद्धान से पतित हो जाता है। अथवा राजा आदि उसके पास साधु के चिन्हों को

१. "पारिट्ठावणिया निज्जुत्ति" शक के प्रारम्भकाल की कृति है, उस समय के ककार और तकार को संयुक्त करने से मनुष्य के पुतले की सी आकृति बनती थी।

न देखकर ग्राम जनों को पीड़ा देता है, इस कारण शव के पास उसके उपकरण रखने आवश्यक हैं।

वसहि निवेसण साही गाम मज्झे य गाम दारे य।
अंतर उज्जाणंतर निसीहिया उट्ठिए वोच्छं ॥५४॥
वसहि निवेसण साही गामद्धं चेव गाम मोत्तब्बो।
मंडल कंडुद्देशे निसीहिया चेव रज्जं तु ॥५५॥

अर्थः—वसति (मरण स्थान) बाड़ा, सेरी ग्राम मध्य ग्रामद्वार, ग्रामोद्याम के बीच और निषद्या (परिष्ठापन भूमि) इन स्थानों में से किसी भी एक स्थान में यक्षावेश होकर शव के उठ जाने पर श्रमणों को क्या करना चाहिये, यह आगे की गाथा में बताते हैं। वसति से वसति का, निवेशन से निवेशन का, शाखी (रथ्या) से शाखी का, ग्राम मध्य से ग्रामार्द्ध का, ग्राम द्वार से ग्राम का, ग्राम और उद्यान के बीच से मण्डल—काण्ड का (मण्डल से अधिक व्यापक प्रदेश) उद्यान निषद्या के बीच से देश, और निषद्या भूमि से शव के उठने पर राज्य छोड़ कर श्रमणों को अन्य राज्य में चला जाना चाहिए।

असिवाइ कारणेहिं तत्थ वसंताण जस्स जोउ तवो।
अभिगहियाण भिगहियो सा तस्स उ जोग परिवुड्ढी ॥५६॥

अर्थः-रोगोपद्रवादिक कारणों से साधु उस स्थान को छोड़ कर दूर न जा सके तो वहीं रहते हुए तप में योग वृद्धि करे

एकाशन करने वाले आयंबिल, उपवास करने वाले षष्ठ भक्त प्रत्याख्यान इत्यादि आभिग्रहिक अनाभिग्रहिक तप करने वाले अपने नियत तप से अधिक तप करते हुए वहां रह सकते हैं।

गिण्हइ णामं एगस्स दोण्हमहवावि होज्ज सव्वेसिं।
खिप्पं तु लोयकरणं परिण्णगण भेय बारसमं ॥५७॥

अर्थः—उत्थित शव एक दो अथवा सर्व श्रमणों का नाम पुकारे तो तत्काल उनका लोच करके शक्त्यनुसार चार, तीन, दो और एक उपवास का तप कराये, और जिनके नाम बोले गये हों उनको समुदाय से जुदा कर दे।

जो जहियं सो तत्तो नियत्तइ पयाहिणं न कायव्वं।
उट्ठाणाइ दोसा विराहणा बाल वुड्ढाई ॥५८॥

अर्थः—मृतक का व्युत्सर्जन करने वाले श्रमण-जो जहां खड़े हों व्युत्सर्जन विधि पूरी करने बाद वहीं से अपने स्थान की तरफ लौट जाय, शव को भूल चूक से भी प्रदक्षिणा न करे, क्योंकि ऐसा करने से उत्थानादि का दोष सम्भावित होने से बाल, वृद्ध, आकुल, श्रमण समुदाय को हानि पहुंचने का भय रहता है।

उट्ठाई दोसा उ होंति तत्थेव काउसग्गंमि।
आगम्मुवस्सयं गुरु समासे विहिए उस्सग्गो ॥५९॥

अर्थः—शव का अभ्युत्सर्जन करके वहीं पर कायोत्सर्ग करने से उत्थानादि दोष का भय रहता है। अतः उपाश्रय में आकर गुरु के सामने अविधि परिष्ठापनिका का कायोत्सर्ग करते हैं।

खमणेय असज्झाये राइणिय महाणिणाय नियगा वा।
सेसेसु नत्थि खमणं नेव असज्झाइयं होइ ॥६०॥

अर्थः—मरने वाला श्रमण आचार्य हो, गच्छ में उच्च पद धारी हो, नगर में ख्याति-प्राप्त हो, अथवा नगर में उसके सांसारिक सम्बन्धियों की प्रचुरता हो तो श्रमणों को उस दिन उपवास करना चाहिए और अस्वाध्यायिक मनाना चाहिये, परन्तु सामान्य श्रमण के मरने पर न उपवास किया जाता है न अस्वाध्यायिक ही मनाया जाता है।

अवरज्जुयस्स तत्तो सुत्तत्थ विसार एहिं थिरएहिं।
अवलोयण कायव्वा सुहा सुह गइ निमित्तट्ठा ॥६१॥
जं दिसि विकड्ढियं खलु सरीरयं अक्खुयं तु संविक्खे।
तं दिसि सिवं वयंती सुत्तत्थ विसारिया धीरा ॥६२॥

अर्थः—मरने वाला श्रमण आचार्य, महर्द्धिक (लब्धि सम्पन्न) महातपस्वी, अनशन पाल कर मरा हो तो दूसरे दिन सूत्रार्थ वेदी विद्वान् को व्युत्सर्जन भूमि में जाकर श्रमण की गति जानने के लिये अवलोकन करना चाहिये।

शरीर व्युत्सर्जन स्थान से जिस दिशा में खींचा हुआ अखण्डित शव दीखे उस दिशा में शास्त्र जानने वाले विद्वान् निरुपद्रवता और सुभिक्षता बताते हैं।

एत्थ य थल करणे विमाणिओ जोइसिओ वाणमंतर समंमि।
गड्डाए भवणवासी एस गई से समासेण ॥६३॥

अर्थः—मृतक शरीर का जिस स्थल में व्युत्सर्जन किया है, उससे ऊँचे भूमि भाग में दूसरे दिन पड़ा पाया जाय तो मरने वाला वैमानिक अथवा ज्योतिष्क देवों की गति में गया, ऐसा समझा जाता है। यदि वह निम्न गड्ढे में पड़ा हुआ दीखे तो उसका जीव भवन-पति देवों के निकाय में उत्पन्न हुआ माना जाता है, और शरीर व्युत्सर्जन स्थान के समतल भूमि भाग में पाया जाय तो वह वानमन्तर देवों के निकाय में उत्पन्न हुआ, ऐसा माना जाता है।

जैन श्रमण के विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता है, स्नातक आदि पाँच प्रकार के श्रमणों का निरूपण, पारिहारिक आदि तपः साधकों का विवेचन आदि, बहुत से विषय हमने छोड़ दिये हैं, क्योंकि जैन श्रमण के सम्बन्ध की सभी बातें लिखने से यह एक अध्याय ही एक बड़ा ग्रन्थ बन जाता और ग्रंथ के एक अध्याय अथवा एक खण्ड में अतिविस्तार करना उचित नहीं माना जाता।

मैं आशा करता हूँ जैन श्रमण के सम्बन्ध में जो कुछ ऊपर

लिखा है, उससे पाठकगण यत्किञ्चित् जानकारी प्राप्त करेंगे तो लेखक अपना परिश्रम सफल हुआ मानेगा।

निर्ग्रन्थश्रमणाचार-तपोविधि-निरूपकः।
मानवाशनमीमांसाध्यायः पूर्णश्चतुर्थकः॥

इति निर्ग्रन्थश्रमणाचारख्यापकश्चतुर्थोऽध्यायः।

पंचम अध्याय

(५)

अनारम्भी वैदिक परिव्राजक

त्यक्तकर्मकलापेन विवर्णवस्त्रधारिणा ।
परिव्राजा जितं संग-वारिणा वनचारिणा ॥

अर्थः—सर्व कर्मों का त्याग करके विवर्ण वस्त्रधारी, और ग्राम-नगरों का संग छोड़ कर अनियत अटवी वनों में विचरने वाले परिव्राजक ने संसार में विजय प्राप्त किया ।

पूर्व भूमिका

वैदिक धर्म में मनुष्य के आगे बढ़ने के लिये एक क्रम है, जिसको शास्त्रकारों ने आश्रम इस नाम से निर्दिष्ट किया है ।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम ।

१—लगभग आठ वर्ष की उम्र में बालक का उपनयन संस्कार करके उसे विद्या गुरु के स्वाधीन कर दिया जाता था। वहां रह कर बालक आश्रम की समय-मर्यादा तक ब्रह्मचर्य पालन के साथ आश्रम सम्बन्धी नियम को पालता हुआ शास्त्राध्ययन करता था। वेद वेदाङ्गादि सर्व शास्त्रों का ज्ञाता बन कर वह स्नातक हो गुरु-दक्षिणा प्रदान करके अपने घर जाता। स्नातक होने के बाद जब तक उसका विवाह नहीं होता तब तक वह स्नातक के रूप में रहता और स्नातक के नियमों का पालन करता।

२—विवाह हो जाने के बाद वह गृहस्थाश्रमी कहलाता और गृहस्थोचित धार्मिक तथा व्यावहारिक कार्य करने का अधिकारी बनता।

३—गृहस्थाश्रम को पालन करते हुए उसे विशेष धार्मिक साधना करने की इच्छा होती तब गृहस्थाश्रम के कार्य अपने पुत्रों पर छोड़ कर वह सपत्नीक अथवा अकेला बन में जाकर आश्रम बांध कर वहां रहना और अपने नित्य कर्म करता।

४—वानप्रस्थ स्थिति में रह कर तपस्या देवता पूजन, आदि धार्मिक कार्य करते करते जब उसे विशेष त्याग और वैराग्य भावना उत्पन्न हो जाती तब वह सर्व अनुष्ठानों को छोड़ कर निस्संग और निस्स्पृह संन्यासी बन कर चला जाता। येही वैदिक

धर्म में ऊपर चढ़ने के सोपान हैं-जिनका वैदिक धर्म साहित्य में आश्रम इस नाम से वर्णन किया गया है।

उक्त प्रत्येक आश्रम में पहुंच कर आश्रमी को क्या क्या कार्य करने पड़ते हैं उन सब का यहां निरूपण करना हमारे उद्देश्य के बाहर है, अतः प्राथमिक तीन आश्रमों का दिग्दर्शन मात्र कराके हम चतुर्थाश्रम पर जायेंगे।

ब्रह्मचारी

हारीतस्मृति के निम्नश्लोकों में ब्रह्मचारी का निरूपण किया गया है।

अजिनं दन्तकाष्ठश्च, मेखलाश्चोपवीतकम् ।
धारयेदप्रमत्तश्च, ब्रह्मचारी समाहितः ॥
सायं प्रातश्चरेद् भैक्ष्यम्, भोज्यार्थं संयतेन्द्रियः ।
आचम्य प्रयतो नित्यं, न कुर्याद् दन्तधावनम् ॥
छत्रं चोपानहश्चैव, गन्धमाल्यादि वर्जयेत् ।
नृत्यं गीतमथालापं, मैथुनं च विवर्जयेत् ॥
हस्त्यश्वारोहणश्चैव, संत्यजेत् संयतेन्द्रियः ।
सन्ध्योपास्तिं प्रकुर्वीत, ब्रह्मचारी व्रत-स्थितः ॥

अर्थः—ब्रह्मचारी मानसिक समाधि को न खोता हुआ प्रमाद रहित होकर अपने पास मृगचर्म, दण्ड, मेखला और यज्ञोपवीत रक्खे अर्थात् धारण करे।

ब्रह्मचारी इन्द्रियों को वश में रख कर भोजन के लिये प्रातः और सायंकाल भिक्षाचर्या करे, हमेशा भोजन के पूर्व जल से आचमन करे पर दातुन न करे।

ब्रह्मचारी छाता, जूता, सुगन्धि पदार्थ, पुष्प-माला आदि का त्याग करे और नाच, गान, आलाप आदि के जलसों में न जाय और मैथुन का त्याग करे।

व्रतस्थित इन्द्रियों का संयम रखने वाला ब्रह्मचारी हाथी घोड़ों पर न चढ़े, और सन्ध्योपासना अवश्य करे।

ब्रह्मचारी के नियमों के विषय में संवर्त स्मृतिकार कहते हैं।

उपनीतो द्विजो नित्यं, गुरवे हितमाचरेत्।
स्रग्गन्ध-मधुमांसानि, ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥
ब्रह्मचारी तु योऽश्नीया-न्मधुमांसं कथञ्चन।
प्राजापत्यं तु कृत्वाऽसौ, मौञ्जीहोमेन शुद्धयति ॥

अर्थः—उपनयन प्राप्त ब्राह्मण नित्य गुरु के हित में प्रवृति करे और जब तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहे तब तक पुष्पमाला, सुगन्धि तैल आदि तथा मधु मांस का त्याग करे।

जो ब्रह्मचारी किसी भी प्रकार से मधु मांस का भक्षण करे तो वह प्राजापत्य का प्रायश्चित कर मौञ्जी होम करने से शुद्ध होता है

वसिष्ठ धर्म शास्त्र में ब्रह्मचारी के भोजन करने का समय—

"चतुर्थ षष्ठाष्टम काल भोजी" ॥८॥

अर्थ—ब्रह्मचारी दिवस के चतुर्थ, षष्ठ, अष्टमांश में भोजन करने वाला होता है।

उपनीत द्विज के पालने योग्य व्रत बौधायन गृह्य सूत्र में—

मधु मांस श्राद्ध सूतकान्न मनिर्दशाहं संधिनी क्षीर छत्राक निर्यासौ विलयनं गणान्नं गणिकान्नमित्येतेषु पुनः संस्कारः ।

अर्थ—मधुभक्षण, मांसभोजन, श्राद्धान्न भोजन, सूतक वाले घर का दश दिन के अन्दर भोजन, ऊँटनी का दूध, छत्राक, वृक्ष का निर्यासरस, विलयन, गण का अन्न और गणिका का अन्न ये सभी उपनीत द्विज के लिये अभक्ष्य हैं। इन का भक्षण करने पर फिर संस्कार करना चाहिए।

मेगास्थनीज का ब्रह्मचर्याश्रम वर्णन

ग्रीक यात्री विद्वान् मेगास्थनीज ने द्विजाति के आँखों देखे ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन नीचे अनुसार किया है।

"जन्म के बाद शिशु एक के बाद दूसरे मनुष्य के रक्षकत्व में रहता है और जैसे जैसे वह चढ़ता है वैसे वैसे उस के शिक्षक अधिक योग्य नियत किये जाते हैं। दार्शनिकों का गृह नगर के सामने एक कुञ्ज में सामान्य हाते के भीतर होता है। वे बड़े सरल रीति से रहते हैं और कुश या चर्म के आसन पर सोते हैं। वे मांस भोजन नहीं करते और सम्भोग सुख से अपने को वञ्चित रखते हैं। वे गूढ़ विषयों पर कथोपकथन करने में और श्रोताओं को ज्ञान प्रदान करने में अपना समय व्यतीत करते हैं। श्रोता बोलने या खासने नहीं पाता थूक कहां तक फेंक सकता है। और यदि वह ऐसा करता है तो उसी दिन संयमी नहीं होने के

कारण जाति के बाहर कर दिया जाता है। इस प्रकार तेतीस वर्षों तक रह कर प्रत्येक मनुष्य अपने घर चला आता है। जहां वह सुख और शान्ति के साथ अवशिष्ट जीवन व्यतीत करता है।"

गृहस्थाश्रमी

गृहस्थाश्रमी तीन प्रकार के होते हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन तीनों के कर्त्तव्य भिन्न भिन्न होने पर भी कतिपय ऐसे गुण हैं जो सभी में होने आवश्यक माने गये हैं। जैसे—

दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया-शौच-मनायासो मंगलमकार्पण्यम-स्पृहेति।

अर्थ—सर्व प्राणियों के ऊपर दया, क्षमा का गुण, ईर्ष्या का अभाव, पवित्रता, श्रम का अभाव, मङ्गल स्वरूपता, कृपणता का अभाव, निस्स्पृहता ये आत्मा के स्वाभाविक गुण होते हैं, जो सभी आश्रमवासियों में अपनी स्थिति के अनुरूप इनका होना आवश्यक माना गया है।

गृहस्थ ऋतुकाल के अतिरिक्त स्त्री के पास न जाय ऐसा आपस्त-म्बोय धर्मसूत्र कहता है। यथा—

ऋतुकाल एव वा जायामुपेयात्

अर्थात्—ऋतु काल में ही गृहस्थ अपनी स्त्री के पास जाय।

ब्राह्मण गृहस्थाश्रमी के कर्म

वसिष्ठ स्मृति में लिखा है—

षट् कर्माणि ब्राह्मणस्याध्यनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्च।

अर्थ—ब्राह्मण के षट् कर्म ये हैं-अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह।

उक्त षट् कर्म करने के योग्य न होने की दशा में ब्राह्मण उपनी जीविका क्षत्रिय अथवा वैश्य कर्म से चला सकता है। वैश्य कर्मों में से उसके लिये वाणिज्य करना ठीक माना गया है, वाणिज्य में वह किन किन चीजों का वाणिज्य न करे इस सम्बन्ध में गौतम धर्मसूत्रकार लिखते हैं।

तस्यापण्यम् ॥८॥ किं तदपण्यमित्यत आह-गन्ध-रस-कृतान्न तिल-शाण क्षौमाजिनानि ॥९॥ रक्त निर्णिक्ते वाससी ॥१०॥ क्षीरं सविकारम् ॥११ मूल फल पुष्पौषध मधु-मांस तृणोदकापथ्यानि ॥१२॥ पशवश्च हिंसा संयोगे ॥१३॥

अर्थ—ब्राह्मण के लिए यह अविक्रेय है, वह अविक्रेय क्या है सो कहते हैं-गन्ध (सुगन्धि चूर्ण सुगन्धि तैल आदि) रस-(घृत तेल, मद्य आदि) कृतान्न (पकाया हुआ अन्न) तिल, शाण निर्मित वस्त्र, क्षौम-अतशी मय वस्त्र, चर्म, पक्के रक्त रंग से रंगे हुये वस्त्र दूध, दुग्ध विकार (खोवा पायस आदि) मूल-मूली बटाटा आदि फल, पुष्प, औषधियां, शहद, मांस, घास, जल अपथ्य, पशु (जिसको देने से हिंसा का सम्भव हो) ये सभी पदार्थ वैश्यवृत्ति करने वाले ब्राह्मण के लिये अविक्रेय हैं।

क्षत्रिय के कर्त्तव्य कर्म

क्षत्रिय के कर्त्तव्य कर्म के सम्बन्ध में वसिष्ठ कहते हैं:—

त्रीणि राजन्यस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत् ।

अर्थः—क्षत्रिय के तीन कर्म हैं. पढ़ना, यज्ञ तथा दान और शस्त्र से प्रजापालन करना उसका धर्म है, उस धर्म से अपना जीवन बिताना चाहिए ।

वैश्य के कर्त्तव्य कर्म

वैश्य के कर्त्तव्य कर्म के सम्बन्ध में वसिष्ठ लिखते हैं:—

"एतान्येव त्रीणि वैश्यस्य कृषिवाणिज्यपाशुपाल्यकुसीदानि च"

अर्थः—क्षत्रिय के तीन कर्म ही वैश्य के भी होते हैं, इनके अतिरिक्त खेती, व्यापार, पशुपालन और व्याज बट्टा उपजाना ये चार कर्म भी वैश्य के कर्त्तव्य हैं ।

"अजीवन्तः स्वधर्मेणान्यतरा पापीयसीवृत्ति मातिष्ठेरन्न तु कदाचिज्ज्यायसीम्" ॥

अर्थः—अपने अपने धर्म से निर्वाह न होने पर निम्न आश्रमी की किसी एक वृत्ति का आश्रय ले न कि उच्च वृत्ति का अर्थात् ब्राह्मण अपने धर्म से निर्वाह न होने पर क्षत्रियादि की वृत्ति ग्रहण कर सकता है । क्षत्रिय अपनी आजीविका के लिये वैश्यवृत्ति

धारण कर सकता है, न कि ब्राह्मणवृत्ति। वैश्य निर्वाह के लिये शूद्र का कर्त्तव्य कर सकता है न कि ब्राह्मण क्षत्रिय का।

वसिष्ठस्मृतिकार कहते हैं—

"तृणभूम्यग्न्युदकसूनृतानसूयाः सप्त गृहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन कदाचनेति"

अर्थः—गृहस्थाश्रमी के घर में इन सात बातों का कभी अभाव नहीं होता। वह अपने घर आगन्तुक अतिथि को आसन प्रदान करता है, बैठने को जगह बताता है, पाद्य के लिये जल अर्पण करता है, सूँघने के लिये गंधवत्ती सुलगाता है, मधुर वचनों से स्वागत करता है, सचाई से बातें करता है, और किसी प्रकार का ईर्ष्याभाव नहीं रखता है।

ब्राह्मण की विशेषता

यद्यपि वैदिक धर्म के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चारों अधिकारी माने गये हैं, फिर भी इन में ब्राह्मण की विशिष्टता है, क्योंकि वह वेदों का अध्यापक और वैदिक धर्म का नियामक प्रमुख स्तम्भ है।

वानप्रस्थ तथा सन्न्यास आश्रम उच्च उच्चतर होने पर भी वेदविहित धर्म में ब्राह्मण का स्थान असाधारण है इसमें कोई शंका नहीं। तृतीय चतुर्थ आश्रमी प्रायः वनों उद्यानों में रहते हुए अपने अधिकार के कार्य बजाते हैं, और चतुर्थाश्रमी सन्न्यासी

अपने नियम पालन के उपरान्त दार्शनिक चर्चाओं में काल व्यतीत करते हैं।

ब्राह्मण गृहस्थ होने के कारण गृह व्यवस्था तो करता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त वह वैदिक धर्म की सेवा भी सर्वाधिक करता है। वेदों का अध्ययन अध्यापन, वेदोक्त धार्मिक अनुष्ठानों का करना करवाना, और अपनी धार्मिक संस्कृति का प्रचार ये सब ब्राह्मण पर ही अवलम्बित हैं।

वेदों, ब्राह्मणों, श्रौतसूत्रों, धर्मसूत्रों गृह्यसूत्रों, स्मृतिशास्त्रों और पुराणों के रचयिता ब्राह्मण ही हैं। वर्त्तमान वैदिक-साहित्य में से यदि ब्राह्मण-कृतियों को पृथक् कर दिया जाय तो पीछे क्या रहेगा इस का विद्वान् पाठक गण स्वयं विचार कर सकते हैं।

आज के अदूरदर्शी कतिपय विचारक विद्वानों की दृष्टि में ब्राह्मण स्वार्थी प्रतीत होता है। वे कहते हैं ऊँच नीच का भेद ब्राह्मणों ने ही बताया है, और इस प्रकार आप सर्वोच्च बन कर दूसरी जातियों से अपना स्वार्थ सिद्ध करने की चाल चली है।

हमारी राय में ब्राह्मण पर किये गये उक्त प्रकार के आक्षेप कुछ भी प्रामाणिकता नहीं रखते।

अपने मुख से अपना गौरव बताने वाला कभी गौरव प्राप्त नहीं कर सकता। गौरव उसी को मिलता है जो गौरवार्ह होता है। विद्यापठन और पाठन, धार्मिक अनुष्ठान करना और करवाना, पात्र को देना और स्वयं पात्र बनकर लेना, ब्राह्मणों को इन

विशिष्टताओं ने ही उन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त करवाया था। विद्वान् ब्राह्मण वर्ग से उतरा दर्जा क्षत्रियों को मिला, इसका कारण ब्राह्मण नहीं पर क्षत्रिय स्वयं थे, क्यों कि क्षत्रिय ब्राह्मणों को गुरु मान कर अपने ऐहिक तथा पारलौकिक हितकारी कार्यों के सम्बन्ध में ब्राह्मणों की सलाह लेते और वे उनको धार्मिक तथा व्यावहारिक मार्ग बताते और उन मार्गों पर चलने का उपदेश देते, इस प्रकार ज्ञान बल से ही ब्राह्मणों ने मानव समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया था। उन्होंने अपनी जाति को ज्ञान प्राप्ति और सदाचरण में अग्रसर होने की हमेशा प्रेरणा की है। जातिमात्र से उच्च बन कर समाज के अगुआ बनने की विद्वान् ब्राह्मणों ने कभी हिमायत नहीं की, प्रत्युत ज्ञान तथा सदाचारादि गुण विहीन ब्राह्मणों को फटकारा अवश्य है। जिन्होंने वैदिक-धर्म के सूत्र स्मृत्यादि ग्रन्थों का अध्ययन किया है वे तो यही कहेंगे कि ब्राह्मणों ने पोल चलाने और इतर जन समाज को ठगने की कभी प्रवृत्ति नहीं की। इस सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ उद्धरण देकर इस विषय पर हम प्रकाश डालेंगे।

वसिष्ठधर्म शास्त्र में ब्राह्मण लक्षण

"योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं श्रुतं घृणा।
विद्या विज्ञान मास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥२१॥

"वसिष्ठ धर्मशास्त्र"

अर्थः—योग, तप, इन्द्रिय दमन, दान, सत्य, पवित्रता, ज्ञान, दया, विद्या, विज्ञान और श्रद्धालुता ये सब ब्राह्मण के लक्षण हैं।

वसिष्ठ स्मृति में ब्राह्मणों की तारकता

सर्वत्र दान्ताः श्रुतिपूर्णकर्णा जितेन्द्रियाः प्राणिवधान्निवृत्ताः।
प्रतिग्रहे संकुचिता गृहस्थास्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः ॥

अर्थः—सर्वत्र चित्तवृत्तियों का दमन करने वाले, वेद श्रवण करने वाले, जितेन्द्रिय, जीवहिंसा से दूर रहने वाले, दान लेने में संकोच रखने वाले, ऐसे गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण संसार-समुद्र से तारने को समर्थ होते हैं।

वशिष्ठस्मृति में पात्र लक्षण

स्वाध्यायाढ्यं योनिमित्रं प्रशान्तं चैतन्यस्थं पापभीरुं बहुज्ञम् ।
स्त्रीमुक्तान्तं धार्मिकं गोशरण्यं वृत्तैः क्षान्तं तादृशं पात्रमाहुः। २६

"वसिष्ठ स्मृति"

अर्थः—जो स्वाध्याय में लीन, ब्रह्मचारी, शान्तिमान्, हरेक कार्य में चेतनावान, पाप से डरने वाला, अनेक शास्त्रों का ज्ञाता, स्त्रियों की निकटता से मुक्त, धार्मिक, गायों आदि प्राणियों का प्रतिपालक, व्रत नियमों के प्रतिपालन से शरीर में दुर्बल, इस प्रकार के ब्राह्मण को पात्र कहा है।

अभयदायी ब्राह्मण

अभयं सर्वभूतेभ्यो, दत्वा चरति यो द्विजः ।
तस्यापि सर्वभूतेभ्यो, न भयं जातु विद्यते ॥१॥

"वसिष्ठ स्मृति"

अर्थः—सर्व प्राणियों को अभयदान देकर जो ब्राह्मण पृथिवी पर फिरता है, उसको सर्व प्राणियों से कहीं भी कोई भय नहीं होता ।

ऊपर लिखित पद्यों में ब्राह्मणों के उत्तम गुण और लक्षणों का किञ्चित् निरूपण किया है। ऐसे गुण लक्षण समन्वित ब्राह्मण गृहाश्रमी होते हुए भी ऋषि कहलाते और बड़े बड़े राजा तक उनके चरणों में शिर झुकाते थे, और उन्हीं का बनाया हुआ शास्त्र धार्मिक सिद्धान्त बन जाता था ।

जिस प्रकार ब्राह्मणों ने अपने ग्रन्थों में गुणवान् ब्राह्मणों की प्रशंसा की है, उसी प्रकार गुणहीन और ब्राह्मणत्व विरुद्ध कर्म करने वाले ब्राह्मणों की निन्दा भी की है ।

अत्रिस्मृति में ब्राह्मणों को उनके कर्मानुसार दश उपमाओं से वर्णित किया है ।

देवो मुनिर्द्विजो राजा, वैश्यः शूद्रो निषादकः ।
पशुर्म्लेच्छोऽपि चाण्डालो, विप्रा दशविधाः स्मृताः ॥३६०॥

अर्थः—देव, मुनि, द्विज, राजा, वैश्य, शूद्र, निषाद, पशु, म्लेच्छ, और चाण्डाल ऐसे दश प्रकार के ब्राह्मण कहे गये हैं।

संध्यां स्नानं जपं होमं, देवतानित्यपूजनम् ।
अतिथिं वैश्वदेवं च, देव ब्राह्मण उच्यते ॥३७१॥

शाके पत्रे फले मूले, वनवासे सदा रतः ।
निरतोऽहरहः श्राद्धे, स विप्रो मुनिरुच्यते ॥३७२॥

वेदान्तं पठते नित्यं, सर्व—संगं परित्यजेत् ।
सांख्ययोग विचारस्थः, स विप्रो द्विज उच्यते ॥३७३॥

अस्त्राहताश्च धन्वानाः, संग्रामे सर्व सम्मुखे ।
आरम्भे निर्जिता येन, स विप्रः क्षत्र उच्यते ॥३७४॥

कृषिकर्म रतो यश्च, गवां च प्रतिपालकः ।
वाणिज्य—व्यवसायश्च, स विप्रो वैश्य उच्यते ॥३७५॥

लाक्षालवण—सम्मिश्रं, कुसुम्भं क्षीर—सर्पिषः ।
विक्रेता मधु—मांसानां, स विप्रः शूद्र उच्यते ॥३७६॥

चोरकस्तस्करश्चैव, सूचको दंशकस्तथा ।
मत्स्यमांसे सदा लुब्धो, विप्रो निषाद उच्यते ॥३७७॥

ब्रह्मतत्त्वं न जानाति, ब्रह्मसूत्रेण गर्वितः ।
तेनैव स च पापेन, विप्रः पशुरुदाहृतः ॥३७८॥

वापी—कूप—तड़ागाना—मारामस्य सरस्सु च ।
निश्शङ्करोधकश्चैव, स विप्रो म्लेच्छ उच्यते ॥३७९॥

क्रिया-हीनश्च मूर्खश्च, सर्वधर्म-विवर्जितः ।
निर्दयः सर्वभूतेषु, विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥३८०॥

अर्थः—सन्ध्यावन्दन, जप, होम नित्य-देवता-पूजन, अतिथि सत्कार, और वैश्वदेव इन कर्मों को करने वाला ब्राह्म देव ब्राह्मण कहलाता है ।

शाक, पत्र, फल, मूल, पर निर्वाह करने वाला, निरन्तर बनवास में रहने वाला, और प्रति दिन श्राद्ध करने में तत्पर रहने वाला मुनि ब्राह्मण कहलाता है ।

जो वेदान्त शास्त्र को नित्य पढ़ता हैं, सर्व संग का त्याग करता है, और सांख्ययोग के विचार में तत्पर रहने वाला ब्राह्मण द्विज कहलाता है ।

अस्त्र से प्रहत धनुर्धारियों को जिसने संग्राम में सर्व के सामने पराजित किया है ऐसा ब्राह्मण क्षत्र ब्राह्मण कहलाता है ।

खेती बाड़ी करने वाला, गौओं का पालक और व्यापार करने वाला ब्राह्मण वैश्य कहलाता है ।

लाख, नमक, कुसुम्भ, दूध, घी, मधु, और मांस इनका बेचने वाला ब्राह्मण शूद्र कहलाता है ।

चोर, लुटेरा, चोरों को सूचना करने वाला, दंशक, (काटने वाला) मत्स्य-मांस भक्षण में आसक्त ऐसा ब्राह्मण निषाद कहा जाता है ।

ब्रह्मतत्त्व को न जानते हुए भी यज्ञोपवीत से गर्वित बना हुआ ब्राह्मण अपने इसी पाप से पशु कहलाता है।

वापी, कूप, तालाब, आरामस्थ सरोवर, इन स्थानों में जाने वालों को निश्शङ्क होकर रोकने वाला ब्राह्मण म्लेच्छ ब्राह्मण कहलाता है।

क्रिया विहीन, मूख सर्वधर्मों से वर्जित और सर्व जीवों पर निर्दय ब्राह्मण चाण्डाल ब्राह्मण कहलाता है।

उपर्युक्त वर्णनानुसार ब्राह्मण अपने कर्त्तव्यों के अनुसार ही भले बुरे कहलाते थे, न कि ब्राह्मण जाति में जन्म लेने से ही सब उत्तम माने जाते थे। ब्राह्मणों का यह वाक्य तो सर्व प्रसिद्ध है कि—"जन्मना जायते शूद्रः" अर्थात् ब्राह्मण के कुल में जन्म लेने वाला भी तब तक शूद्र ही होता है, जब तक कि उसका संस्कार नहीं होता। इन सब बातों का सारांश इतना ही है कि पूर्वकाल में ब्राह्मण उनके शुभ कर्त्तव्य कर्मों से ही पूज्य माने जाते थे, न कि जाति मात्र से। इसके विपरीत अन्य जातीय संस्कारी मनुष्य भी ब्राह्मण के कर्त्तव्य कर्म करता और ब्राह्मण वृत्ति रखता तो वह भी कालान्तर में ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो सकता है। इस विषय में व्यास का निम्नोक्त वचन ध्यान में रखने योग्य है।

व्यास जी कहते हैं:—

न जातिः कारणं तात ! गुणाः कल्याणकारणम् ।
वृत्तस्थमपि चाण्डालं, तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

अर्थः—हे पुत्र जाति कल्याण का कारण नहीं है, किन्तु गुण ही कल्याण के कारण होते हैं, सदाचारी और ब्राह्मण के व्रत में रहे हुए चाण्डाल को भी देव ब्राह्मण मानते हैं।

क्षत्रिय जाति बाहुबली और शस्त्रधारी होने के कारण बहुधा मृगेया, मांस-भक्षण और सुरा-पान के व्यसनों में अग्रसर हो रही थी, उस समय में विद्वान् ब्राह्मणों ने उसे बचाने के लिये यज्ञ यागादि प्रवृत्तियों में डाल कर उसे पतन से बचाया। यदि ब्राह्मण जाति न होती तो हमारा क्षत्रिय वर्ण आज अनार्य मांस भक्षी और जंगली लोगों से भी निम्नकोटि में पहुँच गया होता, परन्तु ब्राह्मण जाति की बदौलत आज के हमारे क्षत्रिय लोग आर्य बने हुए हैं, और अपने को वैदिक धर्म का अनुयायी होनेका गौरव रखते हैं। यही कारण है कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने राजा के पास पुरोहित होना अनिवार्य माना है।

ऐतरेय ब्राह्मणकार लिखते हैं:—

न हिवाऽपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति, तस्माद्राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरादधीत + + + + । ० ० ० ० यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितस्तस्मै विशः संजानते, सम्मुखा एक मनसो यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो पुरोहितः ॥२५॥

अ० पं० अ० ५

अर्थः—जिसके पास पुरोहित नहीं है, उसका अन्न देव नहीं खाते, इस वास्ते यज्ञ करता हुआ राजा पुरोहित को अग्रसर करे।

जिस राजा के इस प्रकार का विद्वान् और राष्ट्र को बचाने वाला पुरोहित होता है, उस राजा की प्रजाजन प्रतिष्ठा करते हैं, और जिसके यहां राष्ट्र को बचाने वाला विद्वान् पुरोहित होता है उसके प्रजाजन एक मन के होकर राजा की आज्ञा उठाते हैं।

"जिसके पुरोहित नहीं है उस राजा का अन्न देव नहीं खाते हैं। इस कथन का अर्थ उल्टा भी किया जा सकता है कि यह बात ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिये कही है परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, ब्राह्मणों को राजा की निश्रा में रह कर उसे धार्मिक बनाये रखना है और पशुपक्षियों की हिंसा से तथा अभक्ष्य भक्षण से बचाना है। यदि राजा पुरोहित को अपना हितचिन्तक और पारलौकिक मार्गदर्शक न मानते तो उनकी प्रवृत्तियां निरंकुश और खान-पान अमर्यादित हो जाते और परिणाम यह होता कि क्षत्रिय जाति से धर्म का नाम विदा ले लेता, परन्तु विद्वान् ब्राह्मणों ने ऐसा होने नहीं दिया, वे निरर्थक हिंसा के बुरे परिणाम को उन्हें सुनाया करते थे, और प्रायश्चित्त देकर पाप-प्रवृत्तियों से निवृत्ति कराते रहते थे।

यहां हम निरर्थक हिंसा करने वालों को तथा अभक्ष्य भक्षण और अपेयपान करने वालों को दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराके इस विषय को पूरा करेंगे।

वसिष्ठ धर्मशास्त्रोक्त हिंसाप्रायश्चित्तानि

गाञ्चे द्धन्यात् तस्याश्चर्मणार्द्रेण परिवेष्टितः षण्मासान् कृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं वा तिष्ठेत् ॥१८॥

अर्थः—गोहत्या करने वाला उसके आले चमड़े से शरीर को थिट कर कृच्छ्र अथवा तप्तकृच्छ्र प्रायश्चित्त करके छः मास तक रहने से शुद्ध होता है।

श्वमार्जारनकुलसर्पदुर्दुर-मूषिकान् हत्वा कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत् किञ्चिद् दद्यात् ॥२४॥

अर्थः—कुत्ता, बिल्ली, नौवला, सांप, मेंढक, चूहा इनको मारने वाला बारह रात-दिन तप्तकृच्छ्र करे और कुछ दान भी दे।

अनस्थिमतां तु सत्वानां गोमात्रं राशिं हत्वा कृच्छ्रं द्वादश रात्रं चरेत् किञ्चिद् दद्यात् ॥२४॥

अर्थः—अस्थिविहीन कीट पतङ्गों को मार कर गोप्रमाण (खड़ी रही गोप्रमाण ऊंचा) ढेर करने वाला द्वादश रात्रि तक कृच्छ्र करने पर कुछ दान देने से शुद्ध होता है।

अस्थिमतां त्वेकैकम् ॥ २६ ॥

अर्थः—हड्डी वाले एक एक प्राणी को मारने वाले की द्वादश रात्र कृच्छ्र करने से और कुछ दान से शुद्धि होती है।

गौतमधर्मसूत्रोक्तप्रायश्चित्तानि

क्रव्यादांश्च मृगान् हत्वा, धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्।
अक्रव्यादान् वत्सतरी मुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णगाम् ॥१॥

अर्थः—मांसभक्षक मृगों को मार दे तो दूध देने वाली गौ का दान देने से शुद्ध होता है, तृणभक्षक मृगों को मार दे तो बछड़ी

का दान देने से शुद्धि होती है, और ऊँट को मार दे तो कृष्ण गौ का दान देने से मारने वाला शुद्ध होता है।

मण्डूकनकुलकाकठिम्बदहरमूषिकश्वहिंसासु च ॥ २१ ॥
(भाष्यांश)—एतेषां समुदायवधे शूद्रहत्याव्रतं चरेत् इति द्रष्टव्यम्।

मार्जारनकुलौ हत्वा, चाषं मण्डूकमेव च।
श्वागोधोलूककाकांश्च, शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥१॥
हत्वा हंसं वलाकं च, बकं वर्हिणमेव च।
वानरं श्येनभासौ च, स्पर्शयेद् ब्राह्मणाय गाम् ॥२॥
हंसानां च मयूराणां, जलस्थानां च पक्षिणाम्।
कपीनां श्येनभासानां, वधे दद्यात् पणं द्विजः ॥३॥
गर्दभाजाविकानां तु, दण्डःस्यात्पञ्चमाषकः।
माषिकस्तु भवेद् दण्डः, श्वशूकर निपातने ॥४॥
सर्पे लोहदण्डः ॥२७॥

अर्थः—मेंढक, नौयला, कौआ, ठिम्ब, छोटा चूहा, इन की सामुदायिक हिंसा में शूद्रहत्या के प्रायश्चित्त का व्रत करना चाहिए।

बिल्ली, नौवला, चाष पक्षी, मेंढक, कुत्ता, गोह, उलूक, कौआ इन को मार दे तो शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करे।

हंस, वलाका, बगुला, मोर, बन्दर, बाज, भास पक्षी, इनकी हत्या कर देने पर ब्राह्मण को गोदान करने से शुद्धि होती है।

हंस, मोर, जल में रहने वाले पक्षी, बन्दर, बाज, भास पक्षी इनका वध करने पर द्विजाति एक रुपया दण्ड दे।

गधा, बकरी, भेड़, इन की हत्या की जाने पर पाँच माशा सुवर्ण का दण्ड करना और कुत्ता तथा सुअर का वध करने पर एक माशा सुवर्ण का दण्ड देना।

साँप की हत्या में कृष्णलोह दंड का देना चाहिये।

संवर्त्त स्मृति में हत्या का प्रायश्चित्त

चक्रवाकं तथा क्रौञ्चं, शारिकाशुकतित्तरीन्।
श्येनगृध्रानुलूकांश्च, पारावतमथापि वा ॥१४७॥
टिट्टिभं जालपादञ्च, कोकिलं कुक्कुटं तथा।
एषां वधे नरःकुर्यादेकरात्रमभोजनम् ॥१४८॥

अर्थः—चकवा, क्रौञ्च, मैना, शुक, तीतर, बाज, गिद्ध, उलूक, कबूतर, टिट्टिभ, जालपाद पक्षी, कोयल और मुर्गा इन में से किसी एक की हत्या कर देने पर एक उपवास से शुद्ध होता है।

पराशर स्मृति में पक्षिहत्या का प्रायश्चित्त

क्रौञ्चसारसहंसांश्च, चक्रवाकं च कुक्कुटम्।
जालपादं च शरभं, हत्वाऽहोरात्रतःशुचिः ॥३२॥
बलाका टिट्टिभौ वापि, शुकपारावतावपि।
अटीनवकघाती च, शुध्यतेऽनक्तभोजनात् ॥३३॥

अध्या० ६ पृ० २२२

हत्वा मूषकमार्जार-सर्पाजगरडुंडुभान् ।
कृशरं भोजयेद् विप्रान्, लोहदण्डं च दक्षिणाम् ॥९॥
शिशुमारं तथा गोधां, हत्वा कूर्मञ्च शल्लकम् ।
वृन्ताकफलभक्षी वा ऽप्यहोरात्रेण शुद्ध्यति ॥१०॥
वृकजम्बुकऋक्षाणां, तरक्षूणां च घातकः ।
तिलप्रस्थं द्विजे दद्यात्, वायुभक्षो दिनत्रयम् ॥११॥

अर्थ—क्रोञ्च, सारस, हंस, चकवा, कुक्कुट, जालपाद पक्षी, शरभ, इनकी हत्या करने वाला रात-दिन का उपवास करने से शुद्ध होता है।

वलाका, टिट्टिभ, शुक कबूतर, आड, बगुला, इनकी हत्या करने वाला एक दिन के उपवास से शुद्ध होता है।

उन्दर, बिल्ली, साँप, अजगर द्विमुख सर्प, इनकी हत्या कर दे तो ब्राह्मण को तिल माषों से बनी हुई खीचड़ी जिमाकर लोह दण्ड की दक्षिणा दे।

ग्राहमत्स्य, गोह, कछुआ, शल्लक, इनकी हत्या करने वाला और वृन्ताकभक्षी (बैंगन खाने वाला) रात-दिन के उपवास से शुद्ध होता है।

भेड़िया, गीदड़, भालू, चीता, इनकी हिंसा करने वाला मनुष्य तीन रात-दिन के उपवास करके ब्राह्मण को एक प्रस्थ तिलों का दान देने से शुद्ध होता है।

ऊपर हमने दो एक धर्मशास्त्र और स्मृतियों के उद्धरण देकर यह दिखाया है कि ब्राह्मण किस प्रकार निरर्थक हत्याकार्यों के लिये दण्डविधान करके उन्हें अहिंसक रखने की कोशिश करते थे। आस्तिक लोगों के लिये तो प्रायश्चित्त करना ही पर्याप्त माना जाता था, परन्तु प्रायश्चित्त न करने वालों को हिंसा से दूर रखने के लिये ब्राह्मणों ने हिंसा कार्यों के लिये आर्थिक दण्ड तक नियत करवा दिया था। जिसके अनुसार निष्कारण प्राणिहिंसा करने वालों को आर्थिक दण्ड देकर ठिकाने लाते थे। आजकल जिन प्राणियों की हिंसा करने वालों को सरकार पारितोषिक देती है, उन्हीं प्राणियों की हिंसा करने वालों को उस समय के राजा लोग आर्थिक शिक्षा देते थे, इतना ही नहीं बल्कि कई देशों में हिंसा करने वालों के हिंसक अङ्ग उपाङ्ग तक कटवा दिये जाते थे। इस प्रकार कड़ी शिक्षाओं और कठोर प्रायश्चित्तों के कारण से ही भारत का अधिकांश जन समाज अहिंसक रहा है, और भारत वर्ष आर्यक्षेत्र कहलाने का दावा कर सकता है।

समय विशेष में यज्ञों में हिंसा के घुसने और उसके बाद के ग्रंथ निर्माता ब्राह्मणों द्वारा उसे धर्म्यमान लेने के परिणाम से पिछले ब्राह्मणों को अमुक समय तक यज्ञ में एक आध प्रोक्षित पशु का वध करने और उसका बलि-शेष मांस खाने को बाध्य होना पड़ा। इस समय-विशेष की प्रवृत्ति मात्र से ब्राह्मण जाति मात्र को पशुघातक और गोमांस भक्षी कहना नितान्त अनुचित है। ब्राह्मण यज्ञ में नियुक्त होकर किस भावना से मांस खाता था, इस

विषय में स्मृति के दो श्लोक उद्धृत करके हम इस प्रकरण को पूरा करेंगे।

माश्नीयाद् ब्राह्मणो मांस-मनियुक्तः कथं च न।
क्रतौ श्राद्धे नियुक्तो वा, अनश्नन् पतति द्विजः ॥५५॥
द्विजो जग्ध्वा वृथा मांसं, हत्वाऽप्यविधिना पशून्।
निरयेष्वयं वासमाप्नोत्याचन्द्रतारकम् ॥५६॥

अर्थ—यज्ञ में अनियुक्त ब्राह्मण कदापि मांस न खाय, और यज्ञ में तथा श्राद्ध नियुक्त द्विज मांस न खाता हुआ अपने धर्म से पतित होता है। द्विज निष्कारण मांस खाकर और अविधि से पशुहत्या करके यावत् चन्द्रतारक नरक में सदैव निवास करता है।

वानप्रस्थ

वानप्रस्थ का वर्णन करते हुए विष्णुस्मृतिकार लिखते हैं:—

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा, वनवासं यदा चरेत्।
चीर-वल्कलधारी स्यात्, अकृष्टान्नाशनो मुनिः ॥१॥
गत्वा च विजनं स्थानं, पञ्च यज्ञान्न हापयेत्।
अग्नि-होत्रं च जुहुयात्, अन्न नीवारकादिभिः ॥२॥
श्रवणेनाग्निमाधाय, ब्रह्मचारी वने स्थितः।
पञ्च यज्ञविधानेन, यज्ञं कुर्यादतन्द्रितः ॥३॥
आकाशशायी वर्षासु, हेमन्ते च जलाशये।
ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो, भवेन्नित्यं वने वसन् ॥४॥

केश-रोम-नख-श्मश्रून छिन्द्यान्नापि कर्त्तयेत् ।
त्यजञ्छरीर-सौहार्दं, वनवासरतः शुचिः ॥१०॥

अर्थ—गृहस्थ अथवा ब्रह्मचारी जब बनबास का आश्रय ले तब तब वह वस्त्रधारी अथवा वल्कलधारी बन कर वन में बगैर बोये वन्य धान्यों का भोजन करने वाला मुनि बने ।

वह मानव वस्ती से दूर निर्जनस्थान में अपना आश्रम बनाये और वहां रहता हुआ भी पञ्च महा यज्ञों को न छोड़े, और नीवार (वन्य ब्रीहि आदि) वन्यधान्यों से अग्नि होत्र करे ।

ब्रह्मचारी वानप्रस्थ, श्रवण से अग्नि को स्थापित करके पञ्चमहा यज्ञ की विधि से यज्ञ करे ।

वन में वास करने वाला वर्षा ऋतु में खुले आकाश में सोये, शीत सहन करे और ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि के पास बीच बैठ कर धूप सहन करे ।

केश, रोम, नख और मूंछ न उखाड़े न काटे । वनवास में रहने वाला शरीर का मोह छोड़ता हुआ पवित्र रहे ।

उक्त तीनों आश्रमों की पहचान बताते हुए दक्ष स्मृतिकार कहते हैं :—

मेखलाजिनदण्डैश्च, ब्रह्मचारीति लक्ष्यते ।
गृहस्थो दानवेदाद्यैः, नखलामैर्वनाश्रमी ॥

अर्थ—मेखला, मृगचर्म, तथा दण्ड से ब्रह्मचारी पहचाना जाता है, दान और वेदाध्ययन से गृहस्थाश्रमी की पहिचान होती

है और बढ़े हुए नखों केशों से यह वानप्रस्थ है, ऐसा समझा जाता है।

संन्यासी

संन्यासी शब्द से यहां वैदिक संन्यासी अभिप्रेत है।

संन्यास की प्राचीनता

प्राचीन वेद संहिताओं में संन्यास अथवा संन्यासी परिव्राजक आदि शब्द दृष्टिगोचर नहीं होते। इससे आधुनिक विद्वान् यह मानने लग गये हैं कि प्राचीन काल में संन्यस्ताश्रम नहीं था, परन्तु यह मान्यता प्रामाणिक नहीं कही जा सकती, क्योंकि उपनिषदों में परिव्राट् शब्द मिलता है। बोधायन गृह्य सूत्र जो सबसे प्राचीन गृह्य सूत्र है उसमें संन्यासियों के प्रकार तथा आचार विधानों का सविस्तार वर्णन मिलता है।

प्राचीन से प्राचीन जैन सूत्रों में भी चरक, परिव्राजक आदि संन्यासियों के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह तो निश्चित है कि यह आश्रम आज कल के विद्वान् जितना अर्वाचीन समझते हैं उतना अर्वाचीन नहीं, बल्कि वेद काल से ही चली आने वाली यह संस्था है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि यह आश्रम इतना प्राचीन है तो ऋग्वेदादि में इसका नामोल्लेख क्यों नहीं मिलता ?

इस का उत्तर यह है कि संन्यासी जङ्गलों पहाड़ों आदि में रहते थे, ग्रामों नगरों में बहुत कम आते थे। प्राथमिक संन्यास लेने

के समय वे वेद-पाठ अवश्य करते थे, परन्तु ज्यों ज्यों वे उपस्थिति में पहुँचते जाते थे त्यों त्यों उनका वेदपाठ छूटता जाता था।

वेदसंहिताओं के रचयिता गृहस्थ ब्राह्मण ऋषि होते थे। वे अपने तथा अन्यों के लिये देवताओं को सन्तुष्ट करने के हेतु यज्ञ यागादि किया करते थे, उनको राजाओं तथा धनाढ्य गृहस्थों से वैदिक अनुष्ठानों द्वारा अनेक प्रकार के लाभ होते थे, और बड़े बड़े राजाओं महाराजाओं से परिचय भी बढ़ता जाता था। उधर संन्यासी लोग बस्तियों से दूर अपने आत्म-चिन्तन में लगे रहते थे, न उनको धनाढ्यों के परिचय की आवश्यकता थी, न धनाढ्य और राज्यसत्ताधारी उनसे अधिक परिचित रहते थे। इस परिस्थिति में ब्राह्मण अपनी कृति वेदों में उनका वर्णन करके क्यों दुनियां की दृष्टि में उनका महत्त्व बढ़ाते ?

जैसे वेद ब्राह्मणों की कृतियां थीं, उसी प्रकार संन्यासियों की भी अपनी कृतियां होती थी। जिनमें उनके अपने यम, नियम, योगानुष्ठानों का विधान और तत्त्व विचार की चर्चा होती थी। जिस प्रकार ब्राह्मण लोग वेद तथा उनके अङ्ग ग्रन्थों का निर्माण करके वैदिक साहित्य का सर्जन करते रहते थे, उसी प्रकार विद्वान् संन्यासी भी अपने अभिप्रेत विषय के साहित्य का निर्माण करते रहते थे। जिस प्रकार ब्राह्मणों को संन्यासी तथा उनके सम्प्रदायों की अपेक्षा नहीं होती थी, उसी प्रकार संन्यासियों की दृष्टि वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में रहती थी। ये दोनों साथ

साथ चलते थे, फिर भी एक दूसरे के साहित्य की चर्चा करने में कोई रस नहीं था।

सांख्यदर्शन के प्रवर्त्तक कपिल महर्षि स्वयं संन्यासी थे, और उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण दर्शन का आविर्भाव किया था, जो वर्त्तमान सभी दर्शनों में अति प्राचीन माना जाता है। कणाद, गौतम, जैमिनि, आदि भिन्न भिन्न दर्शनों के मुकाबिले में ये दर्शन अर्वाचीन कहे जा सकते हैं।

जैनागम कल्पसूत्र में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा इनके षडङ्ग और इतिहास इन सभी को ब्राह्मणों का साहित्य माना गया है, इन्हें ब्राह्मण-साहित्य कहा गया है तब षष्टितन्त्र आदि पारिव्राजक नय के ग्रन्थ माने गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि अति पूर्वकाल से ही ब्राह्मण तथा संन्यासी साहित्य की दो धारायें पृथकरूप से बह रही थी। न ब्राह्मण साहित्य में संन्यासियों की चर्चा होती थी न संन्यासियों के साहित्य में ब्राह्मणों की। ब्राह्मण लोग विचार पूर्वक अपने साहित्य में सन्यासियों की चर्चा नहीं करते थे, क्योंकि संन्यासियों की भलाई अथवा बुराई करने से उन्हें अपनी हानि का भय रहता था। संन्यासियों की तरफ झुकने से वे अपना महत्त्व घटने की आशङ्का करते थे। तब संन्यासियों के विरुद्ध कुछ भी लिखने पर त्याग मार्ग के उपासक उन पर नाराज होकर हानि पहुचा सकते थे। इस कारण से अपने ग्रन्थों में संन्यासियों के विषय में कुछ भी न लिखने के लिये ब्राह्मण वर्ग सतर्क रहता था।

संन्यासियों की स्थिति इससे विपरीत थी। उनको किसी की सच्ची समालोचना करने में भय की आशङ्का नहीं थी। यही कारण है कि वे ब्राह्मण तथा उनकी कृतियों पर प्रसङ्ग वश कटाक्ष किया करते थे। सांख्य दर्शन के माठर भाष्य में लेखक ने वेदों तथा ब्राह्मणों की जो धज्जियां उड़ाई हैं, उन्हें देख कर यही कहा जा सकता है कि अति पूर्वकाल में सांख्य संन्यासी वेदों को तथा उनके सर्जक ब्राह्मणों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। इस कारण संन्यासियों तथा ब्राह्मणों के बीच मेल जोल का अभाव ही हो सकता है।

"ब्राह्मण श्रमणम्" "अहिनकुलम्" आदि द्वन्द्व समास के उदाहरण प्राचीन से प्राचीन व्याकरणकार देते आ रहे हैं। इससे भी यह तो स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणों और श्रमणों का आपसी विरोध अति पुराना है। इस दशा में ब्राह्मणों की कृति वेदों में संन्यासियों की चर्चा न होना एक स्वाभाविक बात है।

संन्यासी

संन्यास लेने का समय

संन्यास शब्द का अर्थ है एक तरफ रखना, सांसारिक प्रवृत्तियों तथा गृहस्थ विधेय धार्मिक अनुष्ठानों को एक तरफ रख कर निस्संगता का मार्ग पकड़ना यह संन्यास लेने का अर्थ है।

संन्यासवान् होने से संन्यासी, अनियत परिभ्रमण करने वाला होने से परिव्राजक, आत्मचिन्तन में उद्यमवान् होने से

यति और भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाला होने से भिक्षु ये सभी संन्यासी के पर्याय वाचक नाम हैं।

संन्यास मार्ग का स्वीकार कब करना इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए याज्ञवल्क्य जाबालोपनिषद् में नीचे लिखे अनुसार लिखते हैं—

"अथ हैनं जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच भगवन्! संन्यासं ब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद् वा वनाद् वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्॥"

अर्थः—जनक वैदेह ने याज्ञवल्क्य से पूछा हे भगवन्! संन्यास को कहिये। इस पर याज्ञवल्क्य बोले-ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त करके गृहस्थ से वानप्रस्थ बन कर, फिर संन्यासी बने अथवा इस क्रम के बिना भी ब्रह्मचर्य आश्रम से ही सन्यासी बन सकता है। अथवा गृहस्थ आश्रम से वा वन से प्रव्रजित हो सकता है। अथवा व्रतवान् हो, अथवा अव्रती, स्नातक हो, अथवा अस्नातक, आहिताग्निक हो अथवा अनाहिताग्निक, जिस दिन संसार से विरक्त हो उसी दिन प्रव्रजित हो सकता है।

याज्ञवल्क्य उपनिषद् में भी याज्ञवल्क्य ने उक्त अभिप्राय से मिलता जुलता ही अभिप्राय व्यक्त किया है, जो नीचे लिखे अनुसार है।

"अथ पुनर्व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निको वा निरग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ।"

अर्थः—यदि वह व्रती हो अथवा अव्रती, स्नातक हो अथवा अस्नातक, आहिताग्निक हो अथवा अनाहिताग्निक, जिस दिन वैराग्यवान हो उसी दिन प्रव्रजित हो जावे ।

संन्यास ग्रहण के सम्बन्ध में आरुण्योपनिषद् में निम्न प्रकार का नियम है ।

"वेदार्थं यो विद्वान् सोपानयादूर्ध्वं स तानि प्राग्वा त्यजेत् पितरं पुत्रमग्न्युपवीतं कर्म कलत्रं चान्यदपि"

अर्थात् वेद के अर्थ को जो जानता है वह उनको उपनयन के बाद अथवा पहले ही पिता को पुत्र को अग्नि को, उपवीत को कर्म को, स्त्री को, और अन्य भी उससे जो सम्बन्ध हो उन सभी को त्याग दे ।

संन्यास के विषय में अङ्गिरा का प्रतिपादन नीचे अनुसार है ।

यदा मनसि संजातं, वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।
तदा संन्यासमिच्छन्ति, पतितः स्याद् विपर्ययात् ॥

अर्थः—जिस समय सर्व वस्तुओं में से मन तृष्णाहीन हो जाय तभी संन्यास लेना चाहिये, ऐसी ज्ञानियों की मान्यता है,

इसके विपरीत मानसिक तृष्णाओं के रहते संन्यास लेने पर उससे पतित होने का सम्भव है।

संन्यास ग्रहण करने के सम्बन्ध में व्यास कहते हैं।

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा, वानप्रस्थोऽथवा पुनः।
विरक्तः सर्वकामेभ्यः, पारिव्राज्यं समाश्रयेत् ॥

अर्थः—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ किसी भी अवस्था में हो जब सब इच्छाओं से विरक्त हो जाय तब परिव्रज्या स्वीकार कर ले।

"अग्निहोत्रं गवालम्भं, संन्यासं पलपैतृकम्"।

इस स्मृति वाक्य से कलियुग में सन्न्यास के निषेध की उपस्थित होने वाली आपत्ति के निवारणार्थ निम्न प्रकार से विधान किया गया है।

यावद् वर्ण विभागोऽस्ति, यावद् वेदः प्रवर्त्तते।
तावन्न्यासोऽग्निहोत्रंच, कर्त्तव्यं तु कलौ युगे ॥

अर्थः—जब तक वर्ण विभाग का अस्तित्व है, और वेद ज्ञान की प्रवृत्ति विद्यमान है, तब तक कलियुग में भी संन्यास तथा अग्निहोत्र करने चाहिए।

उपर्युक्त निरूपण से यह ज्ञात हो जायगा कि प्राथमिक तीन आश्रमों का आराधन करने के बाद ही संन्यास आश्रम को स्वीकार करना चाहिये ऐसा सैद्धान्तिक नियम नहीं है।

ब्रह्मचर्याश्रम से सीधा संन्यासी होने का प्रतिपादन किया गया है। इससे संन्यास लेने वाले का आयुष्य विषयक संकेत भी मिल जाता है। उपनयन ब्रह्मचर्याश्रम प्रवेश का द्वार है, और उपनीत होने का समय अष्टम वर्ष तक का माना है। इससे सिद्ध होता है कि संन्यास अष्टम वर्ष के ऊपर की किसी भी अवस्था में लिया जा सकता है।

उक्त जाबालोपनिषद् तथा आरण्योपनिषद् आदि की श्रुतियों के "व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निको वा निरग्निको वा" इन शब्दों से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि पूर्वकाल में अनाश्रमी भी संन्यास ले सकते थे, केवल ब्राह्मण के लिये ही संन्यास नियत नहीं था।

परिव्राजक स्वरूप और उसका आचार धर्म

जाबालोपनिषद् में परिव्राजक का स्वरूप इस प्रकार लिखा है-

अथ परिव्राड् विवर्णवासाः मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय कल्पते।

अर्थः—अब परिव्राजक का स्वरूप बताते हैं। वह वर्णहीन वस्त्रधारी होता है, मुण्डित मस्तक, परिग्रह हीन पवित्र चित्त, अद्रोहशील और भिक्षावृत्ति करने वाला होता है, और वही ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करने योग्य होता है।

अन्यन्तर में भी इस विषय में कहा गया है :—

काम क्रोधलोभमोहदम्भ दर्पाहङ्कारममकारानृतादीं स्त्यजेत्। चतुर्षु वर्णेषु भैक्ष्यं चरेत् अभिशस्त पतितवर्जम्। पाणि पात्रेणाशनं कुर्यात्। औषधवत् प्राश्नीयात् प्राण संधारणार्थं यथामेदो वृद्धि र्न जायते। अरण्य निष्ठो भिक्षार्थी ग्रामं प्रविशेत् इति।

अर्थः—परिव्राजक काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, अहङ्कार ममता, और असत्य आदि का त्याग करे। अभिशस्त (मनुष्य घातक) और पतित को छोड़ कर चारों वर्णों में भिक्षा वृत्ति करे। हाथों में भोजन करे शरीर निर्वाह का साधन औषध समझ कर विराग भाव से रूखा सूखा भोजन करे जिससे मेदवृद्धि न हो, अरण्य में रहे और भिक्षा के लिये ग्राम में प्रवेश करे।

परिव्राजक शब्द की नामनिरुक्ति :—

परिबोधात् परिच्छेदात्, परिपूर्णावलोकनात्।
परिपूर्णफलत्वाच्च, परिव्राजक उच्यते॥

अर्थः—सर्वतो मुखी बोध होने से, परिच्छेद याने उपादेय का उपादान और हेय का त्याग करने से परिपूर्ण दृष्टि से देखने से, परिपूर्ण फल साधक होने से वह परिव्राजक कहलाता है।

यम कहते हैं:—

एकवासा अवासाश्च, एकदृष्टिरलोलुपः।
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत्॥

सत्यपूतं वदेत् वाक्यं, मनः पूतं समाचरेत् ।
अदूषयन् सतां मार्गं, ध्यानासक्तो महीं चरेत् ॥

अर्थः—एक वस्त्र वाला अथवा वस्त्रहीन एक दृष्टिक और अलोलुप भाव से विचरता हुआ भिक्षु दृष्टि से भूमि को देख कर पैर रक्खे, वस्त्र से छान कर जल पिये, सत्य से पवित्र 'वचन बोले, मन से विचार कर शुभ काम को करे और महापुरुषों के मार्ग को दूषित न करता हुआ, ध्यान में लीन रहता हुआ पृथिवी पर भ्रमण करे ।

व्यास कहते हैं :—

दशविधां हिंसां न कुर्यात् । उद्वेगजननं, सन्तापजननं, रुजाकरणं, शोणितोत्पादनं, पैशुन्यकरणं, सुखापनयनमतिक्रमः, संरोधो, निन्दा, बन्ध इति ।

अर्थः—किसी को खेद उत्पन्न करना, सन्ताप उत्पन्न करना, रोग उत्पन्न करना, खून निकालना, चुगली करना, सुख को हटाना या टालना, रोकना, निन्दा करना और बान्धना ये दश प्रकार की हिंसा संन्यासी को न करना चाहिये ।

अत्रि कहते हैं:—

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति, स्वागतं सुहृदेऽपि च ।
सन्माननं न च ब्रूया-न्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥

अर्थः—आइये, जाइये, ठहरिये, इस प्रकार का स्वागत सम्मानजनक वचन मोक्षमार्ग में तत्पर रहने वाला मुनि अपने मित्र के लिये भी न बोले।

प्राचीन श्रुतियों में यद्यपि ब्राह्मण ही संन्यासी हो सकता है, ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन नहीं मिलता, फिर भी स्मृति काल में यह सिद्धांत निश्चित कर दिया गया कि चतुर्थ आश्रम का अधिकारी ब्राह्मण ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं। इस सम्बन्ध में विष्णु स्मृतिकार कहते हैं।

आश्रमास्तु त्रयः प्रोक्ता, वैश्य–राजन्ययोस्तथा ।
पारिव्राज्याश्रम–प्राप्तिर्ब्राह्मणस्यैव चोदिता ॥

अर्थः—वैश्य तथा क्षत्रियों के लिये तीन आश्रम कहे गये हैं, और संन्यासाश्रम की प्राप्ति ब्राह्मण के लिये कही गई है।

रथ्यायां बहु वस्त्राणि, भिक्षा सर्वत्र लभ्यते ।
भूमिशय्या सुविस्तीर्णा, यतयः केन दुःखिताः ॥

अर्थः—गलियों में वस्त्र बहुत मिलते हैं, और सब जगह भिक्षा मिलती है, सोने के लिये भूमि रूप शय्या लम्बी चौड़ी पड़ी है। संन्यासी किस कारण से दुःखी हो सकता है।

यतिधर्मकसमुच्चय में लिखा है कि—

सचेलः स्यादचेलो वा, कन्था–प्रावरणोऽपिवा ।
एक वस्त्रेण वा विद्वान्, व्रतं भिक्षुश्चरेद् यथा ॥

नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां, शरीरमुपतापयेत् ।
स्तूयमानो न हृष्येत, निन्दितो न शपेत्परम् ॥

अर्थः—वस्त्रधारी हो या वस्त्रहीन हो, गुदड़ी से शरीर ढांकता हो या एक वस्त्र से निर्वाह करता हो, विद्वान् संन्यासी अपना व्रत पाले ।

न शरीर को अतिशय सुखशील बनाये, न उसे अति कष्ट दे, न पर स्तुति से हर्षित हो न निन्दा से निन्दक को शाप दे ।

चतुर्थमाश्रमं गच्छेद्, ब्राह्मणः प्रव्रजन् गृहात् ।
आचार्येण समादिष्टं, लिङ्गं यत्नात्समाश्रयेत् ॥३॥
शौचमाश्रय-सम्बन्धं, यतिधर्मांश्च शिक्षयेत् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमफल्गुता ॥४॥
दया च सर्वभूतेषु, नित्यमेतद् यतिश्चरेत् ।
ग्रामान्ते वृक्षमूले च, नित्यकाल-निकेतनः ॥५॥
पर्यटेत् कीटवद् भूमिं, वर्षास्वेकत्र संवसेत् ।
वृद्धानामातुराणां च, भीरूणां संगवर्जितः ॥६॥
ग्रामे वाऽपि पुरे वाऽपि, वासो नैकत्र दुष्यति ।
कोपीनाच्छादनं वास-कन्थां शीतापहारिणीम् ॥७॥
पादुके चापि गृह्णीयात्, कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम् ।
सम्भाषणं सह स्त्रीभि-रालम्भप्रेक्षणे तथा ॥८॥

नृत्यं गानं सभां सेवां, परिवादांश्च वर्जयेत् ।
वानप्रस्थ गृहस्थाभ्यां, प्रीतिं यत्नेन वर्जयेत् ॥६॥
एकाकी विचरेन्नित्यं, त्यक्त्वा सर्व–परिग्रहम् ।
याचिताऽयाचिताभ्यां तु, भिक्षया कल्पयेत् स्थितिम् ॥१०
साधुकारं याचितं स्यात्, प्राक्–प्रणीत–मयाचितम् ।

× × × ×

अर्थः—गृहस्थाश्रम से निकल कर प्रव्रजित होने वाला ब्राह्मण आचार्य का बताया हुआ वेष यत्न से धारण करे, तथा शौच, आश्रय सम्बन्ध और यति धर्मों को सीखे, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहता और सर्वभूतदया, संन्यासी इन यतिधर्मों का सदा पालन करे।

संन्यासी ग्रामके परिसर में वृक्ष के नीचे अपना आसन लगाये और कीट पतङ्ग की तरह अनियत भूमिभागों में सदा भ्रमण करता रहे, केवल वर्षा ऋतुओं में एक स्थान में निवास करे।

वृद्धों, बीमारों, भीरु व्यक्तियों का सङ्ग न करता हुआ ग्राम में वास करे तो दूषित नहीं है। गुह्य भाग ढांकने का वस्त्र, शीत से रक्षा करने वाली गुदड़ी और पादुका इनका संग्रह करे अन्य उपकरणों का नहीं।

स्त्रियों के साथ सम्भाषण, उनका विश्वास, दर्शन, नृत्य, और गान देखने सुनने का त्याग करे। किसी सभा में न जाय,

किसी की सेवा न करे, गृहस्थ तथा वानप्रस्थों के साथ प्रीति करना यत्नपूर्वक छोड़ दे।

संन्यासी सर्व प्रकार के परिग्रह को छोड़ कर नित्य अकेला विचरे, भिक्षावृत्ति से प्राप्त याचित अथवा अयाचित भोजन से अपनी जीविका निर्वाह करे, याचित भैक्ष्यान्न सर्वश्रेष्ठ है, उसके अभाव में पहले बना हुआ अयाचित भिक्षान्न मिले तो भिक्षु ग्रहण कर सकता है।

दश यम

आनृशंस्यं क्षमा सत्य-महिंसा-दम-आर्जवम्।
प्रीतिः प्रसादो माधुर्य-मक्रोधश्च यमा दश॥

अर्थः—अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दम, सरलता, प्रीति प्रसाद, मधुरता, अक्रोध ये दश यम संन्यासियों को पालना चाहिये।

पितामह के मत से दश यमः—

अहिंसा-सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा, शौचं दुर्भुक्तिवर्जितं॥

अर्थः—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्रोधाभाव, गुरुसेवा, शौच, अभक्ष्यभक्षण त्याग और मनः वचन काय योगों में अप्रमत्तता।

मनुकथित यमनियमः—

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसंग्रहः ।
यमास्तु कथिताश्चैते, नियमानपि मे शृणु ॥
संतोष-शौच-स्वाध्यायास्तपश्चेश्वर-भावना ।
नियमाः कौरवश्रेष्ठ ! फलसंसिद्धिहेतवः ॥

अर्थः—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम कहे हैं। अब नियमों को सुनो ! सन्तोष, शौच, स्वाध्याय, तप और ईश्वर प्रणिधान-हे कौरव-श्रेष्ठ ! ये पांच नियम फल सिद्धि देने वाले हैं ।

अजिह्वः षण्ढकः पङ्गु,-रन्धो बधिर एव च ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः, षड्भिरेतैर्न संशयः ॥

अर्थः—अजिह्व—परदोष भाषण में मूक, नपुंसक—अर्थात् सभी स्त्रियों को माता वा पुत्री तुल्य समझने वाला निर्विकारी, पङ्गु—अन्याय अधर्म के रास्ते चलने में पङ्गु समान, अन्ध—विषय विकारयुक्त दृष्टि शून्य, बधिर—परापवाद न सुनने वाला, मुग्ध—कौटिल्यादि दोष-शून्य भोला भाला इन छः गुणों से भिक्षु कर्मों से मुक्त होता है, इसमें कोई संशय नहीं ।

चतुर्विध संन्यासी

यद्यपि संन्यासाश्राम एक ही है, तथापि आचार भेद से

संन्यासी चार प्रकार के माने गये हैं। जिनका संक्षिप्त स्वरूप नीचे दिया जाता है।

× . × × ×

चतुर्विधा भिक्षुकाः स्युः, कुटीचकबहूदकौ ॥११॥
हंसः परमहंसश्च, पश्चाद् यो यः स उत्तमः।

अर्थः—भिक्षु चार प्रकार के होते हैं, कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें उत्तरोत्तर उत्तम माने गये हैं।

एकदण्डी भवेद्वापि, त्रिदण्डी वाऽपि वा भवेत् ॥१२॥
त्यक्त्वा सर्वसुखास्वादं, पुत्रैश्वर्य सुखं त्यजेत्।
अपत्येषु वसेन्नित्यं, ममत्वं यत्नतस्त्यजेत्॥१३॥
नान्यस्य गेहे भुञ्जीत, भुञ्जानो दोषभाग्भवेत्।

अर्थः—कुटीचक एक दण्डी अथवा त्रिदण्डी हो सकता है वह सांसारिक सुखों के ऊपर से मन हटा कर पुत्र स्नेह और बडप्पन का भाव भी छोड़ देता है। वह अपने सन्तानों के निकट रहता है, फिर भी उन पर मोह ममता नहीं रखता और वह अपने पुत्रों को छोड़ कर अन्य किसी के यहां भोजन नहीं लेता अपने कुल के अतिरिक्त अन्य कुलों में भोजन लेने पर वह दोषी माना गया है।

भिक्षाटनादिकेऽशक्तौ, यतिः पुत्रेषु सम्वसेत् ॥१३॥
त्रिदण्डं कुण्डिकाञ्चैव, भिक्षाधारं तथैव च।

सूत्रं तथैव गृह्णीयात्, नित्यमेव बहूदकः ॥१६॥

अर्थः—भिक्षा भ्रमण आदि में अशक्त होने पर यति अपने पुत्रों की निश्रा में संन्यास ग्रहण करता है; और त्रिदण्ड, कमण्डलु, भिक्षापात्र और यज्ञोपवीत इतने उपकरण बहूदक संन्यासी अपने पास रखता है।

इन्द्रियाणि मनश्चैव, कर्षन् हंसो विधीयते ।
कृच्छैश्चान्द्रायणैश्चैव, तुला—पुरुष—संज्ञकैः ॥२०॥
यज्ञोपवीतं दण्डं च, वस्त्रं जन्तु—निवारणम् ॥
अयं परिग्रहो नान्यो, हंसस्य श्रुतिवेदिनः ॥२१॥

अर्थः—तुला पुरुष संज्ञक कृच्छ, चान्द्रायण से इन्द्रियों तथा मन को खींच कर वश में रखने से वह हंस कहलाता है।

यज्ञोपवीत, दण्ड, और जन्तु निवारण वस्त्र यह वेदाभ्यासी हंस संन्यासी का परिग्रह है।

देह संरक्षणार्थं तु, भिक्षामीहेद्द्विजातिषु ॥२८॥
पात्रमस्य भवेत्पाणिस्तेन नित्यं गृहानटेत् ।

अर्थः—शरीर रक्षा के लिए हंस द्विजाति के घरों में हाथों में ही भोजन करता है।

माधुकरमथैवान्नं, पर—हंसः समाचरेत् ।

अर्थः—माधुकरी वृत्ति से प्राप्त अन्न भिक्षान्न को परमहंस स्वीकार करे।

मनः संकल्परहितान्, गृहांस्त्रीन् पञ्च सप्त वा ।
मधुवदाहरणं यत्तन्माधुकरमिति स्मृतम् ॥

अनियत तीन पांच, अथवा सात घरों से भ्रमरवत् थोड़ा थोड़ा अन्न ग्रहण करना उसका नाम माधुकरी वृत्ति है ।

माधुकरी के विषय में अत्रि कहते हैं :—

यथामध्वाददानोऽपि, भृङ्गः पुष्पं न बाधते ।
तद्वन्माधुकरीं भिक्षामाददीत गृहाधिपात् ॥

अर्थः—जैसे मधुको ग्रहण करता हुआ भ्रमर पुष्प को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता है, उसी प्रकार गृहपति से भिक्षु भिक्षा ग्रहण करे ।

गार्गीय स्मृति में चतुर्विध संन्यासियों का वर्णन इस प्रकार दिया है ।

त्रिदण्डी सशिखो यस्तु, ब्रह्मसूत्री गृहच्युतः ।
सकृत्पुत्र गृहेऽश्नाति, यो याति स कुटीचरः ॥
कुटीचरस्य रूपेण, ब्रह्मभिक्षो जिताऽऽत्मनः ।
बहूदको स विज्ञेयो, विष्णुजाप परायणः ॥
ब्रह्मसूत्र–शिखाहीन–, कषायाम्बर–दण्डभृत् ।
एक-रात्रिं वसेद् ग्रामे, नगरे च त्रिरात्रिकम् ॥
विप्राणामावसथेषु, विधूमेषु गताग्निषु ।
ब्रह्म–भिक्षां चरेद्धंसः, कुटिकावासमाचरेत् ॥

हंसस्य जायते ज्ञानं, तदा स्यात् परमो हि सः ।
चातुर्वर्ण्य प्रभोक्ता च, स्वेच्छया दण्डभृत्तदा ॥
स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं, नियमाः स्युस्त्रिदण्डिनाम् ।
न तत्परमहंसानामुक्तानामात्मदर्शिनाम् ॥
मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्त शीलता ।
निस्पृहत्वं समत्वं च, सप्तैतान्येक-दण्डिनः ॥

अर्थः—त्रिदण्ड तथा शिखाधारी, यज्ञोपवीत वाला, गृहत्यागी एक बार अपने पुत्र के घर भोजन करने वाला संन्यासी कुटीचर (क) कहलाता है।

कुटीचर के स्वरूप वाला, ब्राह्मणों के यहां भिक्षा करने वाला, आसन को स्थिर रखने वाला, विष्णु का जाप करने में तत्पर रहने वाला संन्यासी बहूदक कहलाता है।

यज्ञोपवीत और शिखा से हीन कषाय वस्त्र तथा दण्ड को धारण करने वाला, ग्राम में एक रात नगर में तीन रात बसने वाला और धूआं तथा अग्नि के शान्त होने पर ब्राह्मणों के घरों से भिक्षा प्राप्त करने वाला संन्यासी हंस नाम से प्रसिद्ध है, जो कुटिया में रहता है।

हंस ही विशिष्ट ज्ञान और वैराग्य प्राप्त होने पर परमहंस कहलाता है, यह चारों वर्णों के यहां से इच्छानुसार भोजन लेता और अपने पास दण्ड रखता है।

त्रिदण्डियों का स्नान त्रिषवण कहा है, और नियम भी त्रिदण्डियों के पालनीय है, सर्व इच्छाओं से निवृत्त आत्मदर्शी परमहंसों के लिए स्नान नियमादि कोई कर्त्तव्य नहीं।

मौन रहना, योगासन करना, योगाभ्यास, सहनशीलता, एकान्त प्रियता, निस्पृहत्व और समभाव ये सप्त एकदण्डी संन्यासी के कर्त्तव्य है।

जैनाचार्य श्री राजशेखर सूरि रचित "षड्दर्शन समुच्चय" में मीमांसक दर्शन की चर्चा करते हुए आचार्य ने उपर्युक्त संन्यासियों का वर्णन किया है। इसमें कुछ विशेषता होने के कारण यहाँ उद्धृत करते हैं—

मीमासकानां चत्वारो, भेदास्तेषु कुटीचरः।
बहूदकश्च हंसश्च, तथा परमहंसकः॥
कुटीचरो मठावासी, यजमानपरिग्रही।
बहूदको नदीतीरें, स्नातो नैरस्य भैक्ष्यभुक्॥
हंसो भ्रमति देशेषु, तपः शोषित विग्रहः।
यः स्यत् परमहंसस्तु, तस्याचारं वदाम्यहम्॥
स ईशानीं दिशं गच्छन्, यत्र निष्ठितशक्तिकः।
तत्रानशनमादत्ते, वेदान्तध्यान तत्परः॥

अर्थ:—मीमांसा दर्शन को मानने वाले सन्न्यासी चार प्रकार के होते हैं कुटीचर (क), बहूदक, हंस और परम हंस।

कुटीचर मठ में रहता है और यजमानों का परिग्रह रखता है ।

बहूदक नदी के तट पर रहता है और नीरस भिक्षा का भोजन करता है ।

हंस देशों में भ्रमण करता है, और तप से शरीर का दमन करता है ।

जो परम हंस सन्न्यासी होता है उस का आचार अब कहता हूँ, परमहंस ईशानी दिशा को सम्मुख रख के गमन किया करता है और जहाँ शरीर थक जाय वहाँ प्रायः उपवेशन कर के ब्रह्मचिन्तन करता हुआ समाधि में लीन होता है ।

टिप्पणी—षड्दर्शन समुच्चयकार राजशेखर सूरी ने चार सन्यासियों का जो वर्णन दिया है उस में पहला सन्यासी कुटीचर कहा है परन्तु वैदिक साहित्य में सर्वत्र कुटीचक यही नाम उपलब्ध होता है । बहूदक नदी तट पर रहता है ये बात स्मृति आदि में नहीं पायी जाती है, और परम हंश को ऐशानी दिशा को लक्ष्य करके चलता रहने की बात भी वैदिकसाहित्य में देखने में नहीं आई फिर भी षड्दर्शन समुच्चयकार ने ये बातें निराधार तो नहीं लिखी होंगी, क्यों कि लेखक दर्शन शास्त्र के प्रखर विद्वान् थे । इससे अनुमान होता है कि इन्होंने भिन्न भिन्न कासांप्रदायिक ग्रंथों के आधार से लिखी होंगी ।

दो प्रकार के संन्यासी

सन्न्यासियों के ऊपर जो चार प्रकार बताये गये हैं, वे सभी

मीमांसक दर्शनानुयायी और नारायण को अपना इष्ट देव मानने वाले हैं। इनका जाप मन्त्र "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" यह है। इनको नमस्कार करने वाले "नमो नारायणाय" यह बोलते हुए नमस्कार करते हैं। उसके प्रत्युत्तर में वे "नारायणाय नमः" यह पद बोल कर उसका स्वीकार करते हैं। इन नारायण भक्तों में त्रिदण्डी और एक दण्डी दोनों प्रकार के सन्न्यासी होते हैं।

शैव संन्यासी

मीमांसक दर्शनानुयायी संन्यासी जैसे नारायण के भक्त हैं, वैसे ही योग, वैशेषिक, आत्तपादिक, दर्शनों के अनुयायी संन्यासी शिव को अपना आराध्य देव मानते हैं,

और "ॐ नमः शिवाय" इस षडक्षर मन्त्र का जाप करते हैं। ये कोपीन लगाते है कई नंगे भी रहते हैं।

इस प्रकार दर्शन विभाग के अनुसार संन्यासियों का द्वैविध्य होता है, और त्रिदण्डी एक दण्डी के भेद से भी वे दो प्रकार के होते हैं।

दर्शन के लिहाज से सांख्य दर्शन के अनुयायी संन्यासियों का एक तीसरा विभाग है, जो सब से प्राचीन माना जाता है। सांख्य संन्यासी पचीस तत्वों का मानने वाले हैं। अतिपूर्व काल में ये वेदों को और ईश्वर को नहीं मानते थे। इसी कारण से

प्राचीन लेखकों ने इन्हें निरीश्वरवादी कहा है। बादमें इनमें से योग सम्प्रदाय निरीश्वरवादी और ईश्वरवादी इन दो भागों में बंट गया।

सांख्यदर्शन के अनुयायी आज मौलिक रूप से कितने दूर गये हैं यह कहना तो कठिन है, परन्तु इतना निश्चित है कि संन्यासियों का यह सम्प्रदाय सब से प्राचीन है, और वेदकाल में भी इसका अस्तित्व था, इस बात में कोई शङ्का नहीं है।

संन्यासियों के दश नाम

सम्प्रदाय को जानने वाले नीचे लिखे संन्यासियों के दश नाम बताते हैं।

तीर्थाश्रमवनारण्य, गिरिपर्वत-सागराः।
सरस्वती भारती च, पुरी नामानि वै दश॥

अर्थः—तीर्थ, आश्रम वन, अरण्य, गिरि पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी ये शब्द संन्यासियों के नाम के अन्त में रक्खे जाते हैं।

जैसे:—श्री पुरुषोत्तम तीर्थ, श्री राजराजेश्वराश्रम इत्यादि।

संन्यासी के वस्त्र

वैदिक सन्न्यासी के वस्त्र पात्र के सम्बन्ध में भी कुछ लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है। उपनिषत् काल में परिव्राजक

के वस्त्र कैसे होते थे, और बाद में उनमें क्या परिवर्त्तन हुआ इस बात का श्रुति स्मृति के प्रमाणों से विचार करेंगे।

अथपरिव्राड् विवर्णवासा:

इस जाबालोपनिषद् वाक्य से यह प्रतीत होता है कि पूर्व-काल में परिव्राजक के वस्त्र वर्णहीन अर्थात् स्वाभाविक श्वेत रहने होंगे, परन्तु पिछली स्मृतियों में तथा धर्मशास्त्रों में संन्यासी का वस्त्र गेरूआ होना चाहिये ऐसा प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं किंतु कहीं-कहीं तो श्वेत वस्त्रों को यति के षट्पतनों में एक कारण मान लिया गया है।

बुद्ध तथा उनके भिक्षु काषायवर्ण के वस्त्र रखते थे, इससे यह तो निश्चित है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले भी संन्यासी भगवा वस्त्र रखते थे।

जैन सूत्रों में भी त्रिदण्डी संन्यासी काषाय रंग के वस्त्र रखते थे, ऐसे उल्लेख स्थान स्थान पर मिलते हैं। इससे वैदिक संन्यासियों के वस्त्र गेरूआ रंग के होते थे इसमें दो मत नहीं हो सकते, तब "परिव्राड् विवर्णवासा:" इस वाक्य का वास्तविक अर्थ क्या हो सकता है, इसका विद्वानों को विचार करना चाहिए। श्वेतवस्त्र रखने पर वैदिक यति का पतन होने का लिखा है इसका भी कोई गूढ कारण होना चाहिए। वैदिक सम्प्रदाय में ऐसा तो कोई परिव्राजक सम्प्रदाय नहीं रहा है जो श्वेत-वस्त्र की हिमायत करता हो और उसके उत्तर में यति के पतन कारणों में

श्वेत वस्त्र को भी दाखिल कर दिया हो। यतिधर्म समुच्चय में निम्न लिखे हुए चार प्रकार के वस्त्र ग्रहण करने की धर्मज्ञ संन्यासी को आज्ञा दी गई है। जैसे-

क्षौमं शाणमयं वापि, वासः कांसेच कौशिकम्।
अजिनं चापि धर्मज्ञः, साधुम्यस्तान पीड़यन्॥

अर्थः—क्षौम (अलसी के रेशों से बना हुआ वस्त्र) शाणमय (शण-जूट के रेशों से बना हुआ) रेशमी वस्त्र और और अजिन मृगचर्म आदि का वस्त्र, इन चार प्रकार के वस्त्रों में से जिसकी आवश्यकता हो उसको धर्मज्ञ संन्यासी सज्जन पुरुषों से उनको दुःख न पहुंचा कर प्राप्त करे।

कात्यायन स्मृतिकार का विधान उक्त विधान से विरुद्ध पड़ता है। वे लिखते हैं कि:-

ऊर्णा केशोद्भवा ज्ञेया, मलकीटोद्भवः पटः।
कस्तूरीं रोचनं रक्तं, वर्जयेदात्मवान् यतिः॥
हिंसोद्भवं पट्टमूलं, कस्तूरी रोचना तथा।
प्राण्यङ्गश्च तथोर्णा च, यतीनां पतनं ध्रुवम्॥
वस्त्रं कार्पासजं ग्राह्यं, काषायुक्तमयाचितम्।
अन्यद् वस्त्रादिकं सर्वं, त्यजन्मूत्र पुरीषवत्॥

अर्थः—ऊनी वस्त्रों केशों से उत्पन्न होता है, और रेशमी वस्त्र कीटों के मल से उत्पन्न होता है, इसलिये आत्मार्थी यति

उक्त वस्त्रों को, कस्तूरी को, गोरोचना तथा रक्तरञ्जित को वर्जित करे, पट्टकूल वस्त्र कस्तूरी तथा रोचना ये सभी हिंसा से उत्पन्न होते हैं और ऊर्णा भी प्राग्ययुक्त है। इसलिये इनको ग्रहण करने से यतियों का पतन होता है, अतः यति को केवल कार्पासवस्त्र काषाययुक्त ही अयाचित मिले तो ग्रहण करना उचित है, इसके अतिरिक्त उक्त वस्त्रादि को मलमूत्र की तरह त्याग दें।

आविक वस्त्र (ऊनी वस्त्र) को मनुजी भी संन्यासी के लिये निषेध करते हैं।

आविकं त्वधिकं वस्त्रं, तूलीं तूलपटीं तथा।
प्रतिगृह्य यतिश्चैतान्, पतते नात्र संशयः॥

अर्थः—ऊनी वस्त्र, आवश्कता से अधिक वस्त्र, तूली (गद्दी) तूलपटी (रेशमी चद्दर) इनको ग्रहण करके यति तत्काल पतित हो जाता है।

यति धर्म समुच्चय में निम्न प्रकार के पादत्राण रखने की व्यवस्था दी गई है।

उपानहौ गृहीतव्ये, कार्पासमयमप्युत।
ऊर्णातारोद्भवं वाऽपि, यद्वाऽन्यत्स्यादयाचितम्॥

अर्थः—संन्यासी सूत्रमय, ऊर्णामय, अथवा इसी प्रकार की अन्य जूतियाँ बिना मांगे मिले तो ग्रहण कर सकता है।

संन्यासियों के पात्र

संन्यासी के पात्र सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य लिखते हैं।

यति पात्राणि मृद्वेणु, दार्वलाबुमयानि च।
सलिलं शुद्धिरित्येषां, गोवालैश्चावघर्षणम् ॥

अर्थः—संन्यासियों के पात्र मिट्टी, बांस, लकड़ी, तुम्बे के होते हैं, और इनकी शुद्धि जल से धोकर गोवालों के घिसने से होती है।

पात्र के विषय में और भी निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं।

अतैजसानि पात्राणि, भिक्षार्थं कृतवान् मनुः।

× × × ×

सर्वेषामेव भिक्षूणां, दार्वलाबुमयानि च।

× × × ×

अर्थः—मनुजी ने भिक्षुओं के भिक्षापात्र अतैजस अर्थात् धातु वर्जित पदार्थ के नियत किये हैं।

सर्व प्रकार के भिक्षुओं के भिक्षा पात्र लकडी के तथा तुम्बे के होने चाहिए।

वर्जित भिक्षा पात्र

सौवर्णायसताम्रेषु, कांस्यरेप्यमयेषु च।
भिक्षदातुर्न धर्मोऽस्ति, भिक्षुर्भुङ्क्ते तु किल्विषम् ॥१४॥

न च कांस्येषु भुञ्जीयादापद्यपि कदाचन ।
मलाशा सर्व एवैते, यतयः कांस्यभोजिनः ॥१५४॥

अर्थः—अत्रि स्मृतिकार कहते हैं—सोने के, लोहे के, ताम्बे के, कांशे के और रजत के पात्र में भिक्षा देना गृहस्थ का धर्म नहीं है और ऐसे पात्रों में भोजन करने वाला भिक्षु मलिन पदार्थ का भोजन करता है ।

यति को आपत्काल में भी कांस्यपात्र में भोजन नहीं करना चाहिये, जो यति कांस्यपात्र में भोजन करते हैं, वे स विष्ठा काय भोजन करते हैं ।

इस विषय में दूसरों का यह मत है—

सौवर्णायसताम्रेषु, कांस्यरैप्यमयेषु च ।
भुञ्जन् भिक्षुर्न दुष्येत, दुष्येच्चैव परिग्रहे ॥१५६॥

अर्थः—सौवर्ण, लौह, ताम्र कांस्य और रौप्यमय पात्र में भोजन करने मात्र से भिक्षु दोषी नहीं होता किन्तु इन पात्रों में से किसी को भी स्वीकार करने पर वह दोषी माना जा सकता है ।

भिक्षु को कितने पात्र रखना चाहिये इस विषय में जाबाल स्मृतिकार कहते हैं:—

एकपात्रं तु भिक्षूणां, निर्दिष्टं फलमुत्तमम् ।
नैष दोषो द्विपात्रेण, अशक्तौ व्याधिपीडिते ॥

अर्थः—भिक्षुओं को प्रति व्यक्ति एक एक पात्र रखना उत्तम है, परन्तु अशक्तावस्था में अथवा व्याधि से पीडित होने पर दो पात्र रखने पर भी दोष नहीं है ।

भिक्षाटन काल भिक्षाग्रहण योग्य कुल

भिक्षु को किस समय भिक्षाटन करना चाहिये इस विषय में कण्व कहते हैं।

विधूमे सन्नमुशले, व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
कालेऽपराह्णे भूयिष्ठे, भिक्षाटनमथाचरेत् ॥

अर्थः—बस्ती में धूआँ निकलना बन्द हो जाय, मुशल खड़ा कर दिया जाय, अङ्गार निस्तेज हो जाय, लोक भोजन कर चुकें और अपराह्ण समय लगने पर भिक्षु भिक्षाचर्या को निकले।

मनुजी कहते हैं यति एक बार ही भिक्षाटन करे।

एककालं चरेद् भैक्षं, न प्रसज्येत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि, यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥

अर्थः—यति एक बार ही भिक्षा भ्रमण करे अधिक नहीं, जो भिक्षा के विस्तार में लगता है वह कालान्तर में विषयासक्ति में भी फँस जाता है।

इस विषय में वसिष्ठ स्मृतिकार का कथन यह है—

"ब्राह्मणकुले वा यल्लभेत् तद् भुञ्जीत सायं मधुमांससर्पिः परिवर्जम्"

अर्थः—ब्राह्मण कुल में जो मिले उसीका भोजन करले, मधु, मांस, घृत को भोजन में कदापि ग्रहण न करे।

यद्यपि उपर्युक्त उल्लेख में ब्राह्मण कुल का निर्देश किया गया है तथापि श्रुति के "चतुर्षु वर्णेषु भैक्षचर्यं चरेत्" इस

वाक्य से सिद्ध होता है कि पहले संन्यासी चारों वर्णों में भिक्षा ग्रहण करते थे।

भिक्षाकुल के सम्बन्ध में विश्वामित्र कहते हैं।

मत्स्यमांसादि बहुलं, यद्गृहे पच्यते भृशम्।
तद् गृहं वर्जयेद् भिक्षु, यदि भिक्षां समाचरेत्॥

अर्थः—जिस घर में मत्स्य मांस आदि बार बार पकाया जाता हो उस घर को छोड़ कर भिक्षु भिक्षा ग्रहण करे।

अत्रि कहते हैं :—

अनिन्द्यं वै व्रजेद् गेहं, निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत्।
अनावृते विशेद्द्वारि, गेहे नैवावृते व्रजेत्॥
न वीक्षेद् द्वाररन्ध्रेण, भिक्षां लिप्सुः क्वचिद् यतिः।
न कुर्याद् वै क्वचिद्, घोषं न द्वारं ताड़येत् क्वचित्॥

अर्थ—भिक्षाटन अनिन्द्य घरों में करना और निन्द्यघरों का त्याग करना, जिसका द्वार खुला हो उस घर में जाना बन्द घर में (द्वार खोल कर) नहीं जाना, भिक्षार्थी भिक्षु द्वार रन्ध्र से न देखे, न आवाज दे, न द्वार को खट खटाये।

अत्रि कहते हैं—

श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत्, श्रद्धा भक्ति-बहिष्कृतम्।
व्रात्यस्यापि गृहे भिक्षेत्, श्रद्धाभक्ति पुरस्कृतम्॥

अर्थ—श्रद्धा भक्ति रहित श्रोत्रिय का अन्न भी भिक्षा में न लें, और श्रद्धाभक्ति पूर्वक दिया जाने वाला व्रात्य का अन्न भी ग्रहण किया जा सकता है।

मेधा तिथि कहते हैं—

द्विजाभावे तु सम्प्राप्ते, उपवासत्रये गते।
भैक्षं शूद्रादपि ग्राह्यं, रक्षेत् प्राणान् द्विजोत्तमः॥

अर्थः—ब्राह्मण कुल की अप्राप्ति में भिक्षा बिना तीन उपवास हो जाने पर द्विज सन्यासी को अपवाद से शूद्र के घर से भी भिक्षा ग्रहण करने का अधिकार है।

भैक्ष्यान्न

उशना के मत से संयासियों का भिक्षान्न पांच प्रकार का होता है। जो नीचे बताया जाता है—

माधुकरमसंक्लृप्तं, प्राक्प्रणीतमयाचितम्।
तात्कालिकं चोपपन्नं, भैक्ष्यं पञ्चविधं स्मृतम्॥

अर्थ—माधुकर अर्थात् असंकल्पित तीन पांच सात घर से थोड़ा थोड़ा लेकर इकट्ठा किया हुआ भिक्षान्न माधुकर कहलाता है, असंक्लृप्त अर्थात् भिक्षा को देने के संकल्प से न बना हो वह अन्न, प्राक् प्रणीत अर्थात् भिक्षा के लिये जाने वाले के पूर्व तैयार किया हुआ अन्न, बगैर मांगे मिला अन्न, और तात्कालिक अर्थात् भिक्षु के जाने के बाद तैयार किया हुआ अन्न, ये भिक्षान्न के पांच प्रकार हैं। इनमें से सर्वोत्तम माधुकर और सर्व कनिष्ठ तात्कालिक भिक्षान्न को समझना चाहिए।

भिक्षा पंच विधा ह्येता, सोमपान समाः स्मृताः ।
तासामेकतमयाऽपि, वर्त्तयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥

अर्थ—यह पांच प्रकार की भिक्षा यज्ञ में सोमपान की तरह उपादेय है, इनमें से किसी भी एक भिक्षा से अपनी जीविका चलाता हुआ भिक्षु सिद्धि प्राप्त करता है।

हेय भिक्षान्न

क्रतु कहते हैं—

एकान्नं मधुमासञ्च, अन्नं विष्ठादि दूषितम् ।
हन्तकारं च नैवेद्यं, प्रत्यक्षं लवणं तथा ॥
एतान् भुक्त्वा यति मोहात्, प्राजापत्यं समाचरेत् ।

अर्थ—एक घर का अन्न, मधु मांस, विष्ठादि के सम्पर्क से दूषित अन्न. बिना भाव से दिया हुआ अन्न, नैवेद्य और लवण मोह के वश इस प्रकार के भिक्षान्न का भोजन करके भिक्षुक प्राजापत्य प्रायश्चित करे।

पाराशर कहते हैं—

यतीनामातुराणां तु, वृद्धानां दीर्घरोगिणाम् ।
एकान्नेन न दोषोऽस्ति, एकस्यैव दिने दिने ॥

अर्थ—बिमार, वृद्ध, लम्बी बिमारी वाले, यति को एकान्न ग्रहण करने में भी दोष नहीं है।

क्रतु कहते हैं—

सुजीर्णोऽतिकृशो योगी, दशान्तो विकलेन्द्रियः ।
पुत्र–मित्र–गुरु–भ्रातृ–पत्नीभ्यो भैक्ष–माहरेत् ॥

अर्थ—अतिवृद्ध, अतिदुर्बल, अन्तिम दशा प्राप्त और विकलेन्द्रिय योगी, पुत्र, मित्र, गुरू, भाई, और पत्नी से भिक्षा ग्रहण करे।

अत्रि कहते हैं—

आयसेन तु पात्रेण, यदन्नमुपदीयते ।
भोक्ता विष्ठा समं भुंक्ते, दाता च नरकं व्रजेत् ॥

अर्थ—लोहे के पात्र से दिया गया अन्न खाने वाला विष्ठा खाता है, दाता नरक में जाता है ।

विष्णु कहते हैं—

भैक्षं यवागू तक्रं वा, पयो यावकमेव च ।
फलं मूलं विपक्वं वा, कणपिण्याकसक्तवः ॥
इत्येते वै शुभाहारा, योगिनः सिद्धिकारकाः ।
त्वङ्मूल पत्र पुष्पाणि, ग्राम्यारण्य फलानि च ॥
कणयावक पिण्याक, शाक तक्र पयो दधि ।
भिक्षां सर्वरसोपेतां, हिंसावर्जं समाश्नन् ॥

अर्थ—यवागू, छछ, दूध, यावक (यवों से बना हुआ खाद्य पदार्थ) पका फल तथा मूल कण (सेका हुआ चणा आदि धान्य) पिण्याक (तिल्ली की खली) सातू ये सब योगियों के लिये सिद्धि कारक शुभाहार कहे गये हैं ।

कण (सेका हुआ दाना), यावक (यव से बना खाद्य), पिण्याक (तिलों की खली), शाक, छांछ, दूध, दही इत्यादि हिंसा वर्जित सर्वरसोपेत भिक्षा को ग्रहण करे।

यति धर्म समुच्चय में कहा गया है—

विष्णोर्नैवेद्य-संशुद्धं, मुनिभिर्भोज्यमुच्यते।
अन्य देवस्य नैवेद्यं, भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

अर्थ—विष्णु के नैवेद्य से पवित्र बना अन्न मुनियों के ग्रहण करने योग्य होता है, यदि अन्य देव का नैवेद्य खाने में आजाय तो चान्द्रायण तप से प्रायश्चित्त करे।

मनु कहते हैं—

न चोत्पात-निमित्ताभ्यां, न नक्षत्राङ्ग-विद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां, भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्॥

अर्थ—निमित्त तथा उत्पातों के फल कथन द्वारा, नक्षत्र विद्या के प्रयोग से, अङ्गविद्या के प्रयोग से अनुशासन (आज्ञा) करके और वाद विवाद कर कभी भिक्षा प्राप्त न करे।

विष्णु कहते हैं—

यदि भैक्षं समादाय, पर्युषेद् योगवित्तमः।
स पर्युषितदोषेण, भिक्षुर्भवति वैकृमिः॥

अर्थ—यदि भिक्षा लाकर योगी उसे बासी रख ले, वह भिक्षु भिक्षा बासी रखने के दोष से कृमि का भव पाता है।

अत्रि कहते हैं—

या तु पर्युषिता भिक्षा, नैवेद्यादिषु कल्पिता ।
तामभोज्यां विजानीयात्, दाता च नरकं व्रजेत् ॥

अर्थ—नैवेद्य आदि के रूप में परिकल्पित बासी अन्न की भिक्षा) भिक्षु के लिये अभोज्य समझना चाहिए, तथा उस भिक्षा को देने वाला नरक गामी बनता है ।

यम कहते हैं—

यदि पर्युषितं भैक्ष्यमद्याद् भिक्षुः कथञ्चन ।
तदा चान्द्रायणं कुर्यात् यतिः शुद्ध्यर्थमात्मनः ॥

अर्थ—यदि किसी भी कारण से भिक्षु पर्युषित भैक्ष्यान्न खाले तो उसकी पाप शुद्धि के लिये चान्द्रायण व्रत करे ।

वसिष्ठ स्मृति में कहा गया है—

अलाभे न विषादी स्यात् लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद् विनिर्गतः ॥

अर्थ—त्यागी संन्यासी भिक्षा की अप्राप्ति में खेद और प्राप्ति में हर्ष न करे, प्राणयात्रा के प्रमाण में भिक्षा की मात्रा ग्रहण करे ।

आपस्तम्ब कहते हैं—

श्राद्ध-भोजी यतिर्नित्यमाशु गच्छति शूद्रताम् ।
तादृशं कल्मषं दृष्ट्वा, सचलो जलमाविशेत् ॥

अर्थ—श्राद्धान्न खाने वाला संयासी जल्दी शूद्रपन को प्राप्त होता है, वैसा पाप कार्य देखकर उसे सचल स्नान करना चाहिए ।

इस विषय में जैमिनि कहते हैं—

श्राद्धान्नं यस्य कुक्षौ तु, मुहूर्त्तमपि वर्त्तते ।
भिक्षोश्चत्वारि नश्यन्ति, आयुः प्रज्ञा यशो बलम् ॥

अर्थ—जिस भिक्षु के पेट में मुहूर्त्तभर भी श्राद्धान्न रहता है, उस भिक्षु के आयुष्य, बुद्धि, यश और बल का नाश होता है ।

इस विषय में बृहस्पति का मन्तव्य निम्नोक्त प्रकार से है ।

श्रवणं मननं ध्यानं, ज्ञानं स्वाध्याय एव च ।
सद्यो निष्फलतां याति, सकृच्छ्राद्धान्न भोजनात् ॥

अर्थ—संन्यासी के श्रवण, मनन, ध्यान, ज्ञान, स्वाध्याय सब एकबार भी श्राद्धान्न भोजन से तत्काल निष्फल हो जाते हैं ।

संन्यासी को एकान्न भक्षण नहीं करना चाहिए । इस विषय में बृहस्पति कहते हैं—

चरन्माधुकरीं वृत्तिं, यतिर्म्लेच्छकुलादपि ।
एकान्नं तु न भुञ्जीत, बृहस्पतिसमादपि ॥

अर्थ—यति माधुकरी वृत्ति से नीच कुल से भी भिक्षान्न प्राप्त कर ले परन्तु बृहस्पति के समान उच्च कुल से भी एकान्न ग्रहण नहीं करे ।

संन्यासी का भोजन प्रकार

संन्यासी के भोजन परिमाण के सम्बन्ध में यमस्मृतिकार कहते हैं—

अष्टौ ग्रासा मुनेः प्रोक्ता, षोडशारण्यवासिनः ।
द्वात्रिंशच्च गृहस्थस्य, यथेष्टं ब्रह्मचारिणः ॥

अर्थ—मुनि को आठ ग्रास प्रमाण भोजन कहा है, वानप्रस्थ को सोलह प्रमाण, गृहस्थ को बत्तीस कवल भोजन और ब्रह्मचारी को यथेष्ट भोजन करने का अधिकार है।

अत्रि कहते हैं—

हितं मितं सदाऽश्नीयाद्, यत्सुखेनैव जीर्यते ।
धातुः प्रकुप्यते येन, तदन्नं वर्जयेद् यतिः ॥

अर्थ—यति को हितकर परिमित, सुख से जो पाचन हो वैसा भोजन करे जिस भोजन से धातु प्रकुपित हो वैसा भोजन भिक्षु कदापि न करे।

कण्व कहते हैं—

अब्बिन्दुं यः कुशाग्रेण, मासि मासि समश्नुते ।
निरपेक्षस्तु भिक्षाशी, स तु तस्माद् विशिष्यते ॥

अर्थ—जो भिक्षु प्रतिमास कुश के अग्रभाग पर रहे हुए जल-बिन्दु समान भोजन लेता है, उस तपस्वी भिक्षु से निरपेक्ष (अकृताऽकारिताऽऽदि भिक्षाऽन्न) खाने वाला भिक्षु विशेष तपस्वी होता है।

आश्वलायन कहते हैं—

विनांगुष्ठेन नाश्नीयान्न, लिहेज्जिह्वया करम् ।
अश्नन् यदि लिहेद्, धस्तं तदा चान्द्रायणं चरेत् ॥

अथ—सन्यासी अंगुष्ठ के बिना केवल अंगुलियों से भोजन न करे, न जीभ से हाथ को चाटे, भोजन करता हुआ यदि हाथ को चाट जाय तब चान्द्रायण व्रत से प्रायश्चित्त करे.

संन्यासी को वर्जित कार्य

मेधातिथि कहते हैं—

आसनं पात्रलोपश्च, संचयः शिष्य-संग्रहः ।
दिवास्वापो वृथालापो, यतेर्बन्धकराणि षट् ॥

अर्थ—किसी स्थान में सदा के लिये आसन स्थापित करना, योग्य अधिकारी को छोडकर अयोग्य व्यक्ति को किसी पद पर नियुक्त करना, परिग्रह (इकट्ठा करना), शिष्य समुदाय बढाना, दिन में सोना, निरर्थक भाषण करना ये छः बातें यति के लिये कर्मबन्ध कराने वाली हैं।

मेधातिथि कहते हैं—

स्थावरं जङ्गमं बीजं, तैजसं विषमायुधम् ।
षडेतानि न गृह्णीयाद् यतिर्मूत्र पुरीषवत् ॥
रसायन क्रियावादो, ज्योतिषं क्रय विक्रयम् ।
विविधानि च शिल्पानि, वर्जयेत्परदारवत् ॥

अर्थ—स्थावर, जङ्गम, धन, धान्य, सुवर्ण रूप्यादि धातु, जहर शस्त्र संन्यासी इन छः वस्तुओं को मल मूत्र की तरह ग्रहण न करे।

रसायन क्रिया, वाद विवाद, ज्योतिषशास्त्र, क्रय विक्रय, अनेक प्रकार के शिल्प, यति इनको परस्त्री की तरह वर्जित करे।

अत्रि कहते हैं—

पक्वं वा यदि वाऽपक्वं, पाचयेद् यः क्वचिद् यतिः ।
स्वधर्मस्य तु लोपेन, तिर्यग्योनिं व्रजेत् यतिः ॥

अर्थ—जो यति पके हुए अथवा कच्चे खाद्य पदार्थ को पकाता है, वह अपने धर्म का लोप करके तिर्यञ्चगति को प्राप्त होता है।

जाबाल कहते हैं—

अन्न-दान-परो भिक्षु, र्वस्त्रादीनां परिग्रही ।
उभौ तौ मन्दबुद्धित्वात्, पूतिनरक-शायिनौ ॥

अर्थः—भिक्षान्न में से दूसरों को दान करने वाला और वस्त्रादि का परिग्रह रखने वाला ए दोनों मन्दबुद्धि भिक्षु पूति नरक में जाकर सोते हैं।

बहवृच परिशिष्ट में लिखा है—

अन्नदान परो भिक्षु, श्चतुरो हन्ति दानतः ।
दातारमन्नमात्मानं, यस्मै चान्नं प्रयच्छति ॥

अर्थः—भिक्षान्न में से अन्नदान करने वाला भिक्षु चार का नाश करता है, भैक्ष्य देने वाले का, अन्न का, अपना तथा अन्न लेने वाले का।

क्रतु कहते हैं—

दासी दासं गृहं यानं, गोभूधान्यधनं रसान् ।
प्रतिगृह्य यतिर्ग्रामं, हन्यात्कुलशतत्रयम् ॥

आविकं पट्टिकां मांसं, तूलिकां मञ्चकं मधु ।
शुक्लवस्त्रं च यानं च, ताम्बूलं स्त्रियमेव च ॥
प्रतिगृह्य कुलं हन्यात्, प्रतिगृह्णाति यस्य च ।
पुष्पं शाखां पल्लवं वा, फल मूल तृणादिकम् ॥
भुक्त्वा च यस्तु सन्यासी, नरके पतति ध्रुवम् ।

अर्थः—दासी, दास घर, वाहन, गाय, भूमि, धान्यधन (द्रव्य) रस और गांव इन पदार्थों में से किसी का भी दान स्वीकार कर यति तीन सौ कुलों का नाश करता है।

ऊनीवस्त्र, पट्टिका, मांस, गद्दी, मंच, शहद, श्वेतवस्त्र, वाहन, ताम्बूल, और स्त्री इनको ग्रहण करके अपने तथा दाता के कुल का नाश करता है।

फूल वृक्षशाखा, पत्र, फल, मूल और तृण आदि वस्तुओं को खाकर संन्यासी नरकगामी बनता है।

अत्रि कहते हैं—

संन्यासी का स्थिति नियम

भिक्षार्थं प्रविशेद् ग्रामं, वासार्थं वा दिनत्रयम् ।
एकरात्रं वसेद् ग्रामे, पट्टने तु दिनत्रयम् ॥
पुरे दिनद्वयं भिक्षु, नगरे पञ्चरात्रकम् ।
वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत, स्थाने पुण्यजलाप्लुते ॥
आत्मवत् सर्वभूतानि, पश्यन् भिक्षुश्चरेन्महीम् ।
अन्धवत्कुब्जवच्चापि, बधिरोन्मत्तमूकवत् ॥

नामगोत्रादि चरणं, देशं वासं श्रुतं कुलम् ।
वयोवृत्तं व्रतं शीलं, ख्यापयेन्नैव सद्यतिः ॥

अर्थः—भिक्षा के लिये अथवा रहने के लिये बस्ती में प्रवेश करे और तीन दिन तक रहे. छोटे गांव में एक दिन, शहर में तीन दिन, कसबे में दो दिन, बड़े नगर में पांच दिन और वर्षा काल में वर्षावासार्थ पवित्र जल वाला योग्य स्थान देखकर चार मास ठहरे ।

यति सर्व प्राणियों को निजात्म समान देखता हुआ पृथिवी पर चले, चलते समय अन्धवत् नीचे देखता हुआ, कुब्ज की तरह शिर को आगे नमाये हुए बधिर उन्मत्त मूक की तरह किसी तरफ ध्यान न देता हुआ, किसी से भाषण न करता हुआ और अपने आत्मानन्द में मस्त हुआ चले ।

उत्तम भिक्षु अपने नाम, गोत्र, उत्तम आचरण, देश, निवास स्थान, ज्ञान, कुल, अवस्था, वृत्तान्त, व्रत और शील इत्यादि बातों को लोगों के आगे प्रकाशित न करे ।

यम कहते हैं—

जले जीवा स्थले जीवा, आकाशे जीवमालिनी ।
जीव माला कुले लोके, वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥

अर्थः—वर्षाकाल में जल में तथा स्थल में जीव अधिक होते है, और आकाश तो जीवों से व्याप्त ही रहता है, इस प्रकार जीव समूह भरे हुए लोक में एक संन्यासी के लिये वर्षाकाल में एक स्थान पर रहना ही हितकर है ।

मेधातिथी कहते हैं—

यावद् वर्षत्यकालेऽपि, यावत्क्लिन्ना च मेदिनी ।
तावन्न विचरेद् भिक्षुः, स्वधर्मं परिपालयन् ॥
कक्षोपस्थशिखावर्ज–मृतु सन्धिषु वापयेत् ।
न त्रीनृतूनतिक्रामेन्न, भिक्षुः संचरेत् क्वचित् ॥

अर्थ—वर्षाकाल व्यतीत हो जाने पर भी जब तक वृष्टि चालू हो और जब तक पृथ्वी जल से भीगी हो तब तक भिक्षु विहार न करे और अपने वर्षा वास के नियम का पालन करे ।

कक्ष तथा गुह्यभाग को छोड़कर मुंह तथा शिर के बालों का दो दो महीने पर वपन कराना चाहिए, कदापि प्रति ऋतु वपन न हो तो छः महीना को तो अतिक्रमण न करे ।

वर्षावास स्थिति के सम्बन्ध में अत्रि कहते हैं—

प्रायेण प्रावृषि प्राणिसंकुलं वर्त्म दृश्यते ।
आषाढ्यादि चतुर्मासं, कार्तिक्यन्तं तु संवसेत् ॥

अर्थ—बहुधा वर्षा ऋतु में मार्ग जीवों से संकुल देखे जाते हैं, अतः संन्यासी को आषाढी पूर्णिमा से लेकर कार्तिक तक चार महीना एक स्थान में वास करना चाहिए ।

दक्ष कहते हैं—

कथाचारे खले सार्थे, पुरे गोष्ठे त्वसद् गृहे ।
निवसेन्न यतिः षट्सु, स्थानेष्वेतेषु कर्हिचित् ॥

अर्थ—ग्रामजनों के समागम स्थान, खल (धान मलने के स्थान) अनेक मनुष्यों के रहने का स्थान, बड़ा शहर, गोव्रज, और दुर्जन मनुष्य का मकान इन छः प्रकार के स्थानों में भिक्षु को वर्षा वास की स्थिति नहीं करना चाहिए।

आपज्जनक स्थान से वर्षाकाल में भी भिक्षु को विहार कर देना चाहिए। इस विषय में वृद्ध याज्ञवल्क्य कहते हैं—

चौरैरुपद्रुतं देशं, दुर्भिक्षं व्याधि-पीड़ितम्।
चक्रान्येन च संक्रान्तं, वर्षास्वप्याशु तं त्यजेत्॥

अर्थ—चोरों के उपद्रव वाले, दुर्भिक्ष वाले, व्याधि पीड़ित शत्रु सैन्य से घेरे हुए देश को वर्षाकाल में भी छोड़ दे।

संन्यासी की अहिंसकता

जमदग्नि कहते हैं—

कृकलाशे क्षीरगले, मण्डूके गृह-गोधिके।
कुक्कुटादिषु भूतेषु, दशाहं चार्ध भोजनम्॥
मार्जारे मूषके सर्पे, स्थूलमत्स्येषु पक्षिषु।
नकुलादिषु भूतेषु, चरेच्चान्द्रायणं व्रतम्॥
पिपीलिकायां सूक्ष्मायां, प्राणायामास्त्रयस्त्रयः॥
यूकायां मत्कुणे चैव, मशके पञ्च निर्दिशेत्।
मूलांकुरेषु पत्रेषु, पुष्पेषु च फलेषु च॥
स्थावराणां चोपभेदे, प्राणायामास्त्रयस्त्रयः॥

धान्यं वृक्षं लतां यस्तु, स्थावरं जङ्गमं तथा।
उत्पाटयति मूढात्मा, अवीची नरकं व्रजेत् ॥
अकामादपि हिंसेत, पशून् मृगादिकान् यतिः।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत, चान्द्रायणमथाऽपि वा ॥

अर्थ—गिरगिट, चीरगल, मेंढक, छिपकली, और मुर्गा आदि किसी भी एक प्राणी की हिंसा में प्रायश्चित्त स्वरूप दश दिन तक संन्यासी आधा भोजन करे।

बिल्ली, चूहा, सांप, बड़ा मत्स्य, पक्षी, और नकुल प्राणियों में से किसी की अपने हाथ से हत्या हो जाने पर चान्द्रायणव्रत द्वारा प्रायश्चित्त करे।

छोटी कीटिका की हत्या में तीन तीन, और खटमल, मच्छर इनकी हिंसा में पांच पांच प्राणायाम करके प्रायश्चित्त करे।

मूल, अंकुर, पत्र, पुष्प, फल, और अन्य सभी स्थावर प्राणियों के उपमर्दन में प्रायश्चित्त स्वरूप तीन तीन प्राणायाम करे।

धान्य, वृक्ष, वल्ली, तथा स्थावर, जङ्गम, अन्य प्राणियों को जो मूढ संन्यासी उखाड फेंकता है वह मर कर अवीची नरक में जाता है।

जो यति बिना इच्छा के भी मृग आदि पशुओं की हिंसा करता है, वह कृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र व्रत द्वारा अथवा चान्द्रायण व्रत करके हिंसा का प्रायश्चित्त करे।

संन्यासी का पादविहार

संन्यासी को पैदल विहार करना चाहिए। इसके विपरीत यान वाहन द्वारा भ्रमण करने से प्रायश्चित्त बनना पड़ता है। इस विषय में वायु पुराण में लिखा है—

सामर्थ्ये शिविकामश्वं, गजं वृषभमेव च।
शकटं वा रथं वाऽपि, समारुह्य च कामतः॥
व्रतं सान्तपनं कुर्यात्, प्राणायामशतान्वितम्।
असामर्थ्ये समारुह्य, यानं पूर्वोदितं पुनः॥
कृच्छ्रकं शोधनं तत्र, प्राणायामास्त्वकामतः।

अर्थ—शक्तिमान् होते हुए भी पालकी, घोड़ा, हाथी, बैल, गाड़ी, और रथ इन पर इच्छा से चढ़ कर चले तो सौ प्राणायाम सहित सान्तपन व्रत करे, और अशक्त होने के कारण पूर्वोक्त यान वाहनादि पर इच्छा पूर्वक चढ़े तो एक कृच्छ्र व्रत से प्रायश्चित्त करे और बिना इच्छा के अशक्ति के कारण चढ़ना पड़ा हो तो सौ प्राणायाम द्वारा शुद्धि करे।

संन्यासियों के पतन के कारण

बह्वृच परिशिष्ट में संन्यासी के पतन का कारण निम्नलिखित प्रकार से दिया गया है—

दिवा स्वप्नं च यानं च, स्त्रीकथा लौल्यमेव च।
मञ्चकः शुक्लवासश्च, यतीनां पतनानि षट्॥

अर्थ—दिन में सोना, सवारी पर बैठना, स्त्री कथा करना, भोजन में लोलुपता, चार पाई पर बैठना. और श्वेत वस्त्र ओढना ये छः यतियों के पतन के कारण हैं।

क्रतु कहते हैं—

बीजघ्नं तैजसं पात्रं, शुक्रोत्सर्गं सिताम्बरम्।
निशान्नं च दिवा स्वप्नं, यतीनां पतनानि षट्॥

अर्थ—बीजघ्न (   ) धातु का वर्तन, शुक्रपात, श्वेत वस्त्र, रात्रि भोजन, दिन में सोना ये छः यतियों के पतन के कारण हैं।

अंगिरा कहते हैं—

चत्वारि पतनीयानि, यतीनां मनुरब्रवीत्।
औषधं सन्निधानं च, एकान्नं कांस्य-भोजनम्॥

अर्थ—मनुजी यतियों के पतन के कारण चार कह गये हैं, औषध करना, पास में वासी रखना, एक घर से भोजन लेना, कांसे के पात्र में भोजन करना।

एकान्नी द्विव्रती चैव, भेषजी वस्तु-संग्रही।
चत्वारो नरकं यान्ति, मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

अर्थ—एक घर का अन्न लेने वाला, नियत दो बार खाने वाला, औषधियां रखने वाला, अनेक वस्तुओं का परिग्रह रखने वाला, ऐसे चार प्रकार के संन्यासी नरक में जाते हैं, ऐसा मनु ने कहा है।

कात्यायन कहते हैं—

द्रव्य स्त्री मांस संपर्कान्मधुमाक्षिकलेहनात् ।
विचारस्य परित्यागात्, यतिः पतनमृच्छति ॥

अर्थ—द्रव्य संग्रह से, मांस भक्षण से, स्त्री प्रसङ्ग से, मधु चाटने से और विचार के परिवर्त्तन से यति पतन की तरफ जाता है।

यम कहते हैं—

भिक्षुर्द्विभोजनं कुर्यात्कदाचिद् ग्लान दुर्बलः ।
स्वस्थावस्थो यदा लौल्यात्, तदा चान्द्रायणं चरेत् ॥

अर्थ—बीमार और दुर्बल भिक्षु कदाचित दो बार भोजन करे यदि स्वस्थ होने पर भी रस लालसा से दो बार खाय तो शुद्धि के लिए चान्द्रायण व्रत करे।

संन्यास माहात्म्य

विष्णु कहते हैं :—

एक-रात्रोषितस्यापि, यतेर्या गतिरुच्यते ।
न सा शक्या गृहस्थेन, प्राप्तुं क्रतुशतैरपि ॥

अर्थः—एक दिन भी संन्यास मार्ग में व्यतीत करने वाले संन्यासी की जो गति होती है, वह गृहस्थ सैकड़ों यज्ञों द्वारा भी पा नहीं सकता।

दक्ष कहते हैं:—

त्रिंशत् परां त्रिंशदवरां, स्त्रिंशच्च परतः परम् ।
सद्यः संन्यासनादेव, नरकात् तारयेत् पितॄन् ॥

अर्थः—संन्यास लेने से पुरुष अपने के पहले के तीस कुलों और पीछे के तीस कुलों के, और उनके पीछे के तीस कुलों के पितरों को नरक से तारता है।

जाबाल कहते हैं :—

चतुर्वेदस्तु यो विप्रः, सोमयाजी शतक्रतुः ।
तस्मादपि यतिः श्रेष्ठ–स्तिलपर्वतमन्तरम् ॥

अर्थः—चतुर्वेदी सोमयाजी, और यज्ञ करने वाले ब्राह्मण से भी यति श्रेष्ठ है इन दो का अन्तर तिल पर्वत के समान है।

इस विषय में अङ्गिरा का वचन निम्न प्रकार का है:—

सूर्य्यखद्योतयोर्यद्वन्मरुसर्षपयोरपि ।
अन्तरं हि महद् दृष्टं, तथा भिक्षु गृहस्थयोः ॥

अर्थः—सूर्य और जुगनू में जितना अन्तर है, मेरु तथा सर्षप में जितना अन्तर है, उतना महान् अन्तर भिक्षु तथा गृहस्थ में देखा गया है।

अत्रि कहते हैं:—

ब्रह्मचारीसहस्रं च, वानप्रस्थशतानि च ।
ब्राह्मणानां हि कोट्यस्तु, यतिरेको विशिष्यते ॥

अर्थ:—हजार ब्रह्मचारियों से, सैकड़ों वानप्रस्थों से, और करोड़ों ब्राह्मणों से एक यति अधिक है, अर्थात् हजार ब्रह्मचारी सैकड़ों वानप्रस्थ, और करोड़ों ब्राह्मण एक यति की बराबरी नहीं कर सकते।

इस विषय में हारीत कहते हैं:—

सर्वेषामाश्रमाणां तु, संन्यासी ह्युत्तमाश्रमी।
स एवात्र नमस्यः स्याद् भक्त्या सन्मार्गदर्शिभिः॥

अर्थ:—सर्व आश्रमों में संन्यासी उत्तमाश्रमी है इसलिये सन्मार्ग में चलने वाले मनुष्यों को भक्तिपूर्वक वही नमस्कार करने योग्य है।

इस विषय में जाबाल का मन्तव्य:—

दुर्वृत्ते वा सुवृत्ते वा, यतौ निन्दां न कारयेत्।
यतीन् वै दूषमाणस्तु, नरकं याति दारुणम्॥

अर्थ:—दुर्वृत्त वा सुवृत्त कैसा भी यति हो उस व्यक्ति को देखकर यति आश्रम की निन्दा न करना चाहिए। यति पर दोषारोपण करता हुआ मनुष्य नरक गति को पहुँचाता है।

वृद्ध याज्ञवल्क्य कहते हैं:—

शुष्कमन्नं पृथक् पाकं, यो यतिभ्यः प्रयच्छति।
स मूढो नरकं याति, तेन पापेन कर्मणा॥

अर्थः—सूखा अन्न, तथा जुदा बना हुआ हल्का भोजन जो यतियों को देता है, वह मूढ से पाप से नरक में पड़ता है ।

इस विषय में क्रतु कहते हैं:—

यतिर्योगी ब्रह्मचारी, शतायुः सत्यवाक् सती ।
सत्री वदान्यः शूरश्च, स्मृताः शुद्धाश्च ते सदा ॥

अर्थः—संन्यासी, योगी, ब्रह्मचारी, सौ वर्ष के आयु वाले, सत्य बोलने वाले, सती धर्म पालने वाली, अन्नदान देने वाले, दाता, शूर, इनको सदा काल शुद्ध माना गया है ।

अत्रि स्मृतिकार कहते हैं:—

यति हस्ते जलं दद्याद्, भैक्षं दद्यात्पुनर्जलम् ।
तद् भैक्षं मेरुणा तुल्यं, तज्जलं सागरोपम् ॥

अर्थः—यति के हस्त में जल दे, फिर भैक्ष दे, तो भैक्ष मेरू तुल्य और पानी समुद्र तुल्य है ।

आपत्कालीन संन्यास.

सुमन्तु कहते हैं:—

आपत्काले तु संन्यासः, कर्त्तव्य इति शिष्यते ।
जरयाऽभिपरीतेन, शत्रुभिर्व्यथितेन च ॥
आतुराणां च संन्यासे, विधिर्नैव न च क्रिया ।
प्रैषमात्रं समुच्चार्य, संन्यासं तत्र कारयेत् ।

संन्यस्तोऽहमितिब्रूयात्, सवनेषु त्रिषु क्रमात् ॥
त्रीन् वारांस्तु त्रिलोकात्मा,* शुभाशुभविशुद्धये ।
यत्किञ्चिद् बन्धकं कर्म, कृतमज्ञानतो मया ॥
प्रमादालस्य दोषाद् यत्तत्सर्वं संत्यजाम्यहम् ॥
एवं संचिन्त्य भूतेभ्यो, दद्यादभयदक्षिणाम् ॥
पद्भ्यां कराभ्यां विहर–न्नाहं वाकाय–मानसैः ।
करिष्ये प्राणिनां हिंसां, प्राणिनः सन्तु निर्भयाः ॥

अर्थः—आपत्कालीन संन्यास शेष रहा है जो कहते हैं बुढ़ापे से घिर जाने पर, शत्रुओं द्वारा पीडित होने पर, आतुर संन्यास लेना चाहिये, आतुरों के संन्यास में न विधि है न क्रिया, प्रतिज्ञा पाठ मात्र बोल कर आतुर संन्यास कराया जाता है। क्रम से तीन सवन हो जाने पर आतुर "मैं संन्यासी" हो गया इस प्रकार शुभाशुभ के विशुद्धि के लिए तीन बार बोले। जो कुछ मैंने अज्ञानवश शुभाशुभ बन्धक कर्म प्रमाद और आलस्य के दोष से किया है उसे छोडता हूँ। ऐसा चिन्तन करके प्राणियों को अभय दक्षिणा दे, चलता हुआ पैरों से, हाथों से, वचन से, शरीर से और मन से प्राणियों की हिंसा नहीं करूंगा, प्राणी निर्भय हों।

उपसंहार

वैदिक परिव्राजक के सम्बन्ध में लिखने योग्य बातें बहुत हैं, तथापि इस विषय में अब अधिक लिखना समयोचित नहीं।

वैदिक परिव्राजक का मौलिक रूप विशेष त्यागमय और अप्रतिबद्ध है, परन्तु मानव स्वभावानुसार अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायों के श्रमणों की तरह वैदिक श्रमण भी धीरे धीरे निम्न गामी होता गया है, यह बात इस निबन्ध से स्पष्ट प्रतीत हो जायगी। उपनिषन् कालीन परिव्राजकों के जीवन में जो निस्पृहता दृष्टिगत होती है, वह स्मृतिकालीन संन्यासियों अथवा यतियों में नहीं दीखती, फिर भी संन्यासी संस्था त्यागमयी और वैदिक धर्म की परमोकारिणी है इसमें कोई शङ्का नहीं।

उपनिषन् काल में परिव्राजक "विवर्ण वासाः" अर्थात् वर्ण हीन वस्त्रधारी होता था, परन्तु धर्मशास्त्र तथा स्मृतिशास्त्र कारों ने विवर्ण-वासाः नहीं रहने दिया, इतना ही नहीं बल्कि कई स्मृतिकारों ने तो "श्वेत वस्त्र" को संन्यासी के पतनों में से एक मान लिया। इसका कारण हमारी समझमें वैदिक यति को जैन यति से पृथक् दिखाना मात्र था। जिस समय दक्षिण भारत में हजारों श्वेत वस्त्रधारी जैन श्रमण विचरते थे, उसी समय उस प्रदेश में विष्णु स्वामी, माध्वाचार्य, रामानुजाचार्य आदि विद्वानों ने भिन्न भिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना की थी और सम्प्रदाय के मुख्य अङ्गभूत संन्यासियों के नाम भी यति, मुनि आदि दिये जाते थे जो वास्तव में तत्कालीन जैन श्रमणों के नामों का अनुकरण था। परन्तु नाम तथा वेष के सादृश्य से कोई जैन श्रमणों को वैष्णव यति मानने के भ्रम में न पड़े इसलिये उनके वस्त्रों में से श्वेत वस्त्र को दूर कर दिया और सख्त आज्ञा विधान

किया कि जो यति श्वेत वस्त्र धारण करेगा उसको पतित माना जायगा।

मनुकाल में संन्यासियों को धातुपात्र में भोजन करने का बड़ा कड़ा प्रतिबन्ध लगाया गया था, परन्तु पिछले स्मृतिकारों ने उसमें शिथिलता करदी। कहा गया कि यति को स्वर्ण रजत कांस्यादि धातु के पात्रों में भोजन करले तो दोष नहीं है।

आज भी वैदिक धर्म के अनुयायी हजारों संन्यासी भारतवर्ष में विद्यमान हैं, और अपना पवित्र जीवन यम नियमादि में व्यतीत करते हैं। मेरा उन महोदयों से अनुरोध है कि वे अपने पुरोगामी वैदिक श्रमणों के मुख्य आचारों और पवित्र जीवन का अनुशीलन करें और अपना आदर्श विशेष उच्च बनायें।

इति पंचमोऽध्यायः।

पंचमाध्याय का परिशिष्टांश

वैदिक परिव्राजक

वैदिक परिव्राजक का जीवन परिचय जो ऊपर दिया गया है उसमें वेद, उपनिषद्, धर्म सूत्र आदि का ही आधार लिया गया है। इसके अतिरिक्त वैदिक धर्म के प्रतिपादक पुराण ग्रन्थ भी ध्यान में लेने योग्य हैं। वैष्णव-मात्स्य वायव्य ब्रह्माण्ड आदि महापुराण भी बहुप प्राचीन ग्रन्थ हैं। इन सभी में अहिंसा, धर्म, दान, सदाचार, देवतार्चन, तपश्चरण और इन धर्मों का आराधन करने वालों का विपुल इतिहास है।

विष्णु धर्मोत्तर नायक महापुराण वैष्णव महापुराण का ही उत्तर भाग है। इसमें मांस मदिरा भक्षण निषेध और अहिंसा धर्म का प्रतिपादन किस प्रकार से किया गया है इसका दिग्दर्शन इस परिशिष्ट में करना हमारा उद्देश्य है। आशा है हमारे पाठकगण इस परिशिष्ट को "वैदिक परिव्राजक" अध्याय का ही एक भाग समझकर ध्यान से पढ़ेंगे।

श्री शंकर परशुराम को कहते हैं—

अहिंसा सत्य वचनं दया भूतेष्वनुग्रहः।
यस्यैतानि सदा राम! तस्य तुष्यति केशवः ॥१॥
माता पितृ गुरूणां च यः सम्यगिह वर्तते।
वर्जको मधु मांसस्य तस्य तुष्यति केशवः ॥२॥
वाराह-मत्स्य-मांसानि यो नात्ति भृगुनन्दन।
विरतो मद्यपानाच्च, तस्य तुष्यति केशवः ॥३॥

अर्थात्—हे राम ! अहिंसा, सत्यवचन, प्राणियों पर दया और सहानुभूति ये गुण जिस मनुष्य में होते हैं उस पर भगवान केशव (श्री विष्णु) सदा प्रसन्न रहते हैं। जो मनुष्य अपने माता पिता गुरुओं के साथ सद्व्यवहार करता है और शराब तथा मांस का त्यागी होता है उस पर केशव सदा खुश रहते हैं। हे भार्गव ! जो मानव सूअर आदि स्थलचर और मत्स्य आदि जलचर प्राणियों का मांस नहीं खाता तथा मद्यपान नहीं करता उस पर केशव सदा संतुष्ट रहते हैं।

(श्री विष्णु धर्मोत्तर खण्ड १ अध्याय ५८ पृ० ३४)

श्री मार्कण्डेय ऋषि राजा वज्र से कहते हैं—

मानवस्यास्वतन्त्रस्य गो-ब्राह्मण-हितस्य च ।
मांस-भक्षण-हीनस्य सदा सानुग्रहा ग्रहः ॥१२॥

अर्थात्—गुरुओं के आज्ञाकारी, गौ ब्राह्मण के हितकारक और मांस भक्षण से दूर रहने वाले मानव पर सभी ग्रह सदा अनुकूल रहते हैं ॥११॥

(श्री वि. ध. खं. १ अ. १०५ पृ० ६५)

गवां प्रचार भूमिं तु वाहयित्वा हलादिना ।
नरकं महदाप्नोति यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥१८॥
गोवधेन नरो याति नरकानेकविंशतिम् ।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन कार्यं तासां तु पालनम् ॥१६॥

अर्थात्—गौचर भूमि को हलादि से जोतने वाला चौदह मन्वन्तर तक नरक में महान् दुःख भोगता है गौ वध करने से मनुष्य इक्कीस वार नरक गति को प्राप्त होता है इस वास्ते सर्व प्रयत्न से गायों का रक्षण करना चाहिए। (श्री वि ध. ख. १ अ. ४२ पृ. २०२)

मधु-मांस-निवृत्ताश्च निवृत्ता मधु-पानतः ।
काल-मैथुनतश्चापि विज्ञेयाः स्वर्गगामिनः ॥८॥

अर्थात्—मधु (शहद) मांस से निवृत्त, मद्यपान से दूर रहने वाले और ब्रह्मचर्य से रहने वाले मनुष्यों को स्वर्गगामी समझना चाहिये। (श्री वि. ध. ख, २ अ ११७ पृ. २५६)

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह मानवाः ।
जन्म प्रभृति मद्यं च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥२३॥

अर्थात्—जो मनुष्य जीवन पर्यन्त मधु मांस भक्षण से और मदिरा पान से दूर रहते हैं वे कठिन आपत्तियों को भी आसानी से पार कर लेते हैं।

(श्री वि. ध. ख. २ अ. १२२ पृ. २६२)

श्री हंस ऋषियों को कहते हैं—

अहिंसा सर्वधर्माणां धर्मः पर इहोच्यते ।
अहिंसया तदाप्नोति यत्किञ्चिन्मनसेप्सितम् ॥१॥

अर्थात्—इस लोक में अहिंसा सर्व धर्मों में उत्कृष्ट धर्म है मनुष्य जो चाहता है अहिंसा से उस इष्ट पदार्थ को पाता है।

स्त्री-हिंसा धनहिंसा च प्राणि-हिंसा तथैव च ।
त्रिविधां वर्जयेत् हिंसां-ब्रह्म लोकं प्रपद्यते ॥२॥

अर्थात्—स्त्री हिंसा, धन हिंसा, (पर धन विनाश) और जीव हत्या ये तीन प्रकार की हत्यायें कही गई हैं। इन हिंसाओं को छोडने वाला मनुष्य ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है।

दाक्षिण्यं रूप-लावण्यं सौभाग्यमपि चोत्तमम् ।
धनं धान्यमथारोग्यं धर्मं विद्यां तथा स्त्रियः ॥२॥
राज्यं भोगांश्च विपुलान्ब्राह्मण्यमपि चेप्सितम् ।
अष्टौ चैव गुणान्वापि दीर्घं जीवितमेव च ॥३॥
अहिंसका प्रपद्यन्ते यदन्यदपि दुर्लभम् ।
अहिंसकस्तथा जन्तुर्मांसवर्जयिता भवेत् ॥५॥

अर्थात्—दाक्षिण्य, रूप लावण्य, उत्तम सौभाग्य, धन, धान्य, आरोग्य, धर्म, विद्या, स्त्रियां, राज्य, विपुल भोग, इष्ट ब्राह्मणत्व, आठगुण लम्बा जीवन और भी संसार के दुलभ पदार्थ अहिंसकों को प्राप्त होते हैं। यहां अहिंसक शब्द का तात्पर्यार्थ मांस त्यागी जीव से है ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

अर्थात् सौ वर्ष तक प्रतिमास अश्वमेध करने वाला मनुष्य भी मांस न खाने वाले मनुष्य से समानता प्राप्त करे या न भी करे।

सदा जयति सत्रेण सदा दानं प्रयच्छति ।
सदा तपस्वी भवति मधुमांसस्य वर्जनात् ॥७॥

अर्थात्—मधु मांस के त्याग से मनुष्य सदा अन्न सत्र चलाने वाला, दान देने वाला और तपकरने वाला माना जाता है।

सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वं दानानि चैव हि।
यो मांसरसमास्वाद्य सर्व-मांसानि वर्जयेत् ॥८॥

अर्थ—जो मांस का रस चखकर सर्व मांसों का त्याग करता है उसके लाभ की बराबरी न सर्व वेद कर सकते हैं, न सर्व प्रकार के दान।

दुष्करं हि रसज्ञेन मांसस्य परिवर्जनम्।
कर्तुं व्रतमिदं श्रेष्ठं प्राणिनां मृत्यु भीरुणाम् ॥९॥
तदा भवति लोकेऽस्मिन्प्राणिनां जीवितैषिणाम्।
विश्वासश्चोपगम्यश्च न हि हिंसा रुचिर्यथा ॥१०॥

अर्थ—मांस रस के जानने वाले का मांस त्याग करना दुष्कर होता है, व्रताचरण करने वाले के लिये यह (अहिंसाव्रत) बड़ा श्रेष्ठ है इस व्रत का आचरण करने पर मनुष्य मृत्यु से डरने वाले प्राणियों तथा जीवितार्थी प्राणियों के लिये जैसा विश्वास पात्र तथा निर्भय स्थान बनता है वैसा हिंसा रुचि नहीं ॥९॥१०॥

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन गन्तव्यमात्मविद्भिर्महात्मभिः ॥११॥

अर्थ—जैसे अपने प्राण आपको प्रिय है वैसे ही अन्य प्राणियों को भी उनके प्राण प्यारे हैं। यह जानकर महात्माओं को सब को आत्म सदृश मानकर चलना चाहिये।

अहिंसा परमो धर्मः सत्यमेव द्विजोत्तमाः ।
लोभाद्वा मोहतो वापि यो मांसान्यत्ति मानवः ॥१२॥
निर्घृणः स तु मन्तव्यः सर्व धर्म–विवर्जितः ।
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ॥१३॥
उद्विग्न वासे वसति यत्र यत्राभिजायते ,

अर्थ—अहिंसा सचमुच ही श्रेष्ठ धर्म है । जो मनुष्य लोभ से अथवा मोह के वश होकर प्राणियों के मांस खाता है उसे दया हीन समझना चाहिये, और पर प्राणियों के मांस से जो अपना मांस बढाना चाहता है । वह सर्व धर्मों से हीन होता है । और वह जहां जहां उत्पन्न होता है वहां वहां उद्वेगमय जीवल बिताता है ।

धनेन क्रयिको हन्ति उपभोगेन खादकः ।
घातको वध बंधाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः ॥१४॥
भक्षयित्वा तु यो मांसं पश्चादपि निवर्तते ।
तस्यापि सुमहान् धर्मो यः पापाद्विनिवर्तते ॥१५॥
राक्षसै र्वा पिशाचै र्वा डाकिनीभिर्निशाचरैः ।
तथान्यैर्नाभिभूयेत यो मांसं परिवर्जयेत् ॥१६॥

अर्थ—मांस को खरीदने वाला धन द्वारा हिंसा करता है, मांस खाने वाला मांस के उपभोग से हिंसा करता है और मारने वाला प्रहार तथा सख्त बन्धन द्वारा पशु पक्षियों की हिंसा करता है, मांस

खरीदना, खाना और बध बन्धनों द्वारा पशु को मारना ये तीन प्रकार के बध कहे गये हैं।

जो मनुष्य पहले मांस भक्षक होकर बाद में उसका त्याग कर लेता है वह भी धर्म का भागी बनता है क्योंकि जो पापमार्ग से निवृत्त होता है वह भी धर्मियों में ही परिगणित है।

जो मनुष्य मांस का त्यागी होता है वह राक्षसों पिशाचों डाकिनियों और भूत प्रेतों द्वारा कभी छला नहीं जाता।

खेचराश्चाव गच्छन्ति जीवितोऽस्य मृतस्य वा ॥१७॥
पृष्ठतो द्विज शार्दूल यो मांसं परिवर्जयेत्।
तथान्नैर्नाभिभूयेते यो मांसं परिवर्जयेत् ॥१८॥

अर्थ—हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! पिछले जीवन में भी जो मांस का परित्याग करता है। उसकी जीवितावस्था में और मरने के बाद में भी आकाश गामी देव विद्याधर खबर रखते हैं। और मांस त्यागी किसी भी क्षुद्र भूत प्रेत द्वारा सताया नहीं जाता।

चिता धूमस्य गन्धेऽपि मृतस्यापि निशाचराः।
क्रव्यादा विप्रणश्यन्ति यो मांसं परिचर्जयेत् ॥१९॥

अर्थ—जो मनुष्य मांस का त्यागी है उसके जीते जी तो क्या मरने के बाद भी उसके शव की चिता के धूम की गन्ध पाकर भी कच्चा मांस खाने वाले राक्षस तक दूर भागते है।

शस्त्राग्नि—नृप—चौरेभ्यः सलिलाच्च तथा विषात्।
भयं न विद्यते तस्य तथान्यदपि किञ्चन ॥२०॥

अर्थ—और उसको शस्त्र अग्नि, राजा, चौर, जल, और जहर आदि से कभी भय नहीं होता।

न तांल्लोकान्प्रपद्यन्ते ये लोका मांस वर्जिनाम्।
स दण्डी स च विक्रान्तः स यज्वा सःतपस्यति॥२१॥
सःसर्व लोकानाप्नोति यो मांसं परिवर्जयेत्।
न तस्य दुर्लभं किंचित्तथा लोकद्वये भवेत् ॥२२॥

अर्थ—जो लोक मांस त्यागियों के लिये नियत है। उन्हें मांस भक्षक कभी प्राप्त नहीं कर पाते। जो मांस का परित्यागी है वही संन्यासी, वही पराक्रमी, वही याज्ञिक, वही तपस्वी है और वही सर्व उत्तम लोकों को प्राप्त करता है। उसके लिये इस लोक में तथा परलोक में कोई उत्तम वस्तु दुर्लभ नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु मांस भक्षण से निवृत्त होने वाला मनुष्य वरदान देने तथा शाप प्रदान करने में भी समर्थ हो सकता है।

विमानमारुह्य शशांक तुल्यं देवांगनाभिःसहितो नृवीरः।
सुखानि भुक्त्वा सुचिरं हि नाके लोकमवाप्नोति पितामहस्य।२३

अर्थ—मांस भक्षण से दूर रहने वाला वीर पुरुष चन्द्र तुल्य उज्ज्वल विमान में पहुँच कर देवांगनाओं के साथ दिव्य सुख भोगता है और अन्त में ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है।

इति श्री विष्णु धर्मोत्तरे तृतीयखण्डे मार्कण्डेय-वज्र-संवादे हंसगीतासु हिंसादोषवर्णनो नामाष्टषष्ठ्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥

॥ इति परिव्राजकाऽध्यायः ॥

मानव-भोज्य मीमांसायाम्

षष्ठो अध्यायः

उद्दिष्टकृतभोजी शाक्यभिक्षु

उद्दिष्टकृतभिक्षाशी, धृतकाषायचीवरः ।
शाक्यभिक्षुर्भवत्वङ्गि, कल्याणकरणक्षमः ॥१॥

अर्थः—उद्दिष्टकृत भोजी तथा भिक्षा भोजी और काषाय-वस्त्रधारी शाक्यभिक्षु प्राणियों का कल्याण करने में समर्थ हो ।

बुद्ध और बौद्धधर्म के इतिहास की रूपरेखा

बुद्धः—

बौद्धधर्म की उत्पत्ति शाक्य गौतम बुद्ध से हुई है। यद्यपि भगवान् बुद्ध का जन्म स्थान शाक्य क्षत्रियों की राजधानी कपिलवस्तु के निकटवर्ती लुम्बनी ग्राम था तथापि गौतम संन्यास लेने के बाद उस प्रदेश में अधिक नहीं रहे, अधिकांश वे संगमरट

स्थित प्रदेशों में रहा करते थे। सर्व प्रथम उन्होंने आलारकालाम तथा उद्रक रामपुत्त नामक संन्यासियों के पास रहकर उनके सम्प्रदाय की कुछ बातें सीखी बाद में वे राजगृह गये और उरुबेल नदी के प्रदेश में तपस्या शुरु की। प्रथम निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में प्रचलित अनेक तपस्याओं का आराधन किया, फिर संन्यासियों के सम्प्रदाय में प्रचलित तपस्याओं की तरफ झुके और त्रिविध प्रकार के तापस सम्प्रदायों का भी आराधन किया। इन सभी बातों का उन्होंने "मज्झिम निकाय" के "महासींह नाद सुत्त" में वर्णन किया है। जिस का कुछ भाग नीचे दिया जाता है। पाठकगण देखेंगे कि महात्माबुद्ध ने प्रारम्भ में कैसी कष्टकारिणी साधनायें की थीं।

"तत्रस्सु मे इदं सारिपुत्त तपस्सिताय होती अचेलको होमि मुत्ताचरो हत्थापलेखनो न एहि भदन्तिको न तिट्ठ भदन्तिको, नाभिहटं, न उद्दिस्स कटं न निमन्तणं सादियामि, सो न कुम्भीमुखा पतिगण्हामि न कलोपिमुखा पति गण्हामि, न एलक मन्तरं न मुसलमन्तरं, न द्विन्नं भुञ्जमानानं, न गब्भिनिया, न पायमानाय, न पुरिसन्तर गताय, न संकित्तीसु, नं यत्थ सा उपट्ठितो होती, न यत्थ मक्खिका सण्डसण्ड चारिणी, न मच्छं न मंसं न सुरं न मेरयं न थुसोदकं पिबामि। सो एकागारिको वा होमि एकालोपिको, द्वागरिको वा होमि द्वालोपिको,……………सत्तागारिको वा होमि सत्तालोपिको। एकिस्सापि दत्तिया यापेमि, द्वीहि पि दत्तीहि यापेमि……………सत्तहि पि दत्तीहि यापेमि। एकाहिकं पि आहारं

आहारेमि, द्वीहिकं पि आहरं आहारेमि,.......सत्ताहिकं पि आहारं आहारेमि। इति एवरूयं अद्धमासिकं पि परियायभत्त भोजनानुयोग मनुयुत्तो विहरामि।

"मज्झिमनिकाय" पृ० ३६-३७

अर्थः—हे सारिपुत्त ! वहां पर इस प्रकार मेरी तपस्या होती थी। लोक लज्जा को छोड़कर हाथ में भोजन करने वाला मैं अचलेक हुआ, न भदन्त ! आओ यह कहने पर जाता, ठहरो यह कहने पर ठहरता, न सामने लाया हुआ भोजन खाता, न किसी का निमन्त्रित आहार लेता, न कुम्भीमुख से (जिसमें पकाया हो उसमें से) लेता, न कलोपी से ओखली में से लाया हुआ लेता, न देहली अन्दर से, न मुसल के अन्दर से आहार लेता, न भोजन करते हुए दो में से एक के हाथ से, न गर्भिणी के हाथ से, न बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री के हाथ से, न पुरुष के साथ खड़ी स्त्री के हाथ से, न मेले या यात्रा के निमित तैयार किया हुआ, न कुत्ता खड़ा हो वहां से, न जहां मक्खियां भिनभिनाती हो वहां से आहार लेता था, न मत्स्य, न मांस भोजन लेता, न सुरा, न मैरेय, न तुषोदक आदि मादक पानी पीता। कभी एक घर से भिक्षा लेने का अभिग्रह करता, और वहां से एक कवल जितना आहार लेता, कभी दो घर का, और तीन कवल प्रमाण आहार कभी चार घर का और चार कवल प्रमाण आहार, कभी पांच घर का और पांच कवल प्रमाण आहार, और सात घर का अभिग्रह करता और सात कवल प्रमाण आहार लेता [१]।

१—जितजे घर जाने का अभिग्रह लिया जाता, उतने ही घरों में जा सकते थे, और प्रत्येक घर से एक एक कवल आहार लेते एक घर

हे सारिपुत्त ! कभी कभी मैं दत्तियों का अभिग्रह करता। एक दत्ति का अभिग्रह होता, उस दिन गृहस्थ अपने हाथ से एक बार जो कुछ देता उससे निर्वाह करता,* दो दत्ति के नियम के दिन दो बार, तीन दत्ति के नियम के दिन तीन बार, यावद् सात दत्ति के नियम के दिन सात बार हाथ में लेकर जो देता उतना भोजन करता।

हे सारिपुत्त ! कभी मैं एक उपवास कर भोजन लेता, कभी दो उपवास कर भोजन लेता, कभी तीन उपवास कर भोजन लेता, इस प्रकार पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह और पन्द्रह उपवास तक कर के पारणा करता। इस प्रकार एक एक वृद्धि से आधे महीने तक उपवासी रहकर विचरता।

उपर्युक्त तप सम्बन्धी बुद्ध ने सारिपुत्त को जो वर्णन सुनाया है, वह अक्षरशः निर्ग्रन्थ श्रमणों का तप है। "अन्त कृद् दशाङ्ग" "अनुत्तरोपपातिक दशा" आदि जैन सूत्रों में श्रमण श्रमणियों के विविध तपों में वर्णन किया गया है। जिन्होंने उक्त सूत्रों को पढ़ा है उन्हें कहने की आवश्यकता नहीं कि बुद्ध ने प्रारम्भ में जो तप किये थे वह निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों के तपों का अनुकरण था।

का अभिग्रह किया और उसमें आहार न मिला तो उपवास करते, दो घर का अभिग्रह होता तो एक घर आहार मिलता दूसरे घर नहीं तो उस दिन एक ही कवल से चलाते इसी प्रकार जितने घर जाने का नियम होता उतने घरों में जाते और प्रत्येक घर से एक एक कवल प्रमाण आहार जिस दिन नियमानुसार जितना मिलता उस दिन उसी से चलाते।

निर्ग्रन्थों का तपोऽनुष्ठान करने के बाद इन्होंने संन्यासी सम्प्रदायों में प्रचलित तपों का अनुसरण किया था जो नीचे दिया जाता है।

"सो साकभक्खो वा होमि, सामाकभक्खो वा होमि, नीवारभक्खो वा होमि दुहार क्यो, दद्दल भक्खो, हट भक्खो, कणभक्खो, आचामं भक्खो, पिञ्ञाक भक्खो, तिणभक्खो, गोमय भक्खो-वा होमि, वन मूल फला हारो यापेमि पवत्त फल भोजी। सो-साणानिपि धारेमि, मसाणापि, छवदुस्सानिपि, पंसु कुला निपि, तिरीटी निपि, अजिनंपि, अजिन क्खिपंपि, कुसचीरंपि, वाक्-चीरंपि, फलक चीरंपि, केसकम्बलंपि, उलूक पक्खंपि धारेमि, केसमस्सुलोचकोपि होमि, केसमेस्सु लोचनानुयोगमनुयुत्तो, उब्भट्ठकोपि होमि, आसन परिक्खितो उक्कुटिको पिटोमि उक्कुटिप्पधान मनुयुत्तो, कंटकापस्सायिको होमि, कण्ट काप स्सये सेय्यं कपेपि, सायतति- यकंपि, उदको रोहणानुयोग मनुयुत्तो विहरामि। इति विहितं कायस्स आताप परितापनानुयोग मनुयुत्तो विहरामि। एवरूपं अनेक इदं मे सारिपुत्त तपस्सिताप होति।

"मज्झिम निकाय" पृ० १३७

अर्थः—हे सारिपुत्र! वह मैं शाक, सामाकधान्य, निवार धान्य, चमार द्वारा फेंके गये चर्म के टुकड़े, सेवाल कण, आचाम-दग्धान्न, पिण्याक (तिल की खली), तृण, गोमय (गोबर) इन पदार्थों का भक्षण कर के रहता, वन्य मूल फलों का आहार कर के समय बिताता, तैयार किया हुआ फल खाकर दिन निर्वाह करता,

मैं जूट के वस्त्र पहनता, श्मशान के वस्त्र, शव के वस्त्र, धूल में फेंके हुए चिथड़े, तिरीट वृक्ष के रेशों के वस्त्र, चर्म, अजिन क्षिप, दर्भ के वस्त्र, वक्कल के वस्त्र, फलक के वस्त्र, केश निर्मित कम्बल, बाल निर्मित कम्बल, और उलूक के परों से बने वस्त्र को धारण कर रहता था। शिर और मुख के बालों का लोच भी करता था। केश श्मश्रु का लुञ्चन बिना किसी के अभियोग से अपनी इच्छा से करता था। अर्से तक खड़ा रहता, आसन के बिना सोता, बैठता, उकुरु बैठता, स्वेच्छा से काँटो पर उकुरु बैठता, काँटो पर पथारी कर के सोता, प्रातः मध्याह्न शाम को स्वेच्छा से जल में प्रवेश करता। उक्त प्रकारों से और अन्य अनेक प्रकारों से शरीर का आतापन परितापन करता हुआ विचरता था, हे सारि पुत्र! यह कष्ट मेरी तपस्या मानी जाती थी।

भगवान् बुद्ध ने लग भग सात वर्ष तक कष्टानुष्ठान किये, परन्तु उन्हें सम्बोधि प्राप्त नहीं हुई। तब सोचा—केवल शारीरिक कष्टों से आत्मशुद्धि नहीं होती, कायिक, वाचिक, मानसिक दोषों के दूर होने से ही आत्मशुद्धि होती है। यह सोच कर उन्होंने तपोऽनुष्ठान का मार्ग छोड़ दिया और विषयासक्ति तथा कष्ट से बिचला मार्ग पकड़ा और आत्म विशुद्धि के लिये मानसिक चिन्तन ध्यान का मार्ग ग्रहण किया। इस बाह्यपरिवर्त्तन से इनके परिचित संन्यासियों का इनके उपर से विश्वास ऊठ गया, वे मानने लगे-गौतम अपने साधन मार्ग से पतित हो गया है। इसलिये यहाँ आने पर उसका बिनय सत्कार नहीं किया जाय, परन्तु गौतम को

अपने निश्चय पर विश्वास था, और अन्त में वे अपने इसी मध्यम मार्ग से अपने साध्य में सफल हुए। उन्हें वैशाखी पूर्णिमा की रात नैरञ्जना नदी के समीप वर्त्ती एक पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए बोधि ज्ञान प्राप्त हुआ। उस ज्ञान से चार आर्य सत्य आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग आदि बौद्ध धर्म के मौलिक तत्त्वों को जाना। वे सात दिन तक वहीं तत्त्वों का चिन्तन समन्वय करते हुए बैठे रहे। इसी तरह अन्यान्य वृक्षों के नीचे बैठ चिन्तन करते हुए लग भग एक महीना पूरा किया, और इन धर्मतत्त्वों का प्रचार करने के लिये इन्होंने बनारस के पास "मृगवन इसी पत्तन" में रहे हुए पञ्च वर्गीय भिक्षुओं के पास जाकर अपने आविष्कृत धर्म तत्त्वों का उपदेश करना उचित समझा।

बुद्ध गौतम वहां से "इसी पत्तन" को चले। जब वे पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की दृष्टि मर्यादा में पहुँचे तो भिक्षु परस्पर कहने लगे शाक्य गौतम आरहा है पर वह पहले का तपस्वी गौतम नहीं उसने तपोमार्ग को छोड़ दिया है। अच्छे खाने खाकर अब वह ध्या। और मनोविजय की बातें कर रहा है। यहां आने पर उसका योग्य सत्कार नहीं किया जाय, भिक्षुओं की ये बातें चल रही थी और बुद्ध उनके आश्रम में पहुँचे। बुद्ध के सम्बन्ध में उन्होंने तात्कालिक निर्णय किया था उससे वे विचलित हो गये, पूर्ववत् बुद्ध का विनय किया और उन्हें आसन देकर वे स्वयं बुद्ध के पास बैठ गये। बुद्ध ने अपने नये तत्त्वों का उनके सामने उपदेश किया और कौण्डिन्य आदि पांचों भिक्षु क्रमशः उनके अनुयायी बन गये।

वह वर्षाचातुर्मास्य बनारस के निकट बिता कर फिर वे राजगृह की तरफ चले गये। वहां के राजा बिम्बसार ने उनके तथा उनके भिक्षुओं के निवास के लिये "वेणुवन" नामक एक उद्यान समर्पण कर दिया। वे वहां रहते हुए अपने धर्म का प्रचार करते थे। वहां के रहने वाले प्रसिद्ध संन्यासी उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप, और गया काश्यप, बुद्ध के समागम में आये और उनके शिष्य बन गये। उक्त तीनों काश्यप वहां के विद्वान् और प्रतिष्ठित संन्यासी थे। उनके बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार करने का राजगृह निवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। लोग उनके पास जा जाकर उनका नया धर्म सुनते और कई उनके अनुयायी बन जाते। राजा बिम्बसार भी गौतम का अनुयायी बन चुका था, परन्तु बुद्ध अपने धर्म का सर्वत्र प्रचार करने को बड़े उत्कण्ठित थे। प्रथम उन्होंने अपने विद्वान् भिक्षुओं को उपदेशक के रूप में चारों दिशाओं में भेजा। परन्तु बाद में उन्हें ज्ञात हुआ कि इस पद्धति से भिक्षुओं को बड़ा कष्ट होता है अतः संघ के रूप में एक साथ फिरना ही योग्य है। वे अपने सभी भिक्षुओं को साथ में लिये भारत के सभी आर्य देशों में घूमते-पूर्व में अङ्ग, पश्चिम में कुरुक्षेत्र, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याचल की उत्तरी सीमा। बुद्ध के समय में यही मध्य प्रदेश आर्यभूमि माना जाता था। बुद्ध अपने भिक्षु संघ के साथ इस आर्यक्षेत्र के भीतर घूमा करते और अपने भिक्षु समुदाय को बढ़ाते जाते थे, इनके गृहस्थ उपासक इनके

रहने के लिये विहार बनवा कर भिक्षु संघ को समर्पण कर देते थे। राजगृह में ऐसे अठारह बौद्ध विहार थे, परन्तु बुद्ध के निर्वाण समय में वे सभी जीर्ण शीर्ण अवस्था में पड़े थे। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के राजगृह तथा उसके आस पास के प्रदेश में अधिक विचरने के कारण वहां जैन धर्म तथा जैन श्रमणों का आदर बढ़ गया था। फलस्वरूप अङ्ग, मगध, आदि देशों में बुद्ध कम विचरते थे, उस समय उनके विहार का मुख्य क्षेत्र कौशल प्रदेश बन गया था। वे श्रावस्ती के बाहर अनाथ पिण्डिक उद्यान में रहा करते थे, परन्तु शीत उष्ण ऋतुओं में तो उनकी चरिका होती रहती थी। वत्स, मलय, विदेह, कौशल, काशी आदि देशों में बुद्ध के उपदेश ने पर्याप्त सफलता पायी थी।

बुद्ध का उपदेश सर्वसाधारण के लिये समान होता था। वे मानसिक, वाचिक, कायिक दोषों को दूर करने का उपदेश करते, इन दोषों का दूर करने का कारण ध्यान बताते, देह का दमन न कर आध्यात्मिक शुद्धि करने से ही आत्मा का निर्वाण होता है, धर्म को सभी जातियां समान रूप से ग्रहण कर पालन कर सकती हैं। जन्म से जाति अथवा वर्ण नहीं होता पर कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि नाम पड़ते हैं। चाण्डाल भी ब्राह्मणोचित सदाचार पालेगा तो वह ब्राह्मण ही माना जायगा। ब्राह्मण के घर जन्म लेने वाला मनुष्य यदि चाण्डाल के कर्त्तव्य करेगा तो वह चाण्डाल की कोटि में गिना जायगा। इस प्रकार के उपदेश का परिणाम बौद्ध धर्म के लिये लाभदायक हुआ। कई विद्वान्

ब्राह्मण भी इस विषय में बुद्ध से चर्चा करके निरूत्तर होते और उनके अनुयायी बन जाते थे, तो शूद्र तथा इतर हल्की जाति के मनुष्यों का तो कहना ही क्या ?

स्त्री प्रव्रज्या

प्रारम्भ में बुद्ध ने स्त्रियों को प्रव्रज्या नहीं दी थी, परन्तु उनके शिष्य आनन्द के अनुरोध से उन्होंने स्त्रियों को प्रव्रज्या देना स्वीकार किया, परन्तु यह स्वीकार प्रव्रजित होने वाली स्त्रियों में मुख्या महाप्रजापति गौतमी के आठ नियम मान लेने के बाद किया गया था। वे नियम ये थे —

१—भिक्षुणी संघ में चाहे जितने वर्षों तक रही हो तो भी उसे चाहिए कि वह छोटे बड़े सभी भिक्षुओं को प्रणाम करे।

२— जिस गाँव में भिक्षु न हो वहाँ भिक्षुणी न रहे।

३—हर पखवारे में उपोसथ किस दिन है, और धर्मोपदेश सुनने के लिये कब आना है, ए दो बातें भिक्षुणी भिक्षु संघ से पूछ ले।

४—चातुर्मास्य के बाद भिक्षुणी को भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ की प्रवारणा करनी चाहिए।

५—जिस भिक्षुणी से संघादि शेष आपत्ति हुई हो उसे दोनों संघों में पन्द्रह दिनों का मानत्त[१] लेना चाहिए।

टिप्पणी—१ संघ के सन्तोष के लिये विहार से बाहर रातें बिताना।

६—जिसने दो वर्ष तक अध्ययन किया हो ऐसी श्रामणेरी को दोनों संघ उपसम्पदा दे दें।

७—किसी कारण से भिक्षुणी भिक्षु को गाली गलौज न दे।

८—भिक्षु भिक्षुणी को उपदेश दे।

ऊपर कह आये हैं कि बुद्ध जातिभेद नहीं मानते थे। इस कारण इन के भिक्षु भिक्षुणी संघ में सभी जाति के पुरुष स्त्रियां प्रव्रजित होती थीं।

बुद्ध ने प्रारम्भ में संघ व्यवस्था के लिये कोई नियम उपनियम नहीं बनाये थे, परन्तु ज्यों ज्यों समुदाय बढ़ता गया त्यों त्यों अवश्यकता के अनुसार नियम बनाते गये। बुद्ध का कहना यह था कि जब तक संघ में किसी प्रकार का दोष दृष्टि गोचर न हो तब तक उसके निवारणार्थ नियम बनाने बेकार हैं। धीरे धीरे भिक्षु भिक्षुणियों में अव्यवस्था दृष्टिगोचर होती गई और उसके निवारणार्थ नियम बनते गये। भिक्षु तथा भिक्षुणी संघ के लिये बनाये गये नियमों का संग्रह "विनय पिटक" में दिया गया है। जिनको क्रमशः "भिक्खू पातिमोक्ख" तथा भिक्खूणी पातिमोक्ख" कहते हैं।

बुद्ध के जीवन काल में कुल भिक्षु भिक्षुणियों की क्या संख्या थी, इसका ठीक पता नहीं चलता। बुद्ध के निर्वाण के बाद वहां सात दिन में इकट्ठे हुए भिक्षुओं की संख्या सात लाख की लिखी है, जो अतिशयोक्ति मात्र है। अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी का

मानना है कि उस समय पांच सौ से अधिक बौद्ध भिक्षु नहीं होने चाहिए, क्योंकि निर्वाण के बाद बुद्ध के उपदेशों को व्यवस्थित करने के लिये सर्व प्रथम बौद्ध भिक्षु राजगृह में मिले थे, और उनकी संख्या पाँच सौ की थी। कुछ भी हो पर यह तो निश्चित है कि पिछले बौद्ध साहित्य में हद से ज्यादा अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रक्षेप हुए हैं, जिनका पृथक्करण करना असम्भव है।

बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को अन्तिम यह हिदायत की थी कि मैंने संघ के लिये धर्माचार के सम्बन्ध में जो नियमोपनियम बताये हैं, उनमें समय के अनुसार परिवर्त्तन कर सकते हो। बुद्ध की इस छूट का प्रभाव बहुत बुरा पड़ा। बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुए एक सौ वर्ष हुए थे, वैशाली वज्जी पुत्र भिक्षुओं ने वैशाली में अपने आचार मार्ग में क्रान्ति करने वाले दश नये नियम बनाये। जो निम्नलिखित हैं—

"वस्संसत परिनिब्बुते भगवती वेसालिका वज्जिपुत्तका भिक्खू वेसालियं—कप्पति सिंगिलोण कप्पो, कप्पति द्वंगुल कप्पो, कप्पति गामंतर कप्पो, कप्पति आवास कप्पो, कप्पति अनुमति-कप्पो, कप्पति आचीण कप्पो, कप्पति अमथित कप्पो, कप्पति-जलोगिं पातुं, कप्पति अदकं निसीदनं कप्पति, जात रूप रजतं पि, इमानी दस वथ्थूनि दीपेसुं"।

अर्थः—भगवान निर्वाण प्राप्त हुए सौ वर्ष होने पर वैशालिक वज्जीपुत्र भिक्षुओं ने वैशाली में;—

भिक्षु को सिंगी नमक भिक्षा में लेना कल्पता है। द्वयंगुल-कल्प कल्पता है। ग्रामान्तर कल्प कल्पता है। आवास कल्प कल्पता है। अनुमति कल्प कल्पता है। आचीर्ण कल्प कल्पता है। अमथित कल्प कल्पता है। जलोगी पीना कल्पता है। पानी समीप में न होने पर भी बैठना कल्पता है। सोना चान्दी रखना कल्पता है। ये दश नियम हैं।

मौर्य काल में बौद्धधर्म का प्रचार

भगवान् बुद्ध के निर्वाण से दो सौ अठारहवें वर्ष में मौर्य राजकुमार अशोक का राज्याभिषेक हुआ। बाद में अशोक बौद्ध भिक्षुओं के उपदेश से बौद्ध धर्म का उपासक बना और पाटलिपुत्र नगर में बौद्ध भिक्षु भिक्षुणियों का सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में उपस्थित भिक्षु भिक्षुणियों की वास्तविक संख्या क्या थी यह कहना कठिन है, क्यों कि बौद्ध ग्रन्थों में इस घटना के वर्णन में राई का पर्वत बना दिया है, फिर भी हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बुद्ध के निर्वाण समय में उनके संघ में जो भिक्षु संख्या थी, उससे इस समय के संघ से अधिक ही होगी क्योंकि बुद्ध के समय में उनका अनुशासन कड़क और भिक्षुओं के पालनीय नियम भी कड़े थे। परन्तु सौ वर्ष के बाद वैशाली में कुछ नियम शिथिल कर दिये गये थे जिससे बौद्ध भिक्षु का जीवन विशेष सुखशील बन गया था। इस कारण तब से भिक्षु संख्या अधिक प्रमाण में बढ़ी होगी इस में कोई शङ्का नहीं है।

धर्मप्रचार में अशोक का सहकार

इस बौद्ध संघ सम्मेलन में बौद्ध धार्मिक साहित्य को व्यवस्थित कर के अन्तिम रूप दिया गया और साथ में यह भी निर्णय किया गया कि भारत वर्ष के अतिरिक्त विदेशों में भी उपदेशक भिक्षुओं को भेजकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया जाय। इस योजना के अनुसार भारत के निकटवर्त्ती सिंहल द्वीप, ब्रह्मदेश और पश्चिम के निकट वर्त्ती देशों में उपदेशक भिक्षुओं की टुकड़ियां भेजी गयीं।

सिंहलद्वीप में अशोक का पुत्र महेन्द्रकुमार और पुत्री उत्तरा जो भिक्षु भिक्षुणी बने हुए थे कुछ सहकारी भिक्षु भिक्षुणियों के साथ भेजे गये। इन उपदेशकों का सिंहल द्वीप की जनता और खास कर के लङ्का के राजा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा, सैकड़ों मनुष्य बुद्ध धर्म के अनुयायी बने। इस सफलता से प्रोत्साहित हो कर लङ्का में भारत से बोधिवृक्ष की शाखा मंगवा कर वहां लगवाने का निश्चय किया, और इसके लिये भारत के महाराजा अशोक को बोधिवृक्ष की शाखा भेजने के लिये प्रार्थना की गई। अशोक ने सहर्ष सिंहल द्वीपियों की प्रार्थना स्वीकार कर बड़े शाही ठाठ से बोधिवृक्ष की शाखा वहां पहुंचाई। इस प्रकार सिंहल द्वीप में अशोक के समय में ही बौद्ध धर्म की नींव मजबूत हो गई थी। ब्रह्म, श्याम आदि देशों में उपदेशक भिक्षु प्रचार का काम बड़ी लगन से कर रहे थे, और हजारों ही नहीं लाखों मनुष्य उनके अनुयायी बनते जाते थे।

चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार ईसा की पहली शताब्दी में हुआ। परन्तु वह चौथी शताब्दी तक राजधर्म नहीं हुआ था और जो पुस्तकें उस समय चीन के यात्री लोग भिन्न भिन्न शताब्दियों में भारतवर्ष से ले गये थे उस में भारतवर्ष के बौद्धधर्म के सब से प्राचीन रूप का वृतान्त नहीं है। बौद्धधर्म का प्रचार जापान में ईशा की पांचवीं शताब्दी में और तिब्बत में सातवीं शताब्दी में हुआ। तिब्बत भारतवर्ष के प्राथमिक बौद्ध धर्म से बहुत दूर है। और उसने ऐसी बातों और ऐसे विधानों को ग्रहण किया है जो गौतम तथा उसके अनुयायियों को विदित नहीं थे।

महायान की शुरूआत

ईसवी सन् अष्टोत्तर के आस पास चीन स्थित बौद्धों ने बौद्ध धर्म में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन किया। पाली बौद्ध साहित्य को उन्होंने संस्कृत भाषा में अनुवादित कर दिया, इतना ही नहीं ललित विस्तर आदि अनेक मौलिक ग्रन्थों का भी निर्माण किया। भगवान् बुद्ध के उपदेशों का सारांश अहिंसक वर्त्तन और मानसिक वाचिक, कायिक दोषों की विशुद्धि और ध्यान द्वारा आत्मशुद्धि करने का था, उसको गौण बनाकर चीनी बौद्धों ने उपासना मार्ग को महत्त्व दिया। वे स्तुति स्तोत्रों द्वारा बुद्ध मूर्त्ति की स्तुति तथा प्रार्थना करके अपने धार्मिक जीवन को सफल मानने लगे। बुद्ध के शिक्षा पद भिक्षुओं के आचार और गृहस्थों के पञ्चशील आदि मौलिक उपदेश मूल ग्रन्थों में ही रह गये। इस प्रकार के उपासना

मार्ग को महत्व देने वाले बौद्धों ने अपने चीन स्थित बौद्ध संघ को "महायान" इस नाम से प्रसिद्ध किया, और लङ्का ब्रह्मदेश आदि बौद्ध संघ जो प्राचीन पाली साहित्य को मानने वाला है उसे "हीन-यान" इस नाम से सम्बोधित किया, परन्तु शिलोन, ब्रह्म, यावा, सुमात्रा, आदि के बौद्ध अपने को हीनयानी न कहकर थेरगाथावादी कहते हैं। तिबेटियन बौद्धों का भूत प्रेतों तथा अद्‌भुत चमत्कारों पर बड़ा विश्वास है। तिब्बत के कतिपय भिक्षु आज भी वहां की गुफाओं तथा गहन जंगलों में वर्षो तक अद्‌भुत सिद्धियों के लिये योग साधनायें करते हैं। प्रवासियों के यात्रा विवरणों में पढ़ते भी हैं कि तिबेटी योगियों में कोई कोई अद्‌भुत सिद्धि प्राप्त होते हैं।

भारत का बौद्ध धर्म

भारत वर्ष तो बौद्ध धर्म की जन्मभूमि ही ठहरा, अशोक मौर्य के समय में इसने सारे उत्तरी भारत वर्ष में अपना स्थान बना लिया था, और दक्षिण भारत वर्ष में भी इसके उपदेशक अपना प्रचार कर ही रहे थे। भारत के प्रान्तवर्ती विदेशी राज्यों में भी अशोक ने अपना प्रभाव डाल कर वहां के राजाओं को बौद्ध धर्म के प्रचार में सहायक बनाया था, परन्तु अशोक की मृत्यु के बाद यह स्कीम ढीली पड गई थी। विशेषतः भारत वर्ष में अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजा सम्प्रति के जैन बनने के बाद भारत में अशोक कालीन बौद्ध धर्म की प्रचार योजनायें बन्द सी हो गई थी। बिहार के पूर्वी प्रदेशों को छोड़कर शेष उत्तरी तथा पश्चिमी

भारत के सभी देशों में राजा सम्प्रति के भेजे हुए विद्वान् जैन धर्म का प्रचार कर रहे थे। दक्षिण भारत के सुदूरवर्ती आन्ध्र द्रविड प्रदेशों में भी सम्प्रति के वेतन-भोगी उपदेशक जैन संस्कृति का प्रचार करने लग गये थे। इधर जैन धर्मियों के साथ जैन श्रमणों की संख्या भी खूब बढ़ी थी और वे भारत के कौने कौने में घूम कर जनता को जैन धर्म का उपासक बना रहे थे। इस परिस्थिति में भारत में बौद्ध भिक्षुओं के धर्म प्रचार में पर्याप्त मन्दता आगई थी।

बौद्धधर्म को विदेशों में फैलने और भारत से निर्वासित होने के कारण

वैदिक तथा जैन धर्म के उपदेशक ब्राह्मण श्रमणों को आर्य-भूमि से बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। वैदिक धर्म शास्त्रकारों ने जिस भूमिभाग में कृष्णमृग दृष्टिगोचर होता हो उसी भूमि भाग में ब्राह्मण को जाने आने की आज्ञा दी थी। ज्यादा से ज्यादा पूर्व में काशी पश्चिम में कुरु देश, दक्षिण में विन्ध्याचल और उत्तर में हिमाचल की तलहटी तक ब्राह्मण को तीर्थ यात्रादि के निमित्त भ्रमण करने की आज्ञा दी गई थी।

जैन श्रमणों को पूर्व में अङ्ग-वङ्ग, पश्चिम में सिन्धु-सौवीर, दक्षिण में वत्स कौशाम्बी, और उत्तर में कुणाला श्रावस्ती तक के साढ़े पचीस देशों में विचरने की ही आज्ञा थी। गौतम बुद्ध भारत वर्ष के उत्तर प्रदेश में जन्मे थे, और उन्होंने मगध, काशी, कोशल

वत्स आदि मध्य भारत के अनेक देशों में भ्रमण कर अपने उपदेशों का प्रचार किया था। अपने धार्मिक सिद्धान्त बहुत जल्दी दूर दूर तक फैलें, यह उनकी तीव्र उत्कण्ठा थी और इसी उत्कण्ठा के वश होकर इन्होंने शिष्यों को पृथक् पृथक् स्थानों में प्रचारार्थ भेजा था, परन्तु भिक्षुओं की कठिनाइयों का विचार कर यह स्कीम उन्होंने बाद में बदल दी थी, और स्वयं भिक्षु संघ के साथ रह कर घूमते, और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। बुद्ध के जीवन की अन्तिम घड़ी तक यह क्रम चलता रहा।

ऐसा ज्ञात होता है कि बुद्ध परिनिर्वाण के पीछे बौद्ध भिक्षुओं की संख्या विशेष बढ़ने लगी थी। बुद्ध के बताये हुए उनके जीवन नियमों में भिक्षुओं ने पर्याप्त परिवर्त्तन कर लिया था, और मांस भक्षण की छूट तो उन्हें बुद्ध दे ही गये थे। इस सुख साधन सम्पन्न बौद्ध भिक्षु के जीवन में कहां जाना कहां नहीं इसका प्रश्न ही नहीं रहा था। आर्य प्रदेशों में जैन और ब्राह्मणों का बहुत्व तो था ही साथ साथ बौद्ध भिक्षुओं की संख्या वृद्धि के कारण वे भी सर्वत्र दृष्टि गोचर होते थे। बुद्ध ने उन्हें प्रत्यन्त देशों में जाने की भी आज्ञा दे ही दी थी। इस कारण विद्वान् बौद्ध भिक्षु भारत के समीप वर्त्ती देशों में भी घूमने लगे। वहां जो कुछ मिलता खा पी लेते, और बुद्ध के सुकुमार धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार किया करते थे।

भारत के बाहर के प्रदेशों में भी प्रचार

मौर्यकाल तक बौद्धधर्म भारत वर्ष में ही सीमित रहा, पर सम्राट् अशोक ने इसे भारत के बाहर भी फैलाने का प्रयत्न किया।

विन्ध्याचल के उत्तर में सारा भारत वर्ष जैन और ब्राह्मण संस्कृति का केन्द्र बना हुआ था।

चन्द्रगुप्त की सभा में वर्षों तक रहने वाले और उत्तर भारत में भ्रमण कर यहां का विवरण लेखक ग्रीक विद्वान् मेगास्थनीज के भारत विवरण से जाना जाता है कि ग्रीक विजेता सिकन्दर के भारत पर चढ आने के समय सिन्दु नदी के पश्चिम तट के प्रदेश में ब्राह्मण सन्यासियों का प्राबल्य था और इसी कारण से सिकन्दर ने उनके आगे वहां नेताओं को अपने साथ मिला कर भारत पर धावा करने का मार्ग सरल करना चाहा था, परन्तु उसमें वह सफल न हो सका। संन्यासियों की जमात से बहिष्कृत एक सन्यासी जिसका नाम मेगास्थनीज ने "कलेनस" लिखा है सिकन्दर का आज्ञाकारी बन चुका था, परन्तु सबसे बड़ा और सर्व सन्यासियों का नेता वृद्ध सन्यासी मण्डेनिस सिकन्दर की बातों में नहीं आया था। इस सम्बन्ध में मेगास्थनीज अपने भारत विवरण में निम्नोद्धृत पंक्तियां लिखता है।

"मेगास्थनीज कहता है कि आत्मघात करना दार्शनिकों का सिद्धान्त नहीं है, किन्तु जो ऐसा करते हैं, वे निरे मूर्ख समझे जाते हैं। स्वभावतः कठोर हृदय वाले अपने शरीर में छुरा भोंकते हैं, अथवा ऊंचे स्थानों से गिर कर प्राण देते हैं, कष्ट की उपेक्षा करने वाले डूब मरते हैं, कष्ट सहने में सक्षम फांसी लगाते हैं और उत्साह पूर्ण मनुष्य आग में कूदते हैं। कल्लेनस भी इसी प्रकृति का मनुष्य था। वह अपने कुकृतियों के वश में तथा और

सिकन्दर का दास हो गया था। इसी लिये वह निन्दास्पद समझा जाता है। किन्तु मण्डेनिस की प्रशंसा की जाती है, क्योंकि जब सिकन्दर के दूतों ने ज्युस के पुत्र के निकट जाने के लिये उसे निमन्त्रण दिया तब वह नहीं गया, यद्यपि दूतों ने जाने पर पारितोषिक देने की और नहीं जाने पर दण्ड देने की प्रतिज्ञा की थी। उसने कहा कि सिकन्दर ज्युस का पुत्र नहीं है क्योंकि वह आधी पृथ्वी का भी अधिपति नहीं है। अपने लिये उसने कहा कि मैं ऐसे मनुष्य का दान नहीं लेना चाहता जिसकी इच्छा किसी वस्तु से पूर्ण नहीं होती और उसकी धमकी का मुझे डर नहीं है, क्योंकि यदि मैं जीवित रहा तो भारतवर्ष मेरे भोजन के लिये बहुत देगा और यदि मैं मर गया तो वृद्धावस्था से क्लिष्ट इस अस्थि चर्म के शरीर से मुक्त होकर मैं उत्तम और पवित्र जीवन प्राप्त करूँगा। सिकन्दर ने आश्चर्यान्वित होकर उसकी प्रशंसा की और उसकी इच्छानुसार उसे छोड़ दिया।

(मेगास्थनीज भारत विवरण पृ० ६२)

इसी सम्बन्ध में पञ्च चत्वारिंशत् पत्र खण्ड मेएरियन ७-२-३-६ के आधार पर लिखा है।

"इससे विदित होता है कि यद्यपि सिकन्दर यश प्राप्त करने की घोर इच्छा के वशीभूत था, तथापि वह उत्तम पदार्थों को परखने की शक्ति में सर्वथा रहित नहीं था। जब वह तक्ष शिला पहुंचा और दिगम्बर दार्शनिकों को देखा तब उनमें से एक को अपने सम्मुख बुलाने की उसे इच्छा हुई, क्योंकि उनकी सहिष्णुता

का वह आदर करता था। डैण्डेमिस इनमें सबसे बड़ा था और सब उसके शिष्य के समान रहते थे। उसने केवल अपने ही जाने से अस्वीकार नहीं किया किन्तु दूसरों को भी नहीं जाने दिया। कहा जाता है कि उसने यह उत्तर दिया था:—मैं भी ज्युस का वैसा ही पुत्र हूँ जैसा कि सिकन्दर है और मैं सिकन्दर का कुछ लेना नहीं चाहता (क्योंकि मैं वर्त्तमान अवस्था में भली भांति हूँ) क्योंकि मैं देखता हूँ, कि जो लोग सिकन्दर के साथ इतने समुद्र और पृथ्वी में घूमते हैं उन्हें कुछ लाभ नहीं होता और न उसके पर्यटन ही का अन्त होता। इस लिये सिकन्दर जो कुछ दे सकता है उन सबों की मैं इच्छा नहीं करता और न मुझे इस बात का डर है कि मुझे दबा कर वह मेरा कुछ कर सकता है। यदि मैं जीवित रहा तो भारतभूमि ऋतुओं के अनुकूल फल देकर मेरी प्राण रक्षा में समर्थ है और यदि मैं मर गया तो इस दूषित शरीर से मुक्त हो जाऊंगा।" ऐसे स्वतन्त्र प्रकृति का मनुष्य जान कर सिकन्दर ने बल प्रयोग नहीं किया। यह कहा जाता है कि उसने कलेनस नामक उस स्थान के एक दार्शनिक को अपने निकट रक्खा था किन्तु मेगास्थनीज कहता है कि वह आत्मसंयम एक दम नहीं जानता और दार्शनिक लोग स्वयं कलेनस की बड़ी निन्दा करते हैं, क्योंकि वह इन लोगों के सुख को छोड़ कर ईश्वर के अतिरिक्त दूसरे प्रभु का सेवन करने चला गया।

(मेगास्थनीज भारत विवरण पृ० ८०)

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में भारत के पश्चिम ओर तक्षशिला के आस पास ब्राह्मण संन्यासियों

का ही अधिक भ्रमण होता था। बौद्ध भिक्षु तब तक तक्षशिला के निकट प्रदेश में पहुँच भी नहीं पाये थे।

अशोक के समय में बौद्ध धर्म भारत वर्ष में कुछ समय के लिये चमक उठा था, परन्तु चीन आदि प्रदेशों में यह प्रतिदिन प्रबल हो रहा था और वहां के विद्वान् भिक्षु बौद्ध साहित्य की खोज और प्राप्ति के लिये आते रहते थे। ईशा के पूर्व की पहली शताब्दी तक भारत के बाहर और भारत के द्वार रूप गान्धार पुरुषपुर (पेशावर) तक्षशिला आदि स्थानों में बौद्ध भिक्षु हजारों की संख्या में फैल गये थे। चन्द्रगुप्त के समय में इस भूमि में जितना ब्राह्मण संन्यासियों का प्राबल्य था उससे भी कहीं अधिक बौद्ध भिक्षु दृष्टिगोचर होते थे। इसके सम्बन्ध में जैन सूत्र बृहत्कल्प की निम्नोद्धृत गाथायें प्रमाण के रूप में दी जा सकती हैं।

पाडलि मुरण्डदूते, पुरिसपुरे सचिव मेलनाऽऽवासो।
भिक्खू असउयण तइये, दिवम्मिरको सचिव पुच्छा ॥२२६२
निग्गमणं च अमच्चे, सब्भावाऽऽइक्खिये भणइदयं।
अंतो वहिं च रत्था, नऽहरंति इहं पवेसणया ॥

अर्थः—पाटलिपुत्र से राजा मुरुण्ड ने अपना दूत पुरुषपुर (पेशावर) के राजा के पास भेजा, दूत वहां के राजमन्त्री से मिला, मन्त्री ने दूत को ठहरने के लिये मकान दिया और राजा से मिलने का टाइम सूचित किया, पर दूत राजा से न मिला, दूसरे तथा तीसरे दिन भी दूत राजा से न मिला, तब राज

सचिव ने दूतावास में आकर राजसभा में न आने का कारण पूछा। उत्तर में दूत ने कहा मैं पहले ही दिन सभा में आने के लिये निकला तो रक्तपट भिक्षु सामने मिले, अपशकुन समझ कर वापस लौट गया। दूसरे तीसरे दिन भी राजा साहब के पास आने को निकला तो वैसे ही रक्तवस्त्रधारी भिक्षु सामने मिले और अपशकुन हुए जान कर मैं फिर निवृत्त हो गया। दूत की यह बात सुनकर राज सचिव ने कहा महाशय! इस देश में शेरी के भीतर या बाहर कहीं भी ये भिक्षु मिले तो भी इनका दर्शन अपशकुन नहीं माना जाता। यह कहकर मन्त्री ने मुरुण्ड के दूत को राजसभा में प्रवेश करवाया।

उपर्युक्त वृतान्त से दो बातें फलित होती हैं एक तो यह कि मुरुण्ड के समय में पेशावर के आस पास बौद्ध भिक्षुओं की संख्या इतनी अधिक बढ गई थी कि लोग उन्हें सर्व साधारण मनुष्य के रूप में देखते थे।

दूसरी यह कि पाटलिपुत्र उसके आस पास के अनेक देशों में रक्तवस्त्र वाले भिक्षुओं का दर्शन अपशकुन माना जाता था। इसका अर्थ यह है कि मुरुण्ड के समय में उत्तर भारत में बौद्ध भिक्षु अति विरल संख्या में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होते थे।

इसवी सन् चार सौ के लगभग भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री फाहियान कांकांग देश के सम्बन्ध में अपनी यात्रा विवरण में लिखता है;

"देश भर में मांसाहारी नहीं हैं। न ही कोई मादक द्रव्यों का उपयोग करता है। प्याज और लहसुन नहीं खाते। केवल चाण्डाल लोग ही इस नियम का उल्लंघन करते हैं। वे सब बस्ती के बाहर रहते हैं और अस्पृश्य कहलाते हैं। इनको कोई छूता भी नहीं नगर में प्रवेश करते समय वे लकड़ी से कुछ संकेत और आवाज करते हैं। इसको सुनकर नागरिक हट जाते हैं। इस देश के लोग सूअर नहीं पालते। बाजार में मांस और मादक द्रव्यों की दूकानें भी नहीं हैं। व्यापार के हेतु यहां के निवासी कौड़ी का व्यवहार करते हैं। केवल चाण्डाल मात्र ही मांस मछली मारते और शिकार करते हैं।" (फाहियान पृ० २६–२७)

फाहियान के उपर्युक्त विवरण से यह प्रमाणित होता है कि ईशा की चतुर्थ शताब्दी के अन्त तक उत्तर भारत वर्ष अन्न भोजी बना रहा है। इस आर्यभूमि की यह परिस्थिति तात्कालिक ही नहीं थी बल्कि वेदकाल से चली आ रही थी जो बौद्ध लेखक यह मानते हैं कि बुद्ध के समय में सरे बाजारों में गोमांस बिकता था उनके इस कथन का फाहियान का उक्त कथन एक प्रामाणिक उत्तर है। जिन देशों को जैन सूत्रकारों ने आर्य देश यह नाम दिया है, और वैदिक ग्रन्थकारों ने आर्यभूमि कह कहकर उनका बहुमान किया है, उन देशों में न कभी खुले आम मांस बिकता था, न मदिरा पी जाती थी। मांस मदिरा भक्षण तो क्या? उस समय के आर्य लहसुन प्याज तक नहीं खाते थे। मांसादि आमक्ष पदार्थों का उन्हीं प्रदेशों में अधिक व्यवहार होता था, जो अनार्य कहलाते

थे और बौद्ध भिक्षुओं के विहार क्षेत्र थे। जब से भारत के बाहर के देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ तब से तो मांस मत्स्य लहसुन प्याज आदि खाना भिक्षुओं के लिये एक साधारण व्यवहार सा हो गया था, और उन विदेशी भिक्षुओं के समागम से भारतीय बौद्धों के भोजन में भी इन अभक्ष्य पदार्थों की मात्रा अमर्यादित हो गई थी। ब्राह्मण तथा जैन सम्प्रदायों को मानने वाले विद्वान् बौद्धों की इस भोजन सम्बन्धी भ्रष्टता की कठोर टीकायें करते थे। भारत की उच्च जातियां भी इस भ्रष्टता से ऊब कर बौद्ध धर्म से विमुख हो रही थी। फिर भी बौद्ध भिक्षु गण मांस छोड़ने को तैयार नहीं था, इतना ही नहीं बल्कि तत्कालीन विद्वान् बौद्ध आचार्य तर्क शास्त्र के बल से मांस भक्षण को निर्दोष साबित करने के लिये कटिबद्ध रहते थे। इस बात का सूचन आचार्य हरिभद्रसूरी के निम्न लिखित श्लोकों से मिलता है।

भक्षणीयं सतां मांसं, प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना।
ओदनादिवदित्येवं, कश्चिदाहातितार्किकः ॥१॥
शास्त्रे चाप्तेन वोऽप्येतन्निषिद्धं यत्नतो ननु।
लङ्कावतारसूत्रादौ, ततोऽनेन न किञ्चन ॥२॥

अर्थः—मांस प्राण्यङ्ग होने के कारण अच्छे मनुष्य के लिये खाने योग्य भोजन है, जैसे ओदन। यह अतितार्किक[१] कहता है।

१—यह सूचन बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के लिये होना चाहिए; क्योंकि इन्हीं हरिभद्रसूरी ने न्याय के ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर धर्मकीर्ति का इसी प्रकार से उल्लेख और खण्डन किया है।

(इसका आचार्य उत्तर देते हैं) तुम्हारे आप्त ने भी लङ्कावतार सूत्र आदि शास्त्र में मांस भक्षण का निषेध किया है इस वास्ते तुम्हारी यह तर्कबाजी निरर्थक है।

इस प्रकार मांस भक्षण की अतिप्रवृत्ति ने बौद्धधर्म को उच्च वर्णीय भारत वासियों की दृष्टि से गिरा दिया था, परिणाम स्वरूप बौद्ध धर्म के उपदेशक धीरे धीरे निरामिष भारत भूमि से हटकर अनार्य और मांस भक्षक मनुष्यों से आबाद प्रदेशों में पहुँचते जाते थे। इसके विपरीत जैन तथा वैदिक श्रमण और इनके अनुयायी गृहस्थ वर्ग जो पहले दूर तक पहुंचे थे, वे भारत पर बार बार होने वाले विदेशियों के आक्रमणों से तंग आकर भारत के भीतरी भागों में आगये थे।

इस कारण दूर के प्रदेशों में बौद्ध उपदेशक विशेष सफल हो गये।

ईशा की तीसरी शताब्दी तक तक्षशिला और उसके पश्चिमीय प्रदेशों में जैन श्रमण पर्याप्त संख्या में विचरते थे और जैन उपासकों की वसति भी कम नहीं थीं, तक्षशिला उनका केन्द्र स्थान था। तक्षशिला के बाहर जैनों का अति प्राचीन धर्मचक्र नामक तीर्थ था। जो प्रथम ऋषभ देव का स्मारक था, और बाद में जैन तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ की मूर्त्ति स्थापित होने के कारण चन्द्रप्रभ तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। तक्षशिला नगरी में भी सैकड़ों जैन मन्दिर तथा जिन मूर्त्तियां स्थापित थीं।

ईशा की तीसरी शताब्दी के लग भग हजारों जैन एक सांघातिक बिमारी के कारण तक्ष शिला को छोड़कर पञ्जाब की तरफ आगये थे। जो शेष रहे थे, वे भी विदेशियों के आक्रमण की आगाही पाकर वहां से भारत के भीतर के प्रदेशों में आ पहुंचे थे और तक्ष शिला जैन बस्ती से शून्य हो गया था।

जिनके आक्रमण की शङ्का से जैनों ने तक्षशिला का प्रदेश छोड़ा था, वे ससेनियन लोग थे। तक्ष शिला में जो बची खुची बस्ती थी वह उनके आक्रमण के समय में इधर उधर भाग गई, और तक्ष शिला सदा के लिये वीरान हो गई।

जैनों तथा ब्राह्मणों की संस्कृति के हट जाने से बौद्धों के लिये वह क्षेत्र निष्कण्टक हो गया। वहां के तीर्थ, मठ, मन्दिर आदि सर्व स्मारक बौद्धों की सम्पत्ति हो गई।

महा निशीथ सूत्र के लेखानुसार धर्मचक्र तीर्थ जो उस समय चन्द्रप्रभ तीर्थ कहलाता था, वह बोधिसत्व चन्द्रप्रभ का स्मारक बन गया। ऐसा "हुएन संग" के भारत भ्रमण वृतान्त से ज्ञात होता है। वह लिखता है।

"हुएन संग तीर्थ और चमत्कारक स्थानों को देखता हुआ तक्ष शिला देश में पहुंचा। इस नगर के उत्तर में थोड़ी दूर पर एक और स्तूप है जिसे महाराज अशोक ने बनवाया था। इस स्तूप की धरती (पृथ्वी) से सदा प्रकाश निकलता रहता है। जब तथागत बुद्धत्व को प्राप्त कर रहे थे तब वह एक देश के राजा थे और उनका नाम चन्द्रप्रभ था। (हुएन संग पृ० ६२)

भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में सैकड़ों वर्षों तक बौद्ध भिक्षुओं का अड्डा बना रहा, पर मुस्लिम धर्म के भारत में प्रवेश करने के बाद वे अधिक नहीं टिक सके, कुछ भारत में और अधिकांश चीन तिबेट आदि देशों में चले गये और वहां के उपासक धीरे धीरे अन्य सम्प्रदायों में मिल गये। मुस्लिम राज्य होने के बाद वे सभी मुसलमान बन गये। हम पहले ही कह चुके हैं कि उत्तर भारत में बौद्ध संस्कृति बहुत निर्बल थी। पश्चिम दक्षिण भारत के प्रदेशों में भी उनका प्राबल्य नहीं था, और जो थे वे भी धीरे धीरे जैन तथा वैदिक धर्म के राजाओं द्वारा वहां से निर्वासित किये जारहे थे। ईशा की नवम शताब्दी के बाद की मूर्त्ति शिला लेख आदि कोई बौद्ध संस्कृति सूचक चीज गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान आदि में दृष्टिगोचर नहीं होती। इससे जाना जाता है कि दशम शताब्दी के पहले ही बौद्ध भिक्षु पश्चिम तथा दक्षिण भारत को छोड़ कर चले गये होंगे।

ईशा की दशमी शताब्दी तक नालन्दा का विश्वविद्यालय अस्तित्व में था। इसका अर्थ यही हो सकता है कि उस समय भी पूर्व भारत में हजारों बौद्ध भिक्षुओं का निवास होना चाहिए, इतना होने पर भी भारत से बौद्धों का निर्वासन बन्द नहीं पड़ा था। दक्षिण पूर्वीय भारत के देशों से बौद्ध बङ्गाल की तरफ खदेड़े जा रहे थे। ईशा की बारहवीं शताब्दी तक वङ्गप्रदेश में बौद्ध धर्म टिका हुआ था, परन्तु उसके उपदेशक भिक्षुगण अनेक तान्त्रिक सम्प्रदायों में बट चुके थे। कोई अपने सम्प्रदाय को वज्रयान,

कोई वज्रयान, तो कोई कालयान नाम से अपने मतों को जाहिर करते थे, परन्तु उनमें बौद्ध धर्म का मौलिक तत्व कुछ भी नहीं था। मांस, मत्स्य, मदिरा, आदि पञ्चमकारों के उपासक बने हुये थे और बाहर से बौद्धधर्मी होने का दावा करते थे, ऐसे पतित सम्प्रदाय भारत वर्ष में कब तक टिक सकते थे। बङ्गाल में वैष्णवाचार्य चैतन्यदेव के उपदेश का प्रचार होने पर धीरे धीरे बङ्गाल से भी बौद्ध धर्म ने विदा ली और भारत के बाहर, बाहर के देशों में जा टिका, यह बौद्ध धर्म का विदेशों में फैलने तथा भारतवर्ष से निर्वासित होने का इतिहास और उसका मुख्य कारण है बौद्ध भिक्षुओं का मांसाहार।

क्या आज का बौद्धधर्म बुद्ध का मूल धर्म है?

महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया था, वह था प्राणि मात्र की दया। उन्होंने यज्ञवाटों में जाकर यजमान को समझा बुझा कर बलि किये जाने वाले पशुओं के प्राण बचाये थे। बुद्ध ने चाण्डालों, निषादों, चोरों तक को हिंस्रता का त्याग करवा अपना शिष्य बनाया था। वे अपना शरण लेने वाले स्त्री पुरुषों को त्रस स्थावर जीवों की हिंसा न करने न कराने की प्रतिज्ञा कराते थे। यह सब होते हुए भी उन्होंने भिक्षुओं तथा उपासकों के आचरणीय नियमों में जो शिथिलता रक्खी थी उसके परिणाम से आज उनके धर्म का काया पलट हो गया है। पञ्चशील दश शिक्षा पद आदि के रहते हुए भी आज के बौद्ध धर्मी इन बातों पर कितना ध्यान देते हैं, यह तो उनका पूरा परिचय रखने वाले

ही कह सकते हैं, परन्तु भिक्षु तथा उपासकों के पालनीय धर्माचरणों में आकाश पाताल जितना अन्तर पड़ गया है इसमें कोई शङ्का नहीं। बुद्ध गृहस्थ धर्मी उपासकों*को कहते थे कि किसी प्राणी को न मारो, न मरवाओ, न मारने वालों को अच्छा जानो।

आज के चायनीज्, जापानीज, ब्राह्मी, सिंहली आदि बौद्ध उपासक भगवान् बुद्ध की उक्त आज्ञाओं को कहां तक पालते हैं इसका खुलासा उक्त उपासकों का जीवन व्यवहार ही दे रहा है।

बौद्ध भिक्षुओं के लिये बुद्ध ने जूता तक पहनने की मनाही की थी, और भिक्षु को पाद विहार से भ्रमण करने का विधान किया था। पर आज का बौद्ध भिक्षु बूट और जूते पहन कर मोटरों रेल गाडियों और वायुयानों में बैठ कर मुसाफिरी करते हैं।

बौद्ध भिक्षुओं को सोना चान्दी आदि द्रव्य रखने का बुद्ध ने सर्वथा निषेध किया था, पर आज के बौद्ध भिक्षु यथेष्ट सम्पत्ति रखते और बैंकों में जमा कराते हैं।

बुद्ध ने भिक्षु को अपने पास वस्त्र पात्रादि कुल मिला कर आठ वस्तुएं रखने का आदेश दिया था। आज के भिक्षु इस नियम की पाबन्दी रखते हैं क्या? बुद्ध ने किसी भी पशु पक्षी को रखना पालना भिक्षु के लिये निषिद्ध किया है। आज के बौद्ध भिक्षु इस नियम को पालते हैं क्या? इत्यादि अनेक बातों पर विचार करने से हमें यह शङ्का होती है कि बुद्ध ने जिस प्रकार के धर्म का उपदेश दिया था, उस प्रकार का धर्म आज शायद संसार में नहीं रहा।

महा प्रजापति गौतमी को दीक्षा देने के बाद बुद्ध ने आनन्द से कहा था-आनन्द! मेरा यह धर्म हजार वर्ष चलता सो अब पांच सौ वर्ष तक चलेगा। हमारी समझ में बुद्ध की उक्त भविष्य वाणी सर्वथा सत्य हुई। बुद्ध के निर्वाण की षष्ठ शताब्दी से ही बुद्ध का मूल धर्म तिरोहित हो चुका था। भले ही आज बौद्धधर्मी पचीस करोड़ की संख्या में माने जाते हों, परन्तु बुद्ध के मौलिक धर्म को पालने वाले कितने बौद्ध हैं, इसका पृथक्करण करने पर संसार की आंखें चकरा जायेंगी और बौद्ध धर्म के प्रचार द्वारा भारत में मांस मत्स्य भक्षण का प्रचार करने वालों की बुद्धि ठिकाने आजायेगी।

धर्म वस्तु धार्मिक ग्रन्थोक्त शब्दों के पढ़ने सुनाने में नहीं है, किन्तु उनका रहस्य अपने जीवन में उतारने और उसके अनुसार जीवन का पलटा करने में है।

शाक्यभिक्षु

बौद्ध भिक्षु का हमें जातीय परिचय नहीं है, क्योंकि इस देश में इनका अस्तित्व नहीं और भारत के बनारस आदि दूरवर्ती स्थानों में आगन्तुक बौद्ध भिक्षु होंगे तब भी उस प्रदेश में न जाने के कारण हमारा उनसे कोई सम्पर्क नहीं हुआ अतः बौद्ध भिक्षु के सम्बन्ध में हम जो कुछ लिखेंगे, उनके ग्रन्थों के आधार से ही लिखेंगे।

प्रव्रज्या

पूर्वकाल में "एहि भिक्षु" इस वाक्य से प्रव्रज्या हो जाती थी। जब भिक्षुओं की संख्या बढ़ने लगी तब प्रव्रज्या देने का कार्य बुद्ध ने अपने पुराने शिष्यों को सौंप दिया था। दीक्षार्थी प्रथम शिर मुण्डा कर दीक्षा दायक स्थविर भिक्षु के पास जाता और उनके सामने घुटने टेक शिर नवा कर हाथ जोड़ कर तीन बार कहता "बुद्ध सरणं गच्छामि" "धम्मं सरणं गच्छामि" "संघं सरणं गच्छामि"

अर्थात्—मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ। मैं धर्म की शरण में जाता हूँ। मैं संघ की शरण में जाता हूँ।

इस प्रकार तीन बार शरण स्वीकार करने पर प्रव्रज्या विधि हो जाती थी। परन्तु जब भोजनादि हीन स्वार्थों के लिए भिक्षु बढ़ने लगे तब उनके लिये कई कड़े नियम बनाये गये जिनके अनुसार प्रव्रज्यार्थी के लिये किसी विद्वान् भिक्षु को अपना उपाध्याय बनाकर उसके सान्निध्य में दो वर्ष तक रहना आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त प्रव्रज्यार्थी की परीक्षा कर योग्य ज्ञात होने पर निम्नलिखित बातों की जांच की जाती है।

जैसे उसे कुष्ठ रोग, गण्ड, किलास, क्षय, अपस्मार, नपुंसकत्व आदि बिमारियां तो नहीं है? दीक्षार्थी स्वतन्त्र, ऋणमुक्त, वयःप्राप्त होना चाहिए। उसे माता पिता की अनुज्ञा प्राप्त होनी चाहिए। वह राजा का सैनिक न होना चाहिए इत्यादि।

वैदिक तथा जैन श्रमणों के लिये जाति सम्बन्धी विशेष नियम हैं। वैसा कोई नियम न होने से किसी भी जाति कुल का मनुष्य बौद्ध भिक्षु बन सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती।

बौद्ध प्रव्रज्या के सम्बन्ध में मज्झिम निकाय के चूलत्थि पदोपम सुत्त में निम्नलिखित वर्णन मिलता है।

"एवमेव खो ब्राह्मण इध तथागतो लोके उपज्जति अरहं सम्मा संबुद्धो विज्जा चरण संपन्नो सुगतो लोक विदू अनुत्तरो पुरिसदम्म सारथि सत्था देव मनुस्सानं बुद्धो भगवा। सो इमं लोकं सदेवकं समारकं सब्रह्मकं सस्समण ब्राह्मणिं पजं सदेव मनुस्सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेति। सो धम्मं देसेति आदि कल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसान कल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवल परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेति। तं धम्मं सुणाति गहपति वा गहपति पुत्तो वा अञ्ञतरस्मिं वा कुले पच्चा जातो। सो तं धम्मं सुत्वा तथागते सद्धं पटिलभति। सो तेन सद्धापटिलाभेन समन्नागतो इति पटिसंचिक्खति—संबाधो घरावासो रजापथो, अब्भोकाशो पब्बज्जा नयिदं सुकरं अगारं अज्झावसता एकन्तपरिपुण्णं एकपरिसुद्धं संखलिखितं ब्रह्मचरियं चरितुं। यन्नूनाहं केसमस्सुं ओहारेत्वा कासायानि वत्थानि आच्छादेत्वा अगारस्मा अनगारियं पब्बज्जेय्यंति। सो अपरेन समयेन अप्पं वा भोगक्खन्तं पहाय, अप्पं वा ञाति परिवट्टं पहाय महन्तं वा ञाति परिवट्टं पहाय केसमस्सु ओहारेत्वा कासायानि वत्थानि अच्छादेत्वा अगारस्मा अनगारियं पब्बज्जति। (मज्झिम नि० चूलहत्थिपदो० सु० पृ० ८७-८)

अर्थ—इस प्रकार हे ब्राह्मण इस लोक में तथागत उत्पन्न होता है। वह अर्हन्, सम्यक् सम्बुद्ध, विद्याचरणसम्पन्न, सुगत, लोकविद्, श्रेष्ठ, पुरुषों में धर्मसारथि, देव मनुष्यों को शास्ता और सम्बोधि प्राप्त ऐसा भगवान् वह देवसहित मनुष्यसहित, ब्रह्म सहित लोक को तथा श्रमण ब्राह्मण-देव मनुष्य सहित प्रजा को स्वयं जान कर प्रवेदन करते हैं। वे धर्म की देशना करते हैं, जिसकी आदि में कल्याण है, मध्य में कल्याण है, अन्तमें कल्याण है। अर्थसहित, शब्द सहित, सम्पूर्ण विशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाशन करते हैं। उस धर्म को सुनता है गृहपति वा गृहपतिपुत्र, जो अन्यतर कुल में उत्पन्न हुआ होता है वह उस धर्म को सुनकर तथागत के ऊपर श्रद्धालाभ करता है। वह उस श्रद्धालाभ से युक्त होकर यह कहता है गृहवास बाधारूप है "रजापथो अब्भोकासो पब्बज्जा"………… । एकान्त परिपूर्ण, एकान्त परिशुद्ध, शंख जैसा उज्ज्वल ब्रह्मचर्य घर में रहकर आचरण करना सुकर नहीं। इस वास्ते मैं केश श्मश्रु को निकाल कर काषायवस्त्रों को पहिन कर घर से निकल अनगार हो जाऊं। वह बाद में अल्प अथवा महान् भोग सामग्री को छोड़कर थोड़े अथवा बड़े परिवार को छोड़कर केश श्मश्रु को दूर कर काषाय वस्त्रों को पहिन कर घर से निकल अनगार बन जाता है।

अनगार

सो एवं पब्बजितेन समानो भिक्खूनं सिक्खासाजीवसमापन्नो पाणातिपातं पहाय पाणातिपाता पटिविरतो होति। निहितदण्डो

निहित सत्थो लज्जी दयापन्नो सब्बपाणभूत-हितानुकम्पी विहरति। अदिन्ना दानं पहाय अदिन्ना दाना पटिविरतो होति, दिन्नादायी दिन्नापाटिकंखी अथेनेन सुचिभूतेन अत्तना विहरति। अब्रह्मचरियं पहाय ब्रह्मचारी होति आराचारी विरतो मेथुना गाम धम्मा मुसावादं पहाय मुसावादा पटिविरतो होति, सच्चवादी सच्चसन्धोथेतो पच्चयिको अविसंवादको लोकस्स। पिसुणं वाचं पहाय पिसुणाय वाचाय पटिविरतो होति, इतो सुत्वा न अमुत्र अक्खाता अमुसं भेदाय इति भिन्नानं सन्धाता सहितानं वा अनुप्पदाता समग्गारामो समग्गरतो, समग्गनन्दी, समग्गकरणिं वाचं भासिता होति। फरूसं वाचं पहाय परूसाय वाचाय पटिविरतो होति। या सा वाचा नेला कण्णसुखा पेमनीया हृदयंगमा पोरी बहुजन कंता बहुजन मनापा तथारूपिं वाचं भासिता होति। सम्फप्पलापं पहाय संफप्पलापा पटिविरतो होति, कालवादी, भूतवादी, अत्थवादी, धम्मवादी, विनयवादी, निधानवादी, निधानवतिं वाचं भासिता कालेन सापदेशं परियन्तवतिं अत्थसहितं। (मज्झिमनि० पृ० ८८)

अर्थ—अनगार बन कर भिक्षु नीचे लिखे गुणों से युक्त बनता है।

१. इस प्रकार वह प्रव्रजित हो, भिक्षुओं की शिक्षा से शिक्षित बनकर प्राणातिपात को छोड़कर प्राणातिपात से प्रतिविरत होता है। दण्ड से रहित, शस्त्र से रहित, लज्जावान् दयासम्पन्न सर्व प्राणधारी जन्तुओं का हितचिन्तक और दयावान् बनकर विचरता है।

२. अदत्तादान को छोड वह अदत्तादान से प्रति विरत होता है। दिया हुआ लेने वाला, दिये हुए की इच्छा रखने वाला, अस्तैन्यभाव से पवित्र बने हुए आत्मा से वह विचरता है।

३. अब्रह्मचर्य (मैथुन) को छोड कर वह ब्रह्मचारी बनता है। वस्ती से दूर विचरने वाला, मैथुन ग्राम्यधर्म से प्रतिविरत होता है।

४. मृषावाद को छोडकर मृषावाद से प्रतिविरत होता है। वह सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, स्थैर्यवान् और लोक में विश्वास पात्र तथा अविसंवादी बनता है।

५. पिशुनतापूर्ण वाणी को छोडकर वह पैशुन्य से प्रतिविरत होता है। यहां सुनकर उधर नहीं कहे उनमें फूट डालने के लिए। भिन्नों में सन्धि कराने वाला, मेल जोल वालों को प्रोत्साहन देने वाला, सर्वत्र सुखी, सर्वत्र प्रसन्न, सर्वत्र आनन्द में रहने वाला और सर्व कार्य-साधक भाषा बोलने वाला होता है।

६. कठोर भाषा को छोड़कर परुष भाषा से प्रतिविरत होता है। जो भाषा यथार्थ कानों को सुख देने वाली, प्रेम उत्पन्न करने वाली, हृदय को आनन्दित करने वाली, प्रौढा, वह लोक प्रय बहु-जनों का मनरञ्जन करने वाली इस प्रकार की भाषा को वह बोलता है।

७. निरर्थक प्रलाप छोड़ निरर्थक प्रलाप से प्रतिविरत होता है। कालवादी, भूतवादी, अर्थवादी, धर्मवादी, विनयवादी,

निधानवादी, निधानवती समयानुसार सापेक्ष परिणाम वाली और अर्थवाली भाषा को बोलने वाला होता है।

बौद्धभिक्षु के पालनीय नियम

बौद्धधर्म की प्रव्रज्या लेने के बाद भिक्षुओं को क्या क्या नियम पालन करने चाहिये और किन किन पदार्थों का उनको त्याग करना चाहिए इस सम्बन्ध में मज्झिम निकाय के चूलहत्थि-पदोपम सुत्त में निम्नलिखित वर्णन मिलता है।

"सो बीजगाम भूतगाम समारम्भा पटिविरतो होति। एक-भत्तिको रत्त्परतो, विरतो विकाल भोजना। नच्च गीतवादित विस्सूकदसना पटिविरतो होति। मालागन्धविलेपन धारण मण्डन विभूसनट्ठाना.......। उच्चासयन महासयना...........। जातरूपरजत पटिग्गहणा.......। आमकधञ्ञपटिग्गहणा.......। हत्थिकुमारिक पटि-ग्गहणा.....। दासीदास पटिग्गहणा.....। अजेलक पटिग्गहणा.....। कुक्कट सूकर पटिग्गहणा.....। हत्थिगवास्सवलवा पटिग्गहणा.....। खेतवत्थु पटिग्गहणा.....। दूतेय्यपहिणगमनानुयोगा.....। कय विक्कया.....। तूलाकूट कंसकूट मानकूटा...........। उक्कोटन वञ्चन निकति साचियोगा.....। छेदन वध बन्धनविपरामोस आलोप सहसाकारा पटिविरतो होति।

"मज्झिम निकाय" पृ. ८६

अर्थ—वह बीजग्राम (सर्वजात के बीज) और भूतग्राम (सर्व प्राणिसमूह के समारम्भ=हिंसा) से निवृत्त है। वह एक बार

भोजन करने वाला होता है। वह रात्रि में नहीं चलने वाला होता है। विकाल भोजन से विरत होता है। नृत्य, गीत, वादित्र और अश्लील खेलों से दूर रहता है। माला, सुगन्धि, चन्दनादि विलेपन धारण, मण्डन और विभूषण से निवृत्त होता है। उच्चासन पर बैठने तथा शय्या पर सोने से निवृत्त होता है। सोना, चांदी को ग्रहण करने से दूर रहता है। कच्चा धनियां ग्रहण करने से प्रतिविरत होता है। कच्चा मांस ग्रहण करने से निवृत्त होता है। हाथी की छोटी बच्ची को लेने से दूर रहता है। दासी दास के स्वीकार से दूर रहता है। बकरे मेंढे को ग्रहण करने से निवृत्त होता है। मुर्गा तथा सूअर को ग्रहण करने से दूर रहता है। हाथी, बैल, घोड़ा, घोड़ी के ग्रहण से प्रतिविरत होता है। क्षेत्र वास्तु के ग्रहण से प्रतिविरत होता है। दौत्यार्थ प्रेषणगमन से प्रतिविरत होता है। लेन देन के व्यापार से प्रतिविरत होता है। कूट तूला (तराजू अथवा तोलने के बांट) कूटकांश्य (द्रव पदार्थ भर कर देने का नाप) और कूटमान (गज आदि नापने का उपकरण) को रखने से प्रतिविरत होता है। उत्कोटन आत्मोत्सर्ग, वञ्चना, निकृति-कपट, साचियोग से प्रतिविरत होता है। छेदन. वध, बन्धन, विपमरामर्श, आरोप, सहसाकार से प्रतिविरत होता है।

बौद्ध भिक्षु का परिग्रह

बौद्ध भिक्षु आज कल किस ढंग से रहते हैं, उनके पास क्या क्या उपकरण रहते हैं यह तो ज्ञात नहीं है परन्तु भिक्षुओं के प्राचीन वर्णन से तो यही पाया जाता है कि वे बहुत ही अल्पपरिग्रही रहते होंगे।

सामञ्ञ फल सुत्त में लिखा है—

"सेय्यथापि महाराज पक्खी सकुणो येन येनेव डेति सपत्त-भारोव डेति। एवमेव महाराज भिक्खू संतुट्ठो होति, कायपरिहार-केन चीवरेन कुच्छिपरिहारिकेन पिण्डपातेन। सो येन येनेव पक्क-मति समादायेव पक्कमति।"

अर्थ—"हे महाराज! जिस प्रकार कोई पक्षी जिस जिस दिशा में उड़ता है, उस उस दिशा में अपने पंखों के साथ ही उड़ता है, उसी प्रकार हे महाराज! भिक्षु तो शरीर के लिये आवश्यक चीवर से और पेट के लिये आवश्यक अन्न (भिक्षा) से सन्तुष्ट होता है। वह जिस जिस दिशा में जाता है, उस उस दिशा में अपना सामान साथ लेकर ही जाता है।"

ऐसे भिक्षु के पास अधिक से अधिक निम्नलिखित गाथा में बताई हुई आठ वस्तुएं रहती थीं।

तिचीवरं च पत्तो च वासि सूचि च बन्धनम्।
परिस्सावनेन अट्ठेते युक्त योगस्स भिक्खुनो॥

अर्थ—"तीन चीवर, पात्र, वासि (कुल्हाड़ी) सुई, कमरबन्ध और पानी छानने का कपड़ा ये आठ वस्तुएँ योगी भिक्षु के लिये पर्याप्त हैं।"

बौद्ध भिक्षु के आचार सम्बन्धी नियम

बुद्ध भगवान् का यह उपदेश था कि भिक्षु इस प्रकार अत्यन्त सादगी से रहें, यथापि मनुष्य स्वभाव के अनुसार भिक्षु इन

वस्तुओं को स्वीकार करने में भी नियम का उल्लंघन करते अर्थात् तीन चीवरों से अधिक वस्त्र लेते, मिट्टी या लोहे का पात्र रखने के बजाय ताम्बे या पीतल का पात्र लेते और चीवर बहुत बड़े बनाते। इससे परिग्रह के लिये अवसर मिल जाता। इसे रोकने के लिये बहुत से नियम बनाने पड़े। ऐसे नियमों की संख्या काफी बड़ी है।

"विनय पिटक" में भिक्षु संघ के लिये कुल २२७ निषेधात्मक नियम दिये गये हैं। उन्हें पातिमोक्ख कहते हैं। उनमें से दो अनियत (अनियमित) और अन्तिम ७५ सेखिय यानी खाने पीने, रहन, सहन, बात चीत आदि में सभ्यता के नियम बताने वाले हैं। इन्हें छोड़कर बाकी एक सौ पचास नियमों को ही अशोक काल में "पाति मोक्ख" कहते थे ऐसा लगता है। उससे पहले ये सारे नियम बने नहीं थे, और जो बने भी थे उनमें से बुनियादी नियमों को छोड़कर अन्य नियमों में उचित हेर फेर करने का संघ को पूरा अधिकार था। परिनिर्वाण से पहले भगवान् बुद्ध ने आनन्द से कहा था, हे आनन्द ! यदि संघ की इच्छा हो तो वह मेरी मृत्यु के पश्चात् साधारण नियमों को छोड दे।"

इससे यह स्पष्ट होता है कि छोटे मोटे या मामूली नियमों को छोडने या देश काल के अनुसार साधारण नियम में हेर फेर करने के लिये भगवान् ने संघ को पूरी अनुमति दे दी थी।

शरीरोपयोगी पदार्थों के प्रयोग में सावधानी

भिक्षुओं के लिये आवश्यक वस्तुओं में चीवर पिण्डपात (अन्न) शयनासन (निवास स्थान) और दवा चार मुख्य होती

थी। भगवान् का कहना था कि "पाति मोक्ख" के नियमों के अनुसार इन वस्तुओं का उपभोग करते समय भी विचार पूर्वक आचरण किया जाय।

चीवर का प्रयोग करते समय भिक्षु को कहना पडता था—मैं अच्छी तरह सोच कर यह चीवर पहनता हूँ। इसका उद्देश्य केवल यही है कि ठण्डक, गर्मी, मच्छर, मक्खियां, हवा, धूप, सांप, आदि से कष्ट न पहुँचे और गुह्य इन्द्रियों को ढांक लिया जाय।

पिण्डपात सेवन करते समय उसे यह कहना पडता था—मैं अच्छी तरह सोच विचार कर पिण्डपात सेवन करता हूँ। इसका उद्देश्य यह नहीं है कि मेरा शरीर क्रीड़ा करने के लिये समर्थ बन जाय, मत्त हो जाय, मण्डित और विभूषित हो जाय, बल्कि केवल यह है कि इस शरीर की रक्षा हो, कष्ट दूर हो और ब्रह्मचर्य में सहायता मिले। इस प्रकार मैं (भूख की) पुरानी वेदना को नष्ट कर दूँगा, और (अधिक खा कर) नई वेदना का निर्माण नहीं करूँगा। इससे मेरी शरीर यात्रा चलेगी, लोकापवाद नहीं रहेगा और जीवन सुखकारी होगा।

शयनासन का प्रयोग करते समय उसे कहना पडता—"मैं भली भांति सोच विचार कर इस शयनासन का प्रयोग करता हूँ, इसका उद्देश्य केवल यही है कि ठण्डक, गर्मी, मच्छर, मक्खियां, हवा, धूप, सांप, आदि से कष्ट न पहुँचे और एकान्त वास में विश्राम मिल सके।

औषधियों के प्रयोग करते समय उसे कहना पडता—मैं अच्छी तरह सोच विचार कर इस औषधीय वस्तु का प्रयोग करता हूँ। यह प्रयोग केवल उत्पन्न हुए रोग के नाश के लिये ही है और आरोग्य (स्वास्थ्य) की प्राप्ति होने तक ही यह करना है[1]।

बौद्ध भिक्षु की भिक्षाचर्या और भिक्षान्न

बौद्ध भिक्षाचर्या और भिक्षान्न के सम्बन्ध में हमें विशेष विवरण नहीं मिला, जैन श्रमणों के लिये भिक्षाचर्या के दोषों, भिक्षा ग्रहण योग्य कुलों, आदि का जितना विस्तृत वर्णन मिलता है, उसकी अपेक्षा से बौद्ध भिक्षु के भिक्षा तथा भिक्षान्न सम्बन्धी नियम नहीं मिलता यही कहना चाहिए। इसका कारण यह है कि बुद्ध ने अपने शिष्यों को कोरा भिक्षु ही नहीं बनाया था, किन्तु उन्हें अतिथि का रूप भी दे रक्खा था, और उन्हें भोजन का आमन्त्रण स्वीकार करने की छूट दे दी थी। परिणाम स्वरूप गृहस्थों का आमन्त्रण मिलने पर वे सब के सब गृहस्थ के घर जा कर भोजन कर लेते थे। इससे सिद्ध होता है कि बौद्ध भिक्षुओं के भिक्षा ग्रहण करने में ऐसा कोई विधान होना ही सम्भव नहीं था, जो सूत्रों में लिखा जाता। "मज्झिम निकाय" के चूल हत्थि पदोपम सुत्त के नवम सुत्त में बौद्ध भिक्षु की भिक्षाचर्या में कुछ खाद्य पदार्थ हेय बताये गये हैं जो ये हैं—

---

१. इस प्रकार चार शरीरोपयुक्त पदार्थों को सावधानी के साथ प्रयोग में लाने को "पच्चवेक्खण" (प्रत्यवेक्षण) कहते हैं और यह प्रथा आज भी चलता है।

'सो बीज गाम भूत गाम समारम्भा पटि विरतो होति + + +।
आमकधञ्ञ पटिग्गहणा····। आमकमंस पटिगहणा·······।

अर्थात्—"वह बीज ग्राम याने हरेक प्रकार के सजीव धान्यों का और अन्य वनस्पति आदि भूतग्रामों का समारम्भ करने से निवृत्त होता है। कच्चा हरा धनियां और कच्चा मांस लेने से प्रतिविरत होता है।"

इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध भिक्षु किसी प्रकार के धान्यों के बीज नहीं लेते थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि रन्धा हुआ अथवा सेका हुआ धान्य ही भिक्षा में ग्रहण करते होंगे। कच्चे मांस का प्रतिषेध करने से यह सिद्ध है कि वे पकाया हुआ मांस भिक्षा में लेते थे इसमें कोई शङ्का नहीं रहती।

धम्मपद में भिक्षु की भिक्षाचर्या को माधुकरी वृत्ति की उपमा दी गई है। वह नीचे की गाथा से स्पष्ट होता है—

यथापि भमरो पुष्पं वण्णगन्धं अहेठयं।
फलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे ॥६॥

अर्थ—जैसे भौंरा पुष्प के वर्ण तथा गन्ध को हानि नहीं पहुंचाता हुआ उसका मकरन्द रस लेकर अपना पोषण करता है, उसी तरह मुनि ग्राम में मधुकरी वृत्ति से भिक्षा ग्रहण करता है। इत्यादि पद्यों से यह प्रतीत होता है कि बुद्ध के समय माधुकरी वृत्ति करने वाले भिक्षु भी विद्यमान होंगे, परन्तु उनकी संख्या परिमित होनी चाहिए, और इसी कारण से देवदत्त ने सभी भिक्षुओं के

लिये माधुकरी वृत्ति से भिक्षा लेने और भोजन का आमन्त्रण न स्वीकार का नियम बनाने का आग्रह किया होगा जिसको कि बुद्ध ने स्वीकार नहीं किया।

बुद्ध कालीन भिक्षुओं में खाने पान सम्बन्धी कड़े नियम नहीं थे, फिर भी भिक्षुओं का जीवन सरल सादा और खान पान साधारण होता था। परन्तु ज्यों ज्यों समय बितता गया उनके खान पान की सादगी में भी परिवर्तन होता गया। बुद्ध के जीवन काल में जो पदार्थ भिक्षुओं के लिये अयोग्य माने जाते थे वे ही धीरे धीरे भिक्षु के जीवन की उपयोगी सामग्री मानी जाने लगी। विमान वत्थु में भिक्षुओं के देने योग्य अनेक वस्तुओं के दान की प्रशंसा की गई है, और उस प्रकार के दान से देव विमान की प्राप्ति होना बताया है। जो नीचे लिखे कतिपय उद्धरणों से ज्ञात होगा—

फाणितं, उच्छुखंडिकं, तिंबरूकं, कक्कारिकं, एलालुकं, वल्लीफलं फारूसकं, हत्थप्पतापकं, साकमुट्ठिं, मूलकं.........।

निंबमुट्ठिं, अहं अदासिं भिक्खुनो पिण्डाय चरंतस्स....पे....॥७५॥

अंबकञ्जिकं, दोणि निमुज्जलं, कायबन्धनं, अंसवट्टकं, अयोग पट्टं, विधूपनं, तालवंटं, मोरहत्थं, छत्तं, उपानहं, पूवं, मोदकं, सक्खलिं।   (विमान वत्थु पृ० ३०)

अर्थ—पाणित (गन्ने का परिपक्वरस-राब शक्कर की पूर्वावस्था) ऊख का टुकड़ा, टिम्बरूफल, ककड़ी, घीभड़ा, बेल का

फल, बिम्बिफलादि, पक्कलक, हस्त प्रताक, शाकमुष्टि, मूली और निम्बमुष्टि भिक्षाचर्या में फिरते भिक्षु को मैंने दिया।

खट्टी काञ्जी, दोणि निमुज्जन, कमरबन्ध, अंसबद्धक, अयोग पट्ट, विभूषन पंखा, मोरपिच्छ, छत्र, जूता, पूप, लड्डू, शाकलि, ...इन चीजों के दान से देव विमान की प्राप्ति बताई गई है।

विमानवत्थु के उक्त उद्धरणों में कई ऐसे खाद्य पदार्थों को भिक्षु-देय बताया है, जो शायद बुद्ध के समय में वे ग्राह्य नहीं थे। जैसे कि गन्ना, तिम्बरू, ककड़ी, चीभड़ा, शाकमुष्टि, मूली आदि।

इसी प्रकार अयोगपट्ट, तालवृन्त, मोरहस्तक, छत्र, जूता, आदि उपकरण प्रारम्भ में बौद्ध भिक्षु के उपकरणों में परिगणित नहीं थे, जो बाद में ग्रहण किये गये। यही नहीं किन्तु उनके दान का फल स्वर्ग विमान की प्राप्ति बताया गया।

अहं अन्धक विन्दस्मिं बुद्ध सादिच्च बन्धुनो।
अदासिं कोल संपाकं, कञ्जिकं तेल धूपितं ॥५॥

पिप्पल्या लसुणेन च, मिस्सं लाभञ्जकेन च।
अदासिं उजुभूतस्मिं, विप्पसन्नेन चेतसा ॥६॥

(विमान वत्थु पृ० ३८)

इन्दीवरानं हत्थकं अहमदासिं भिक्खुनो पिण्डाय चरन्तस्स।
एसिकानं उण्णतस्मिं नगरे वरे पेण्णकते रम्मे ॥१२॥
ओदातमूलकं हरीतपत्तं उदकम्हि सरे जातमहमदासिं।
भिक्खुनो पिण्डाय चरन्तस्स एसिकानं नगरे वरे पेण्णकते रम्मे ॥१६॥

अहं सुमनसा मनुस्स सुमन मकुलानि दन्तवण्णानि अह-मदासिं।

भिक्खुनो पिण्डाय चरन्तस्स एसिकानं उण्णतस्मिं नगरे वरे पुण्णकते रम्मे ॥२६॥

अर्थ—मैंने अन्धक वृन्द ग्राम में आदित्यों के बन्धु भगवान् बुद्ध को कोलपाक का दान दिया, और ऋजुभूत में प्रसन्न चित्त से तेल से बघारा हुआ पीपर लहसुन और लामञ्जक से मिश्रित काञ्जिक प्रदान किया।

मैंने एसिको के पेण्णकत नामक रम्य नगर में भिक्षा भ्रमण करते हुए भिक्षु को इन्दीवर कमल में पुष्पों का गुच्छा प्रदान किया।

एसिकों के पेण्णकत रम्य नगर में भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए भिक्षु को मैंने तालाब के जल में उत्पन्न हुई नीले पत्रों वाली श्वेतमूलिका का दान दिया।

एसिकों के पेण्णवत रम्य नगर में भिक्षा भ्रमण करते हुए भिक्षु को मैं ने प्रसन्न मन से दातुनों का दान दिया।

ऊपर के पद्यों में लहसुन मिश्रित काञ्जिक बुद्ध को देने का निर्देश मिलता है, इससे जाना जाता है कि जैन वैदिक श्रमणों की तरह बुद्ध और उनके श्रमण लहसुन प्याज आदि खाने में दोष नहीं गिनते होंगे।

"मज्झिम निकाय" में बौद्ध भिक्षु को पुष्पमाला गन्ध का त्यागी बताया है, तब "विमान वत्थु" में भिक्षु को इन्दीवर आदि

पुष्पहस्त का दान करके देव विमान का लाभ बताया गया है। इसी प्रकार "मज्झिम निकाय" में भिक्षु को हरा धनियां अथवा कच्चे हरे धान्य (आमधञ्जिय) से प्रतिविरत माना गया है, तब "विमान वत्थु" में हरे पत्तों वाली श्वेत मूलिका दान देने वाले दाता को देव विमान आदि का लाभ बताया है। इन सब बातों से इतना तो निश्चित हो जाता है कि "मज्झिम निकाय" के समय के भिक्षुओं के आचार मे "विमान वत्थु" के निर्माण काल तक बहुत कुछ परिवर्त्तन हो चुका था। इस परिवर्त्तन की प्रतिध्वनि आगे लिखो जाने वाली थेर गाथाओं में भी पाई जाती है।

बौद्धभिक्षु का अहिंसोपदेश

जैन ग्रन्थों में जिस प्रकार प्राणातिपातादि विरति और अहिंसक बनने का उपदेश मिलता है, वैसे बौद्ध ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर अहिंसा का महत्त्व बताने वाला उपदेश दृष्टिगोचर होता है। इस बात के समर्थन में हम कतिपय ग्रन्थों के थोड़े से अवतरण देंगे।

सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥१॥

(धम्मपद पृ० २०)

अर्थ—सर्वजीव दण्ड से त्रस्त होते हैं, सब मृत्यु से भयभीत रहते हैं, इस वास्ते अपनी आत्मा का उपमान करके न किसी प्राणी को मारे न मरवावे।

यो प्राणमतिपातेति, मुसावादं च भासति ।
लोके अदिन्नं आदीयंति परदारं च गच्छति ॥१२॥
सुरामेरयपानं च यो नरो, अनुयुञ्जति ।
इधेऽव मेसो लोकेस्मिं, मूलं खणाति अत्तनो ॥१३॥

(धम्मपद पृ० ३८)

अर्थ—जो प्राणियों को प्राणमुक्त करता है, झूठ बोलता है, लोकों में अदत्त (परचीज) उठाता है, पर स्त्री गमन करता है, और जो पुरुष मदिरा मैरेय नामक मादक पदार्थ पीता है, वह इसी लोक में अपनी जड़ को खोदता है ।

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियोति पवुच्चति ॥

(धम्मपद पृ० ४१)

अर्थ—जिस कार्य के करने से पर प्राणों की हिंसा होती है, उस कार्य के करने से कोई आर्य नहीं बनता, सर्व प्राणों का अहिंसक ही आर्य नाम से पुकारा जाता है ।

निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च ।
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥

(सुत्त निपात पृ० ५८)

अर्थ—त्रस और स्थावर को मारने की मानसिक, वाचिक, कायिक, प्रवृत्तियों को छोड़ कर न स्वयं प्राणिघात करता है न दूसरों से करवाता है मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ।

विरतो मेथुना धम्मा, हित्वा कामे परोवरे।
अविरुद्धो असारत्तो, पाणेसु तस थावरे ॥२६॥
यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥२७॥
(सुत्त निपात पृ० ६५)

अर्थ—मैथुन प्रवृत्ति से निवृत्त हो, परम्परागत काम भोगों को छोड़ कर त्रस स्थावर प्राणियों के ऊपर अरक्त द्विष्ट बने और जैसा मैं हूँ वैसे ये हैं, तथा जैसे ये हैं वैसा मैं हूँ इस प्रकार आत्म-सदृश मानकर न किसी का घात करे न करवाये।

यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जायते।
मित्तं सो सब्भूतेसु वेरं तस्स न केनचीति ॥
(इति वुत्तक पृ० २०)

अर्थ—जो न स्वयं किसी का घात करता है, न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, वह सर्व प्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नहीं होता।

तथागतस्स बुद्धस्स, सब्बभूतानुकंपिनो।
परियायवचनं पस्स, द्वे च धम्मापकासिता ॥
पापकं पस्सथ चेकं, तत्थ चापि विरज्जथ।
ततो विरत्त चित्ता से, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ ॥
(इति वुत्तक पृ० ३०)

अर्थ—सर्व जीवों पर दया रखने वाले तथागत बुद्ध का परियाय वचन देखो, जिनने दो धर्म प्रकाशित किये हैं।

पाप को देखो और उससे विरक्त हो, यदि तुम पाप से विरक्त-चित्त हो जाओगे तो सर्वदुःखों का नाश कर दोगे।

यतं चरे यतं चिट्ठे, यतं अच्छे यतं सये।
यतं सम्मिञ्जये भिक्खू, यत मेनं पसारये॥

(इतिवुत्तक पृ० १०१)

अर्थ—भिक्षु यतना से खड़ा रहे, यतना से बैठे, यतना से सोये, यतना से संकुचित करे, और यतना से फैलाये।

सुख कामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं॥
सुख कामानि भूतानि, यो दण्डेन न विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो लभते सुखन्ति॥

(उदान पृ० १२)

अर्थ—सर्व प्राणी सुख को चाहने वाले हैं, इनका जो दण्ड (मानसिक, वाचिक, कायिक प्रहार) से घात करता है, वह अगले जन्म में इष्ट सुख को नहीं पाता।

सर्व प्राणी सुख के चाहने वाले हैं, इनका जो दण्ड से घात नहीं करता है, वह सुख का अभिलाषी मनुष्य अगले जन्म में सुख को प्राप्त करता है।

उद्दिष्टकृत और आमगन्ध

बुद्ध के समय में उनके भोजन के सम्बन्ध में टीका टिप्पणियां होती ही रहती थीं, क्योंकि समकालीन अन्य सम्प्रदायों के श्रमणों की भिक्षाचर्या में उद्दिष्टकृत (उनके लिये बनाया गया) भोजन तथा मांस लेने का कड़ा प्रतिबन्ध था, तब बुद्ध के भिक्षुओं में इन दोनों बातों की छूट थी। वे निमन्त्रण को स्वीकार कर उनके लिये बनाया गया भोजन निमन्त्रण दाता के घर जाकर खा लेते थे। उनके लिये बनाया हुआ भोजन वे अपने स्थान पर भी ले आते थे और मांस मत्स्य भी भिक्षान्न में ग्रहण कर लेते थे। इन दो प्रकार के भोजनों में से भगवान् महावीर के अनुयायी निर्ग्रन्थ श्रमण दोनों का विरोध करते थे। तब पूर्ण काश्यप आदि अन्य सम्प्रदायों के नेता आमगन्ध का खास विरोध करते थे. क्योंकि वैदिक सम्प्रदाय के सन्न्यासियों को उद्दिष्टकृत सर्वथा वर्जित नहीं था, जब कि आमगन्ध उनके लिये सर्वथा हेय था।

बौद्ध भिक्षुओं के आमन्त्रित भोजन पर जैन श्रमण कैसे कठोर वाक्य प्रहार करते थे, उसका एक उद्धरण यहां देते हैं—

तेव बीओदगं चेव, तमुद्दिसाय जं कडं ।
भोच्चा झाणं झियायंति, अखेयन्ना समाहिया ॥२६॥

जहा ढंकाय कंकाय, कुलला मग्गु कासिही ।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥२७॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
विस एसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा ॥१८॥
(*सूत्रकृताङ्ग एकादश अ०)

अर्थ—आग, सजीवधान्य, कच्चा पानी का उपयोग कर अपने लिये बनाया हुआ अन्न खाकर जो ध्यान करते हैं उन्हें पर पीड़ा के अनभिज्ञ असमाधि प्राप्तकहना चाहिए ।

जैसे ढंक, कंक, कुरर, मद्गु, आदि पक्षी मत्स्य की खोज में स्थिर चित्त होकर ध्यान करते हैं-वह ध्यान मलिन और अधर्म्य है

इसी प्रकार अमुक श्रमण जो मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं, वे कंक पक्षी से भी अधम इन्द्रियों की विषयैषणा का ध्यान करते हैं ।

निर्ग्रन्थ श्रमण उद्दिष्टकृत आहार और आमगन्ध दोनों को समान मानते थे । उनका कहना था कि श्रमण के निमित्त अन्य जन्तुओं का समारम्भ करके बनाया गया भोजन भी एक प्रकार का आमगन्ध ही है ।

भगवान् महावीर ने उन्हें ताकीद दे रक्खी थी कि—

आमगन्धं परिन्नाय निरामगन्धो परिव्वये ।

अर्थ—आमगन्ध को समझ कर निर्ग्रन्थ श्रमण निरामगन्ध होकर विचरे ।

सव्वेसि जीवाण दयट्ठयाये सावज्ज दोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठ भत्तं परिवज्जयंति ॥

अर्थ—सर्व जीवों की दया के खातिर सावद्य दोष को वर्जित करने वाले ज्ञातपुत्रीय ऋषि उस दोष की शङ्का करते हुए उद्दिष्ट भक्त को वर्जित करते हैं।

आमगंध के विषय में बुद्ध और पूरण कश्यप का संवाद

पूरण कश्यप यद्यपि आत्मा को अमर मानने वाले थे, फिर भी ब्राह्मण सन्यासी होने के नाते मांस नहीं खाते थे, इतना ही नहीं बल्कि वे मांस खाने वाले आजीविक मक्खलि गोशाल और बुद्ध की टीका किया करते थे। एक समय कश्यप की बुद्ध से भेंट हो गई, कश्यप ने उद्दिष्टकृत भोजन की तरफ संकेत कर बुद्ध से कहा—

यदग्गतो मज्झतो सेसतो वा, पिण्डं लमेथ परदत्तूपजीवी।
नालं थुतुं नोऽपि निपच्चवादी, तं वापिधीरा मुनिं वेदयन्ति॥

अर्थ—जो प्रथम मध्य में अथवा अन्त में परदत्त पिण्ड को पाकर अपना निर्वाह करता है, न दाता की स्तुति करता है, न उसके विरुद्ध कोई शब्द बोलता है, उसको धीर पुरुष मुनि बताते हैं।

काश्यप के इस आकूत को समझ कर बुद्ध ने उसे तुरन्त नीचे मुजब उत्तर दिया—

यदस्नमानो सुकतं सुनिट्ठितं, परेहि दिन्नं पयतं पणीतम्।
सालीनमन्नं परिभुञ्जमानो, सो भुञ्जसि कस्सप आमगंधं॥

(सुत्त निपात पृ० २४)

अर्थ—कश्यप के आमगन्ध सम्बन्धी आक्षेपों का उत्तर देते हुए बुद्ध ने कहा हे काश्यप ! जो अच्छी तरह बनाया हुआ और अच्छी तरह पकाया हुआ शाली धान्य का स्निग्ध भोजन दूसरों से दिया हुआ खाते हुए तुम स्वयं आमगन्ध भोजन करते हो।

न आमगंधो मम कप्पतीति, इच्चेवत्वं भासति ब्रह्मबन्धु।
सालीनमन्नं परिभुञ्जमानो, सकुन्तमंसेहि[1] सुसंखतेहि।
पुच्छामि तं कस्सप एतमत्थं, कथप्पकारो तव आमगंधो॥३॥

अर्थ—हे काश्यप ! मुझे आमगन्ध नहीं खपता यह कहते हुए तुम सुसंस्कृत पक्षी मांस से मिश्रित किया हुआ शाली का भोजन करते हो, तब मैं पूछता हूँ हे ब्रह्मबन्धु तुम्हारा आमगन्ध किस प्रकार का है।

पाणातिपातोवधच्छेदबन्धनं, थेय्यं मुसावादो निकति वञ्चनानिच
अज्झेन कुत्तं परदार सेवना, एसामगंधो नहि मंस भोजनं॥४

(सुत्त निपात पृ० २५)

अर्थ—प्राणाति पात, वध, छेदन, बन्धन, चौर्य, मृषावाद, माया, ठगाई, अभिचार, परस्त्री गमन यह आमगन्ध है न कि मांस भोजन।

१—वैदिक धर्मशास्त्रों में अतिथि के लिये मांसौदन तैयार करने का निर्देश मिलता है, इस बात को ध्यान में रखकर बुद्ध ने पूरण कश्यप पर शकुन्त मांस से संस्कृत ओदन खाने का मिथ्या आक्षेप किया है, क्योंकि वैदिक धर्म सूत्रों में अतिथि संन्यासी को नहीं, किन्तु गृहस्थ ब्राह्मण को ही माना है। संन्यासी मांसौदन नहीं, निरामिष भोजन लेते थे।

बुद्ध अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहते हैं

न मच्छ मंसान ननासकत्वं, ननग्गियं जल्लं खराजिनानि वा
नाग्गिहुत्तस्सुपु सेवना वा, ये वापि लोके अमरा वहुतपा।
मन्ताहुतियञ्ज मंतय सेवना, सोधेंति मच्चं अवितिण्णकंखं॥११

अर्थ—मत्स्य मांस का परित्याग, नग्नता, शरीर पर मैल धारण करना, खुरदरा चर्म रखना, अग्निहोत्र की उपसेवा, अन्य भी लोक में प्रचलित दीर्घ तपस्यायें, मन्त्रपूर्वक आहुतियां देना, शीतोष्णादि सहन करना ये उस मनुष्य को शुद्ध नहीं करते जिसकी तृष्णा निवृत्त नहीं हुई है[१]।

१—सुत्तनिपात में आमगन्ध सम्बन्धी बुद्ध का वार्तालाप तिष्य नामक ब्राह्मण के साथ होने का लिखा है. परन्तु हमने यह सम्वाद बुद्ध और पूरण काश्यप के बीच होना बताया है, क्योंकि गौतम बुद्ध के पहले अन्य बुद्धों का होना, अथवा उनके सुत्तों का अस्तित्व किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। यदि बुद्ध के पहले काश्यप बुद्ध का शासन होता और उसके धर्म के नियम प्रतिपादन करने वाले शास्त्र होते तो संन्यास लेकर गौतम को अन्यान्य संन्यासियों के पास धार्मिक शिक्षा लेने नहीं जाना पड़ता, परन्तु बुद्ध अनेक संन्यासियों के पीछे फिरे, उनके सम्प्रदाय के धार्मिक नियम सीखे, उनकी तपस्याओं का आचरण किया, फिर भी उन्हें बोधिज्ञान प्राप्त न हुआ तब उन्होंने अपनी खोज से मध्यम मार्ग निकाला और उसी के अनुसार अपना नया धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित किया है। इससे निश्चित है कि गौतम बुद्ध के पहले किसी बुद्ध का शासन तथा सम्प्रदाय प्रचलित नहीं था। विपस्सी आदि छः अथवा दीपङ्कर आदि चोबीस बुद्धों की कहानियां पीछे से गढ़ी गई मालूम होती हैं।

बुद्ध और इनके भिक्षुओं की दान प्रशंसा

जिस प्रकार ब्राह्मणों ने यज्ञ विधियों के प्रसंग में सुवर्ण दक्षिणा का और ग्रहण संक्रान्ति में भूम्यादि दानों का महत्त्व बताया है, उसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थकारों ने उनके संघ को आवश्यक पदार्थों का दान देने का महान् फल बताया है। इस सम्बन्ध में सामान्य बौद्ध ग्रन्थकारों की तो बात ही जाने दीजिये बुद्ध स्वयं किस प्रकार दान की प्रशंसा करते थे, वह निम्नोद्धृत पद्यों से जाना जा सकता है—

अञ्ञेन च केवलिनं महेसिं, खीणासवं कुक्कुच्चकपसंतं।
अन्नेन पानेन उपट्ठहस्सु, खेत्तं हितं पुञ्ञ पेक्खस्स होति॥२७

ये अन्त दीपा विचरन्ति लोके, अकिंचना सब्ब विधिप्पमुत्ता।
कालेसु तेसु हत्यं पवेच्छे, यो ब्राह्मणो पुञ्ञपेक्खोयजेथ॥१५

(सुत्त निपात)

अर्थ—(भगवान् बुद्ध कहते हैं) स्वयं तथा अन्य द्वारा केवली क्षीणास्रव महर्षि की अन्न पान द्वारा उपचर्या करो, पुण्यार्थी दाता के लिये ऐसा ही दान श्रेय होता है।

पदार्थों के प्रकाशन में दीपक समान, त्यागी, सर्व विधि प्रवृत्तियों से मुक्त ऐसे ज्ञानी जो लोक में विचरते हैं उनके लिये पुण्यार्थ यज्ञ करने वाला ब्राह्मण समय पर दान के लिये हाथ लम्बायें।

उपर्युक्त दान प्रशंसा बुद्ध ने स्वयं संयत भाषा में की है, परन्तु इनके भिक्षु अपने पूज्य तथागत की दान प्रशंसा का अनुसरण करते हुए कहां तक पहुँचे हैं, यह सचमुच दर्शनीय प्रसङ्ग है। यहां हम "विमान वत्थु" के कुछ उद्धरण देंगे। जिससे पाठक गण जान सकेंगे, कि बौद्ध भिक्षु अपने उपयोग में आने वाले पदार्थ दानों की किस प्रकार से बढ़ा चढ़ा कर प्रशंसा करते थे।

यो अन्धकारम्हि तिमांसकायं, पदीपकालम्हि ददाति दीपं।
उपज्जति जोतिरसं विमानं, पहुतमल्लं वहुपुण्डरीकं ॥७॥

(विमान वत्थु पृ० ७)

अर्थ—जो अन्धकार में दीपक काल में भिक्षुओं के स्थान पर अन्धकार नाशक दीपक रखता है, वह अनेक पुष्पमालाओं से शोभित और श्वेतकमलों की रचना से अलंकृत ज्योतीरस विमान में उत्पन्न होता है।

नारी सव्वङ्ग कल्याणी, भत्तु च नोमदस्सिका।
एतस्सा चामदानस्स, कलं नाग्घंति सोलसीं ॥७॥
सतं कञ्जा सहस्सानि, आमुक्क मणिकुण्डला।
एतस्सा चामदानस्स, कलं नाग्घंति सोलसीं ॥८॥
सतं हेमवता नागा, ईसा दन्ता उरूल्हवा।
सुवर्णकच्छा मातंगा, हेमकप्प निवासमा ॥
एतस्सा चामदानस्स, कलं नाग्घंति सोलसीं ॥९॥

चतुन्नं महादीपानं, इस्सरं योध कारये ।
एतस्सा चामदानस्स, कलं नाग्घंति सोलसीम् ॥१०॥
(विमान वत्थु पृ० १६)

अर्थ—सर्वाङ्ग सौन्दर्ययुक्त ऐसी पति को अनुपम प्रेम दिखलाने वाली कल्याणी स्त्री का दान भी इस आचाम कलम शालि ओदन दान की सोलहवीं कला को नहीं पा सकता ।

मणिकुण्डलों से विभूषित लाख कन्याओं का दान भी इस आचाम कलम शालि ओदन के दान की सोलहवीं कला को प्राप्त नहीं कर सकता ।

ईशा के सदृश दांत और उरू के सदृश शुण्डादण्ड वाले सुवर्ण से भूषित सौं हाथियों का दान भी इस आचाम दान की सौलहवीं कला को प्राप्त नहीं कर सकता ।

कोई चार महाद्वीपों का ऐश्वर्य प्रदान कर दे फिर भी वह दान इस आचाम दान की सौलहवीं कला को प्राप्त नहीं कर सकता ।

यजमानं मनुस्सान पुञ्जपेखान पाणिनं ।
करोतं ओपधिकं पुञ्जं संघे दिन्नं महप्फलं ॥२४॥
एसोहि संघो विपुलो महग्गतो, एसप्पमेय्यो उदधीवसागरो ।
एतेहि सेट्ठा नर विरिय सावका, पभङ्करा धम्मकथमुदीरयंति॥२५
तेसं सुदिन्नं सुहुतं सुयिट्ठं यं संघनुद्दिस्स ददंति दानं ।
सादक्खिणा संघगता पतिट्ठिका, महप्फला लोकविदूहि वण्णिता

एतादिसं पुञ्जमनुस्सरंता, ये वेदयता विचरंति लोके।
विनेय्य मच्छेर मलं समूलं, अनिन्दिता सग्गमुपेति ठानंति॥२७
(विमान वत्थु पृ० ३३)

अर्थ—जो पुण्य की अपेक्षा रखने वाले यजमान मनुष्य हैं, वे यदि संघ को दान करे तो वह दान महाफल देने वाले औपधिक पुण्य को उत्पन्न करता है।

यह संघ बड़ा विशाल और महार्घ्य है, यह समुद्र की तरह अप्रमेय है इस संघ के अंगभूत ये श्रेष्ठ पुरुषार्थी और तेजस्वी श्रावक धर्मकथा करते हैं।

जो संघ को लक्ष्य करके दान देते हैं, उनका दान ही सुदान है, उनका हवन ही सुहुत है, उनकी इष्टि ही यज्ञ है और संघ को दी हुई वह दक्षिणा ही विद्वानों द्वारा महाफलवती कही गई है।

इस प्रकार का पुण्य करते हुए जो विद्वान् लोक में विचरते हैं, वे समूल मात्सर्यरूप मल को दूर करके अनिन्दनीय बन कर स्वर्ग स्थान को प्राप्त करते हैं।

उक्त विमान वत्थु के कतिपय पद्यों से यह निश्चित हो जाता है कि गौतम बुद्ध और इनके शिष्य बौद्ध भिक्षु दान का खूब उपदेश देते रहते थे। पूरण कश्यप आदि अन्य सम्प्रदाय प्रवर्त्तक इस प्रवृति का खुल्लम खुल्ला विरोध करते थे कि मांस भक्षक संन्यासियों को दान देने में कोई लाभ नहीं है। इस विषय में महावीर और इनके अनुयायी श्रमणों का अभिप्राय सब से निराला था। कई

लोग पूछते—श्रमण के निमित्त रसोई बना कर उन्हें जिमाना चाहिए या नहीं ? तब दूसरे कहते जो मत्स्य मांस तक को नहीं छोड़ते उनको देने से क्या पुण्य होता होगा, इत्यादि एक दूसरे के विरोध में पूछी जाने वाली बातें सुनकर भगवान् महावीर अपना सिद्धान्त व्यक्त करते हुए उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे। जिसका संक्षिप्त निरूपण नीचे मुजब "सूत्रकृताङ्ग" सूत्र में मिलता है—

भूयाइं च समारम्भ, तमुद्दिसाय जं कडं।
तारिसं तु न गिरहेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥१४॥
पूइ कम्मं न सेविज्जा, एस धम्मे वुसीम ओ।
यं किञ्चि अभिकं खेज्जा, सव्वसो तं न कप्पए ॥१५॥
हणंतं णाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइं दिए।
ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु नगरे सु वा ॥१६॥
तहागिरं समारम्भ, अत्थि पुएणंति णो वए।
अहवा णत्थि पुएणंति, एवमेयं महब्भयं ॥१७॥
दाणट्ठयाय ये पाणा, हम्मंति तस थावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थित्ति णो वये ॥१८॥
जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहा विहं।
तेसिं लाभं तरायंति, तम्हा णत्थित्ति णो वये ॥१९॥
जेय दाणं पसं संति, वहमिच्छंति पाणिणं।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥२०॥

दुह श्रोवि तेण भासंति, अत्थि वा णत्थि वा पुणो ।
आयंरयस्स हेच्चाणं, निव्वाणं पाउणंति ॥२१॥
(सूत्र कृताङ्ग)

अर्थ—प्राणियों का समारम्भ (हिंसा) करके श्रमण के उद्देश्य से तैयार किया हुआ हो, ऐसे आहार पानी को संयमधारी ग्रहण न करे ।

पूति कर्म (शुद्ध आहार में मिलाया हुआ दूषित आहार) सेवन न करे, यह इन्द्रियों को वश में रखने वाले श्रमण का धर्म है, जिस किसी अग्राह्य पदार्थ के ग्रहण की इच्छा हुई हो वह कहीं से भी लेना अकल्पनीय है ।

ग्रामों में तथा नगरों में अनेक श्रमण भक्तों के कुटुम्ब होते हैं, अगर वे श्रमण के लिये आहार पानी निमित्तक किसी प्रकार का हिंसा समारम्भ करते हों तो श्रमण उस कार्य में अपनी अनुमति न दे न उस प्रकार का आहार पानी ग्रहण ही करे ।

कोई यह पूछे कि श्रमणार्थ तैयार किये हुए आहार पानी के दान में पुण्य है ? या नहीं ? इसके उत्तर में पुण्य है यह न कहे, इन दोनों प्रश्नों का स्वीकारात्मक उत्तर देना महाभय जनक है ।

दान के लिये जो त्रस तथा स्थावर प्राणी मारे जाते हैं, उनकी रक्षा के लिये ऐसे दान से पुण्य होता है यह वचन भी न बोले ।

जिनके लिये आरम्भ करके वह अन्न पान तैयार किया जाता हैं, उनको लाभान्तराय होगा इस कारण से पुण्य लाभ नहीं है ऐसा वचन भी न कहे ।

जो ऐसे दान की प्रशंसा करते हैं, वे प्राणियों का वध चाहते हैं और जो इसका निषेध करते हैं, वे इस दान पर निर्भर रहने वालों की जीविका का नाश करते हैं।

इस कारण से सच्चे श्रमण ऐसे दानों के सम्बन्ध में पुण्य है, पुण्य नहीं है, यह दोनों प्रकार की भाषा नहीं बोलते। इस प्रकार आरम्भ तथा अन्तराय जनक वचन न बोलने वाले श्रमण आत्मा को कर्मरज से मुक्त करके निर्वाण को प्राप्त हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में लेखकों की अतिशयोक्तियां

बुद्ध के निर्वाण के सातवें दिन एकत्रित हुए भिक्षुओं में से सुभद्र नामक एक वृद्ध भिक्षु ने महाकश्यप से कहा—हे आयुष्मन्! शोक न करो, विलाप न करो, हम मुक्त हुए हैं, यह तुम को कल्पता है यह नहीं कल्पता है इस प्रकार से उस महा श्रमण ने हमें बहुत तंग कर दिया था, अब हम जो चाहेंगे वह करेंगे जो न चाहेंगे वह न करेंगे। उक्त वचन को स्मरण करते हुए महाकश्यप ने सोचा इस प्रकार के भिक्षु शास्ता के बिना धर्म के सरे स्वरूप को बहुत जल्दी बदल देंगे। यह सोच कर भिक्षु संघ में से महाकश्यप उपालि आदि राजगृह पहुँचे और सात महिनों तक रह कर बुद्ध के उपदेशों और आगमों को सुना सुना कर व्यवस्थित किये।

राजगृह की संगीति के बाद भी धीरे धीरे भिक्षुओं ने अपने आचरणों में परिवर्त्तन करना जारी रक्खा। बुद्ध के इस कथन का यह परिणाम था कि जो उन्होंने अपने अन्तिम जीवन में भिक्षुओं

से कहा था "हे भिक्षुओं। मेरी कही हुई बातों पर ही निर्भर न रहना, परिस्थिति के वश तुम मेरे बताये गये नियमों में परिवर्तन भी कर सकते हो।"

मौर्य सम्राट् अशोक के समय तक राजगृह में व्यवस्थित किये गये बौद्ध साहित्य में बहुत सा परिवर्त्तन हो चुका था। भिक्षुओं ने अपने आचार नियमों को अनुकूल आने वाले बहुत से नये ग्रंथ बना कर पुराने ग्रन्थों में दाखिल कर दिये थे। कई नये ग्रन्थांश पुराने ग्रन्थों के अङ्ग बन चुके थे, परिणाम स्वरूप अशोक के समय में दुबारा व्यवस्थित किया गया।

यह सब होते हुए भी बौद्धपिटकों में प्रक्षेप आदि बन्द होना सर्वथा बन्द नहीं हुआ। इसका परिणाम यह है कि आज हम बौद्ध ग्रन्थों में अनेक एक दूसरी से विरुद्ध और अतिशयोक्ति पूर्ण बातें पाते हैं।

बौद्ध धर्म के अभ्यासी और अनुयायी धर्मानन्द कौशाम्बी जैसे व्यक्ति बुद्ध के निर्वाण समय में बौद्ध भिक्षुओं की संख्या पांच सौ की बताते हैं तब "बाहीर निदान वर्णना" नामक बौद्ध-ग्रन्थ बुद्ध के निर्वाण स्थान पर सात लाख बौद्ध भिक्षुओं का इकट्ठा होना बताता है। देखिये नीचे की पंक्तियां—

"परिनिब्बुते भगवति लोकनाथे भगवतो परिनिब्बाने सन्निपतितानं सूत्तनं भिक्खुसतसहस्सानं संघत्थेरो, आयस्मा महाकस्सपो सत्ताह परिनिब्बुते भगवति सुभद्देन वुड्ढपब्बजितेन अलं आवुसो मा सोचत्थ इत्यादि"

अर्थात्—भगवान् लोकनाथ के निर्वाण होने पर निर्वाण स्थान पर आये हुए सात लाख भिक्षुओं के समक्ष संघ स्थविर आयुष्मान् महाकश्यप को निर्वाण के सातवें दिन सुभद्र नामक वृद्ध भिक्षु ने कहा–हे आयुष्मन् शोक न करो इत्यादि।

उपर्युक्त उद्धरण में बुद्ध निर्वाण के सातवें दिन निर्वाण स्थान पर एकत्रित हुए भिक्षुओं की संख्या सात लाख बताई है, तब अन्य भिक्षु संख्या कितनी होगी, सात दिन में तो पचास पचहत्तर कोश के अन्दर के ही भिक्षु आ सकते हैं, तब बुद्ध ने सारे उत्तर भारत में अपने धर्म का प्रचार किया था और बौद्ध भिक्षु उन सारे प्रदेशों में घूमा करते थे। इस स्थिति में "बाहिर निदान वरर्णना" लेखक के मत से भिक्षुओं की संख्या कितनी होनी चाहिए, इसका पाठक गण स्वयं विचार करेंगे।

इसी प्रकार अशोक के समय में द्वितीय धर्म संगीति पर उपस्थित होने वाले भिक्षु भिक्षुणियों की संख्या का आंकड़ा बताते हुए बाहिर निदान वरर्णनाकार ने निम्नलिखित वर्णन किया है देखिये–

तस्मिं च खणे सन्निपतिता असीति भिक्खू कोटियो अहेसुं भिक्खुनीनं च छन्नवुति सत सहस्सानि तत्थ खीणा सवा भिक्खू एव सत सहस्स संखा अहेसुं।

(बाहिर नि० पृ० ४६)

अर्थ—उस मेले में अस्सी करोड़ भिक्षु एकत्रित हुए जिनमें क्षीणाश्रव भिक्षु ही एक लाख परिमित थे और भिक्षुणियां छयानवें लाख की संख्या में थी।

उपर्युक्त जो भिक्षुओं की संख्या दी है, उस पर हम टीका टिप्पणी करना नहीं चाहते। पाठक वर्ग से केवल यह प्रश्न करना चाहते हैं कि तत्कालीन भारतवर्ष की जनसंख्या का आंकडा भी अस्सी करोड का था या नहीं इसका कोई निर्णय होतो कहिए। हम जानना चाहते हैं "पाली ग्रन्थ" में विपस्सी बुद्ध से लेकर गौतम तक सात बुद्ध होना लिखा है, तब "बुद्धवंशो" में तरणंकर १ मेघंकर २, शरणंकर ३, दीपंकर ४, कौण्डिन्यं ५, मंगल ६, सुमनस ७, रैवत ८, शोभित ९, अनोमदस्सी १०, पदुम ११, नारद १२, पदुमोत्तर १३, सुमेध १४, सुजात १५, पियदस्सी १६, अत्थदस्सी १७, धम्मदस्सी १८, सिद्धार्थ १९, तिष्य २०, पुष्य २१, विपस्सी २२, सिक्खी २३, विश्वभू २४, ककुसंधो २५, कोणागम २६ कस्सप २७, गौतम २८, मैत्रेय २९, इन उनतीस बुद्धों की नामावली दी है। इसमें दीपङ्कर से लेकर गौतम बुद्ध तक के पचीस बुद्धों का शरीर, मान तथा आयुष्य का भी वर्णन कर दिया है यह सब हकीकत गौतम बुद्ध के मुख से कहलाई गई है। अन्त में गौतम अपने खुद के लिये कहते हैं—

> अहं एतरहि बुद्धो गोतमो सक्य-वद्धनो।
> पधानं पद हित्वान पत्तो सम्बोधि उत्तमं ॥
> ब्यामप्पभा सदा मह्यं सोलस हत्थ मुग्गतो।
> अप्पं वस्स सतं आयु, इदानेतरहि विज्जति ॥

अर्थ—इस समय मैं गौतम बुद्ध हूँ मैं शाक्य कुलीन हूँ मैंने प्रधान पद का त्याग करके उत्तम सम्बोधि ज्ञान को प्राप्त किया है।

मेरे चारों तरफ सदा व्यायाम प्रमाण प्रभा मण्डल रहता है, मेरे शरीर की ऊंचाई सोलह हाथ की है, और मेरा आयुष्मान् सौ वर्ष का है।

अन्तिम चातुर्मास्य में वैशाली के निकटवर्त्ती "वेलु" गांव में रोगमुक्त होने के बाद बुद्ध अपने शरीर की दशा वर्णन करते हुए अपने प्रधान शिष्य आनन्द से कहते हैं, आनन्द ! अब मैं अस्सी वर्ष का हो गया हूँ, मेरा शरीर जरा जीर्ण पुराने शकट की तरह ज्यों त्यों चलता है, इत्यादि बातों से यह तो निश्चित है कि निर्वाण के समय बुद्ध की अवस्था अस्सी वर्ष की थी, बुद्ध चरित्र लेखकों का भी यही मन्तव्य है, फिर भी "बुद्धवंशों" में उनके मुख से अपना आयुप्रमाण सौ वर्ष का कहलाया है यह विचारणीय है, और विशेष विचारणीय तो उनका देहमान है। गौतम बुद्ध के समकालीन भगवान् महावीर तथा उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम का देहमान जैन सूत्रों में सात हाथ का बताया है, तब उनके समकालीन गौतम बुद्ध अपना शरीर सोलह हाथ ऊँचा बताते हैं, इतिहास कार इस विषमता का कारण खोजेंगे तो उन्हें अवश्य सफलता मिलेगी। यह तो उदाहरण के रूप में दो चार बातों का निर्देश किया है बाकी बौद्ध ग्रन्थों में परस्पर विरुद्ध और अतिशयोक्ति पूर्ण बातों की इतनी भरमार है कि उन सब को लिख कर एक छोटा बड़ा ग्रन्थ बनाया जा सकता है। इस विषय की यहां चर्चा करने का प्रयोजन मात्र यही है कि बौद्ध लेखकों ने अपने पड़ोसी वैदिक जैन आदि सम्प्रदायों के सम्बन्ध में बहुत सी ऊट

पटाक्ष बातें लिख डाली हैं, जिनमें झूठ और अतिशयोक्ति का तो पार ही नहीं मिलता।

इस सम्बन्ध में एक दो उद्धरण देकर हम इस हेडिङ्ग को पूरा करेंगे। थेरगाथा में जम्बुक थेर की निम्न उद्धृत चार गाथाएं पढ़ने योग्य हैं—

पंच पंचास वस्सानि, रजो जल्लमधारयिं ।
भुंजं तो मासिकं भत्तं, केस मस्सु अलोचयिं ॥२८३॥
एक पादेन अट्ठासिं, आसनं परिवज्जयिं ।
सुक्ख गूथानि च खादिं, उद्देसं च न सादियिं ॥२७४॥
एतादिसं करित्वान्, बहुं दुग्गति गामिनं ।
वुय्हमानो महोघेन, बुद्धं सरणमागमं ॥२८५॥
सरण गमनं पस्स, पस्स धम्म सुधम्मतं ।
तिस्सो विज्जा अनुपत्ता, कतं बुद्धस्स सासनंति ॥२८६॥

(जम्बुको थेरो पृ० ४७)

अर्थ—जम्बुक थेर कहता है पचपन वर्ष तक मैंने अपने शरीर पर रज तथा मैल के स्तर धारण किये, महीने २ भोजन करते हुए शिर तथा मुख के बालों का लुञ्चन किया।

एक पैर पर खड़ा रह कर तप किया, आसन को छोड़ उकुरु आसन से ध्यान किया सूखी विष्ठा खाई फिर भी उद्देश सिद्ध नहीं हुआ।

इस प्रकार के बहुत से दुर्गति कारक कष्ट कार्य किये फिर भी संसार के प्रवाह में बहने लगा तब बुद्ध के शरण में आया।

शरण गमन का प्रभाव देखो और धर्म की सुधर्मता को देखो तीनों ही विद्यायें पाली और बुद्ध के शासन का पालन किया।

ऊपर के वर्णन में जम्बुक नामक स्थविर प्रथम जैन श्रमण था और पचपन वर्ष तक अनेक कड़ी तपस्यायें की थीं, फिर भी सफलता न मिलने पर वह बुद्ध के पास गया और बुद्ध का शरण लेते ही उसे तीन विद्या प्राप्त हो गई थीं। इस सम्बन्ध में हम कोई टीका टिप्पणी नहीं करते। अनेक बौद्ध भिक्षु बौद्ध सम्प्रदाय से निकल कर निर्ग्रन्थ जैन श्रमण बने थे, वैसे जम्बुक भी जैन सम्प्रदाय से निकल कर बौद्ध भिक्षु बना होतो आश्चर्य नहीं है, परन्तु उसके मुख से निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में रह कर किये हुए कष्टों के वर्णन में शुष्क गूथ (सूखी विष्ठा) खाने की बात कहलाई है, वह सफेद झूंठ है क्योंकि ऐसी बीभत्स तपस्या न निर्ग्रन्थों में थी न जैन सूत्रों में ही इसका कहीं सूचन मिलता है।

इसी प्रकार थेरी गाथा में भद्दा थेरी के मुख से नीचे की गाथायें कहलायी हैं—

> लून केसी पङ्कधारी, एक साटीं पुरे चरिं।
> अवज्जे वज्ज मतिनी, वज्जे चावज्ज दासिनी ॥१०७॥
> दिवा विहारा निक्खम्म, गिज्झ कूटम्हि पब्बते।
> अद्दसं विरजं बुद्धं, भिक्खु संघ पुरक्खतम् ॥१०८॥

निहच्च जानुं वंदित्वा, सम्मुखापञ्जलि अहं ।
एहि भद्देति खवच, सा मे आसूप सम्पदा ॥१०६॥
चिएणा अंगा च मगधा, वज्जी काशी च कोशला ।
अनणा पएणासवस्सानि, रट्ठपिंडं अभुंजिहं ॥११०॥
पुञ्जं च पसवि वहु संपञ्जो वताय मुपासको ।
जो भद्दाय चीवरमदासि, मुत्ताय सव्वगन्थेहि ॥१११॥

(भद्दा पुराणा निग० पृ० ११)

अर्थ—केशों का लुञ्चन करने वाली, मलधारिणी, एकवस्त्र धारण करने वाली, नगर में भिक्षावृत्ति करने वाली, अवद्य को पाप मानने वाली, और पाप में निष्पापता देखने वाली, दिन को विहार करने वाली, ऐसी मैं एक दिन अपने उपाश्रय स्थान से निकल कर गृध्रकूट पर्वत पर गई, जहां पर संघ के साथ रहे हुए पापरज मुक्त बुद्ध को देखा। मैं घुटने टेक कर बुद्ध को वन्दन करके दोनों हाथ जोड़ उनके सम्मुख खड़ी रही, उस समय हे भद्रे ! "आ" यह कहा और मुझे उपसम्पदा दे दी। अङ्ग, मगध, विदेह काशी, कोशल आदि देशों में पचास वर्ष तक भ्रमण करके जो राष्ट्र पिएड भोगा था, उससे मैं उऋण हुई। वहां जो सम्प्रज्ञ उपासक था, उसने भद्रा को वस्त्र दान देकर बहुत पुण्य उपार्जन किया।

उपर्युक्त गाथाओं के अन्त में "भद्दा पुराण निगण्ठी" ऐसा नाम लिखा गया है, कि भद्दा पहले निर्ग्रन्थ श्रमणी रह कर वह बुद्ध के हाथ से बौद्ध भिक्षुणी बनी थी। भद्रा के आत्म निरूपण

के सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं कहना है, परन्तु भद्रा को एक साटी कहा गया है, वह लेखक के अज्ञान का नमूना है। उसने निर्ग्रन्थ श्रमणों को एक साटक देख कर निर्ग्रन्थ श्रमणी को भी एक साटी कह डाला है। इन गाथाओं की रचयित्री भद्रा स्वयं होती तो वह अपने को एक साटी कभी नहीं कहती। जिन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमणियों की उपाधि का .नरूपण जैन सूत्रों में पढा है वे तो यही कहेंगे कि भद्रा का यह बयान बिल्कुल झूंठा है। जैन श्रमण का यथा जात रूप मुखवस्त्रिका, रजोहरण, चोलपट्टक मात्र माना गया है, परन्तु श्रमणियों के लिये यह बात नहीं है। इनके लिये शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार के विशेष वस्त्र माने हैं, जिनसे कि इनकी मान मर्यादा और शील सम्पत्ति की रक्षा हो।

बुद्ध का अन्तिम भोजन "सूकर मद्दव"

बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओं के लिये भोजन में मांस लेने का निषेध नहीं किया था, यह बात पहले कही जा चुकी है। बुद्ध स्वयं मांस का भोजन करते होंगे यह भी सम्भावित हो सकता है, परन्तु उनका अन्तिम भोजन "सूकरमद्दव" सूअर का मांस था यह बात हम मानने को तैयार नहीं हैं। वाङ्मय में मांस आमिष शब्द अनेक स्थलों में आये हैं जिन का अर्थ कहीं प्राण्यंग धातु और कहीं खाद्यपदार्थ होता है, परन्तु मद्दव शब्द मांस के अर्थ में प्रयुक्त होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, मात्र सूकर शब्द के साहचर्य से सूकर मद्दव को सूअर का मांस मान लिया गया है, फिर भी इस मान्यता में लेखकों का ऐक मत्य नहीं है।

बौद्ध साहित्य के प्रसिद्ध टीकाकार बुद्धघोषाचार्य जो ईशा की पञ्चमी शताब्दी के विद्वान् हैं, सूकर मद्दव का अर्थ लिखते हुए कहते हैं —

सूकर मद्दवंति नातितरुणस्स नातिजिएणस्स एक जेट्ठक सूकरस्स पवत्त मंसं। तं किर मुदुं चेव सिनिद्धं च होति। तं पटियादापेत्वा साधुकं पचापेत्वाति अत्थो। एके भणंति सूकर मद्दवंति पन मुदु ओदनस्स पंच गोरस यूसपाचन विधानस्य नाममेतं यथा गवपानं नाम पाक नामंति। केचि भणंति सूकर मद्दवं नाम रसायन विधि, तं पन रसायनत्थे आगच्छति तं चुंदेन भगवतो परिनिब्बानं न भवेय्याति रसायनं पटियत्त ति"। केचि पन सूकरं मद्दवंति न सूकर मंसं सूकरे हि मद्दित वंसकलीरोति वदंति। अञ्ञे सूकरे हि मद्दितपदेशे जातं अहि छत्तकंति"।

अर्थः—सूकर मद्दव, यह जो छोटा बच्चा भी नहीं है और अति बूढ़ा भी नहीं, ऐसे एक बड़े सूअर का तैयार किया हुआ मांस था, वह कोमल स्निग्ध होता है, उसको लेकर अच्छी रीति से पकाया गया यह तात्पर्य है।

कोई कहते हैं–सूकर मद्दव पञ्च गोरस से पकाये हुए मृदु ओदन का नाम है जैसे गवपान यह एक पाक विशेष नाम है।

कोई कहते है–सूकर मद्दव यह रसायन विधि का नाम है, इस विधि से बनाया हुआ खाद्य पदार्थ रसायन का काम करता है, कर्मारचुन्द ने भगवान् निर्वाण प्राप्त न हों इस बुद्धि से उसको तैयार करवाया था।

कोई कहते हैं– सूकर मद्दव का अर्थ सूअर मांस नहीं पर सूअरों द्वारा कुचला हुआ बाँस का अंकुर ऐसा होता है।

दूसरे कहते हैं–सूअरों द्वारा मर्दित भूमि भाग में उत्पन्न हुआ अहिच्छत्रक सूकर मद्दव है।

उपर्युक्त पाँच मतों में से केवल बुद्धघोषाचार्य का मत ही सूकर मद्दव–सूअर मांस ऐसा अर्थ मानता है शेष सभी सूकर मद्दव को अन्यान्य पदार्थ होने का अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं। हमारी राय में इन पाँच मतों से एक भी मत ग्राह्य प्रतीत नहीं होता।

बुद्ध घोषाचार्य ने सूकर मद्दव का सूकर मांस अर्थ किया, इसका एक ही कारण हो सकता है, वह यह कि उग्गगहपति द्वारा बुद्ध को सूअर का मांस दिये जाने का "अंगुत्तर निकाय" के पञ्चक निपात में उल्लेख मिलता है, परन्तु टीकाकार आचार्य ने बुद्ध की अवस्था और थोड़े समय पहले भुगती हुई बिमारी का विचार नहीं किया। बुद्ध तो क्या दूसरा भी समझदार मनुष्य अस्सी वर्ष की उम्र में पहुँच कर रोगशय्या से उठ चलता फिरता बन कर सूअर का मांस खाने की कभी इच्छा नहीं करेगा जो सूकरमद्दव का अर्थ गोरस से पकाया हुआ ओदन का मृदु भोजन बताते हैं यह विचार युक्तिसङ्गत हो सकता है। परन्तु चुन्द ने जब बुद्ध को भोजन का आमंत्रण दिया। उस समय बुद्ध या उनके शिष्यों द्वारा यह सूचना मिलने का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि भगवान् बुद्ध की शारीरिक प्रकृति

और स्वास्थ्य साधारण होने से उनके लिये अमुक प्रकार का लघु भोजन तैयार होना आवश्यक है। इस प्रकार के इशारे बिना चुन्द उनके लिये अन्न का मृदु भोजन तैयार कराये यह सम्भवित नहीं लगता। वंश अंकुर और अहिच्छत्रक से चुन्द अपने पूज्य पुरुष के लिये भोजन तैयार कराये यह बात बहुत ही अयोग्य है। अब रही रसायन विधि की बात सो चुन्द स्वयं बुद्ध के लिये रसायन विधि से तैयार करवा लेता और न बुद्ध ही अपने निर्बल स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए उस रसायनात्मक गरिष्ठ भोजन को खाना पसन्द करते।

जहां तक हमारा खयाल है बुद्ध का वह भोजन न मांस था न रसायन आदि किन्तु वह था बाहर कन्द का शिरा। आज भी भारत के हिन्दु उपवास के दिनों में सूकर कन्द को सेक कर अथवा कच्चे का फलाहार करते हैं, पर पेट भर नहीं खाते। यह बड़ा मधुर कन्द होता है सूअर इसको देखा नहीं छोड़ते, इसका नाम सूकर कन्द होने पर भी लोग इसे सक्कर कन्द के नाम से पहचानते हैं। चुन्द ने इसको स्वादु होने के कारण से ही इसका भोजन बुद्ध के लिये अलग तैयार कर वाया था, परन्तु चुन्द को क्या मालुम कि यह हल्का खाना भी घृत के मिलने से बड़ा गरिष्ठ बन जाता है। उसने तो अपनी बुद्धि से तो अच्छा ही किया था, परन्तु इस भोजन का परिणाम बुद्ध के लिये प्राणघातक हुआ। आज भी अनुभवी वैद्यजन ऐसे भोजनों को दुर्बल शरीर वालों के लिये वर्जित करते हैं, क्योंकि

बिमार अथवा दुर्बल मनुष्यों को इसका घृत शक्कर से बनाया हुआ शिरा पेट भर खाने से तुरन्त हानि पहुँचती है, विशेष कर रक्तातिसार हो जाता है। चुन्द का यह खाना खाने के बाद बुद्ध का स्वास्थ्य तुरन्त बिगड़ गया और अवशेष सूकर मद्दव को गड्ढे में डाल देने की सूचना दी। इससे हमारी दृढ़ धारणा हो गई है कि वह सूकर मद्दव और कोई नहीं पर सूकर कन्द का शिरा ही था। जिसने बुद्ध की निर्बल आंतों में अपना दुष्प्रभाव डाल कर स्वास्थ्य बिगाड़ दिया।

चुन्द के इस भोजन वाले प्रकरण को नीचे उद्धृत कर हम हमारे इस मन्तव्य को विशेष समर्थित करेंगे।—

"अथ खो चुन्दो कम्मार पुत्तो तस्सा रत्तिया अच्चयेन सके निवसने पणीतं खादनीयं भोजनीयं पटियादापेत्वा पहुतं च सूकर मद्दवं भगवतो कालं आरोचायेसि" कालो भंते! निट्ठित भत्त ति।

अथ खो भगवा पुब्बण्हसमयं निवासेत्वा पत्त चीवरं आदाय सद्धिं भिक्खुसंघेन येन चुन्दस्स कम्मारपुत्तस्स निवेसनं तेनुप-संकमि, उपसंकमित्वा पञ्ञत्ते आसने निसीदि निसज्ज खो भगवा चुन्दं कम्मारपुत्तं आमंतेसी–यं ते चुंद सूकर–मद्दवं पटियत्तं तेन मं परिविस यं पनञ्ञं खादनीयं भोजनीयं पटियत्तं तेन भिक्खू संघं परिविसाति। एवं भंते ति खो चुंदो कम्मार पुत्तो भगवतो पटिस्सुत्वायं अहोसि। सूकरमद्दवं पटियत्तं तेन भगवंतं"

परिविसि। यं पनञ्ञं खादनीयं भोजनीयं पटियत्तं तेन भिक्खु संघं परिविसति।

अथ खो भगवा चुन्दं कम्मार पुत्तं आमंतेसि यं ते चुंद। सूकर मद्दवं अवसिट्ठं तं सोब्भे निखणाहि नाहं चुंद पस्सामि सदेवके लोके समारके सब्रह्मके सस्समण ब्राह्मणिया पजाय सदेव मनुस्साय, यस्स तं परिभुत्तं सम्मा परिणामं गच्छेय्य अञ्ञत्र तथागतस्साति।

एवं भंत्तेति खो चुंदो कम्मारपुत्तो भगवतो पटिस्सुत्वा यं अहोसि सूकर मद्दवं अवसिट्ठं तं सोब्भे निखणित्वा येन भगवा तेनुपसंकमि उपसंकमित्वा भगवंतं अभिवादेत्वा एकमंतं निसीदि एकमंतं निसीन्नं खो चुंदं कम्मारपुत्तं भगवा धम्मियाय कथाय सन्दस्सेत्वा समादपेत्वा समुत्तेजेत्वा सम्पहंसेत्वा उट्ठायसना पक्कामि अथ खो भगवतो चुंदस्स कम्मार पुत्तस्स भत्तं भुत्ताविस्स खरो अबाधो उपज्जि लोहित पक्खंदिका बाल्हा वेदना वत्तंति मारणंतिका तत्र सूदं भगवा सतो संपजानो अधिवासेसि अविहञ्ञमानो।

अथ खो भगवा आयस्मंतं आनंदं आमंत्तेसि आयामानंद। येन कुसिनारा तेनुपसंक मिस्सातिं। एवं भंतेति खो आयस्मा आनंदो भगवतो पच्चसोसि।

"उदान" पृ० ८५

अर्थः—वह चुन्द लोहार उस रात्रि के बीत जाने पर अपने घर में बहुत सा स्वादिष्ट प्रणीत भोजन तथा एक से अधिक व्यक्तियों के योग्य सूकर मद्दव तैयार करवा कर बुद्ध के मुकाम पर

गया और भोजन का समय होजाने की सूचना दी। तब भगवान् पूर्वाह्न समय के अन्त में अपने वस्त्र पात्र साथ में ले भिक्षुसंघ के साथ चुंदके घर गये और बिछाये हुए आसन पर बैठ गये, उस समय भगवान् ने चुन्द को बुला कर सूकर मद्दव अपने पात्र में पिरसने की सूचना की और अन्य खादनीय भोजन भिक्षु संघ को देने आज्ञा दी। यह सुन कर चुन्द ने भगवान की सूचना को स्वीकार किया और सूकर मद्दव भगवान् को पिरसा तथा अन्य खादनीय भोजन भिक्षु संघ को। भोजनोत्तर भगवान् ने चुन्द को बुला कर कहा कि हे चुंद! देव, मार और ब्रह्मा से युक्त इस लोक में श्रमण ब्राह्मणात्मक प्रजा में तथा देव और मनुष्यों में ऐसा किसी को मैं नहीं देखता कि तथागत के बिना दूसरा कोई इस सूकर मद्दव को खाकर पचा सके। अतः शेष रहे सूकर-का मद्दव कोगड्ढा खोदकर उसमें डाल दो, चुन्द ने बुद्ध की इस आज्ञा को स्वीकार किया। अवशिष्ट सूकर मद्दव को एकान्त में खड्डा खोदकर जमीनदोज़ कर दिया और बुद्ध को अभिवादन कर उनके पास आकर बैठ गया, भगवान् आसन से उठ कर रवाना हुए।

चुन्द लोहार का वह खाना खाने पर भगवान् को कठोर उदर व्याधि उत्पन्न हुआ और खून के दस्त शुरू हुये, बड़े जोरों की मारणान्तिक वेदना उत्पन्न हुई।

अब भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द को बुला कर कहा हे आनन्द अब कुशिनारा को जायेंगे, आनन्द ने भगवान् के विचार का अनुमोदन किया।

बुद्ध के अन्तिम भोजन सम्बन्धी उक्त प्रकरण में कुछ बातें ऐसी हैं जो सूकर मद्दव और बुद्ध की मानसिक शारीरिक स्थिति पर प्रकाश डालती हैं।

१—चुन्द के घर जाकर आसन पर बैठते ही बुद्ध चुन्द को बुलाते हैं, और सूकर मद्दव अपने पात्र में पिरसने की सूचना करते हैं। इससे विदित होता है कि सूकर मद्दव की हकीकत चुन्द द्वारा भिक्षुओं और भिक्षु द्वारा बुद्ध तक पहुँच चुकी थी कि वह एक विशेष प्रकार से बनवाया हुआ विशिष्ट खाद्य है और उसमें मूल्यवान् पदार्थ डाले गये हैं। बुद्ध यह नहीं चाहते थे कि ऐसे विकृति कारक उत्तेजक चीज डाल कर बनाया गया खाना अपने भिक्षु खांय, यही कारण है कि वे जमीनदोज़ करवा देते हैं। इससे पाया जाता है कि सूकर मद्दव सूकर कन्द की बनावट होने पर भी उसमें केशर कस्तूरी आदि बहुमूल्य उत्तेजक पदार्थ डाले गये थे।

२—सूकर मद्दव की दुर्जरता के सम्बन्ध में बुद्ध कहते हैं—यह भोजन बुद्ध को छोड़कर संसार भर में ऐसा कोई देव मनुष्य नहीं है जो इसे खाकर पचा सके। बुद्ध की यह कोरी डींग नहीं है पर उनके अनुभव का निचोड़ है। बुद्ध की जठराग्नि बड़ी व्यवस्थित थी, वे प्रतिदिन नियमित समय में एक बार भोजन करते थे, और उनका आहार बहुधा प्रणीत होता था। इसी कारण से वे उसे आमिष कहा करते थे। अपनी इस तन्दुरुस्ती और जठर शक्ति से उनका खयाल बन गया था कि मेरे जैसा गरिष्ठ भोजन को पचाने वाला दूसरा कोई नहीं है।

(३)—सूकर मद्दव के भोजन से बुद्ध का तात्कालिक स्वास्थ्य बिगड़ने और मारणान्तिक कष्ट होने का मूल कारण सूकर मद्दव नहीं पर कुछ महिनों पहले भुगती हुई बिमारी से उत्पन्न आँतों की दुर्बलता था।

अंतिम चातुर्मास्य में बुद्ध को एक भयङ्कर बिमारी हुई थी। वह बिमारी क्या थी इसका कहीं स्पष्टीकरण नहीं मिला, फिर भी वह बिमारी थी बड़ी भयङ्कर, बुद्ध इस बिमारी से मानसिक शक्ति का अवलम्बन लेकर ही बचे थे। चातुर्मास्य की समाप्ति तक वे रोग मुक्त हो गये थे, परन्तु भयङ्कर बिमारी मनुष्य के शरीर में कुछ न कुछ अपना प्रभाव छोड़कर ही जाती है। हमारी राय में बुद्ध का यह रोग रक्तातिसार अथवा संग्रहणी इन दो में से कोई एक होना चाहिए, क्यों कि यही दो रोग जाठर शक्ति को अधिक-से अधिक हानि पहुचाते हैं। बुद्ध निरोग होकर पाद विहार करने लगे थे, उनका शरीर जराजीर्ण हो गया था और जठर भी पहले जैसा नहीं रहा था, फिर भी उन्होंने पूर्वाभ्यास से अपनी पाचन शक्ति को ठीक समझा और सूकर मद्दव जैसा गरिष्ठ भोजन कर के वे तत्काल रोगाक्रान्त हो गये।

संग्रहणी रोग से मुक्त हुए मनुष्यों को कालान्तर में पेट भर दुर्जर पकान्न खाने से बिमार हो कर दो चार ही दिन में मरजाने के अनेक दृष्टान्त हमारे सामने हैं, परन्तु विस्तार के भय से यहाँ उनकी चर्चा नहीं कर सकते। बुद्ध ने स्वयं सूकर का मांस किसी समय खाया था, बुद्ध के भिक्षु भी वैसा मांस खाते थे, परन्तु न

बुद्ध उससे बिमार पड़े, न भिक्षुओं को उन्होंने वैसा मांस खाने से रोका। इस से निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सूकर मद्दव न सूअर का मांस था, न अन्य टीकाकारों के बताये हुए खाने, वह गर्म चीजें डाल कर घृत शक्कर से बनाया हुआ सूकर कन्द का लेह्य मात्र था। बुद्ध को उसके खाने से तात्कालिक दुष्परिणाम मालूम हुआ और शेष बचे भाग को उन्होंने जमीन दोज़ करवा दिया।

बुद्ध निर्वाण के बाद बौद्ध भिक्षुओं की स्थिति

विंशति निपात में पारापर्य स्थविर कहते हैं—

अञ्ञथा लोकनाथम्हि, तिट्ठन्ते पुरिसुत्तमे।
इरियं आसि भिक्खूनं, अञ्ञथा दानि दिस्सते॥९२१॥
सीतवात परित्तानं, हिरि कोपीन छादनं।
मत्तट्ठियं अभुञ्जिसु, संतुट्ठा इतरीतरे ॥९२२॥
पणीतं यदि वा लूखं अप्पं वा यदि वा बहुं।
यापनत्थं अभुञ्जिसु, अगिद्धा नाधिमुच्छिता॥९२३॥

अर्थः—हे पुरुषोत्तम! लोकनाथ बुद्ध के जीवित रहते भिक्षुओं की विहारचर्या और थी, और आज कल और ही दीखती है। उस समय शीत तथा ताप के रक्षार्थ तथा लज्जा निवारणार्थ वस्त्र रखते थे, और भिक्षु भिक्षुणी मात्रायुक्त भोजन करते थे उस समय के भिक्षु स्निग्ध अथवा रूक्ष अल्प मात्रा में वा पर्याप्त मात्रा में

शरीर निर्वाह के लिये आसक्ति तथा मोह रहित होकर भोजन करते थे।

सब्बासव परिक्खीणा, महाझायी महाहिता।
निब्बुता हानि ते थेरा, परित्ता दानि तादिसा ॥६२८॥
कुसलानं च धम्मानं, पञ्ञाय च परिक्खया।
सब्बाकार वरूपेतं, लुज्जते जिन सासनं ॥६२९॥
पापकानं च धम्मानं, किलेसाश्रयो उतु।
उपट्ठिता विवेकाय, ये च सद्धम्म सेसकाः ॥६३०॥

अर्थः—सर्वाश्रवमुक्त, महाध्यायी, महाहित कारक, परिमित पदार्थग्राही ऐसे स्थविर आज कल निवृत्ति प्राप्त कर गये, उक्त प्रकार के आज नहीं रहे। कुशल धर्मों के तथा प्रज्ञा के नाश होने से आज तथागत का शासन सर्व प्रकार से विरूपता को प्राप्त होकर लज्जित हो रहा है। पापक धर्म तथा क्लेशों का समूह जो सद्धर्म के उपासक शेष रहे हैं, उनके अविवेक का कारण बन रहा है।

मत्तिकं तेलं चुण्णं च, उदकासन भोजनं।
गिहीनं उपनामेंति, आकंखंता बहुत्तरं ॥६३७॥
दंत पोणं कपिट्ठं च, पुप्फ खादनीयानि च।
पिण्डपाते च संपन्ने, अंबे आमलकानि च ॥६३८॥

अर्थः—मृत्तिका, तैल, चूर्ण, पानी, आसन, खाद्यवस्तु, अधिक प्राप्ति की इच्छा करते हुए गृहस्थों को देते हैं।

दन्तधावन, कपित्थ, खाद्य पुष्पों का उपयोग करते हैं, और पर्याप्त भिक्षा मिल जाने पर भी आम, आमले आदि ग्रहण करते हैं।

नेकतिका वञ्चनिका, कूटसक्खी अवादुका।
वहूहि परिकप्पेहि, आमिसं परि भुंजिरे ॥६४०॥
लेस कप्पे परियाये, परिकप्पेनुधाविता।
जिविकत्था उपायेन, संकड्ढंति वहुं धनं ॥६४१॥

अर्थः—कपटी, ठगारे कूटसाक्षी देने वाले अल्पभाषक अनेक उपायों से आमिष का भोजन करते हैं। आंशिक कल्प की छूट मिलने पर सम्पूर्ण कल्प की तरफ दौड़ते हैं और जीविका के लिये उपाय द्वारा बहुतेरा धन खींचते हैं।

भावी बौद्ध संघ के सम्बन्ध में पुस्सथेर की भविष्य वाणी

थेर गाथा के तिसनिपात में पुस्सथेर कहते हैं—

वहु आदी नवा लोके, उपज्जिसंति नागते।
सुदेसितं इम्मं धम्मं, किलिसिस्संति दुम्मती ॥६५४॥
गुण हीनापि संघम्हि, वोहरंति विसारदा।
बलवंतो भविस्संति, मुखरा अस्सुताविनो ॥६५५॥
गुणवंतोऽपि संघम्हि, ओहरन्ता यथत्थतो।
दुब्बला ते भविस्संति, हिरिमना अनत्थिका ॥६५६॥

रजतं जातरूपं, खेत्तं वत्थुं अजेलकम् ।
दासीदासं च दुम्मेधा, सादियिस्संति नागते ॥९५७॥
उज्झान सञ्ञिनो बाला, सीलेसु असमाहिता ।
उन्नद्धा विचरिस्संति, कलहाभिरता मगा ॥९५८॥

अर्थः—बहुत दोष वाले भिक्षु आगामी काल में इस लोक में उत्पन्न होंगे जो दुर्बुद्धि भिक्षु बुद्ध द्वारा सुदेशित इस धर्म को क्लेशित करेंगे, गुण रहित होकर भी होशियार, वाचाल, प्राणपरितापी भिक्षु बलवान् बनेंगे और संघ में व्यवहार चलायेंगे। गुणवान् होते हुए भी संघ में यथास्थित व्यवहार चलाने वाले भिक्षु बलहीन, लज्जित और अप्रयोजनीय बनेंगे। चांदी, सोना, क्षेत्र, मकान, बकरे, मेंढ़े और दासी दासों का स्वीकार करके आगामी काल में दुर्बुद्धि भिक्षु उनसे लाभ उठायेंगे। भविष्य में अज्ञानी शील के गुणों में असमाधियुक्त और सच्चे धर्म मार्ग से भ्रष्ट बने हुए भी भिक्षु बड़े ध्यानी का ढोंग कर क्लेश में तत्पर रहते हुए विचरेंगे।

अजे गुच्छं विमुत्तेहि, सुरत्तं अरहद्धजं ।
जिगुच्छिस्संति कासावं, ओदातेसु समुच्छिता ॥९६१॥

अर्थः—विमुक्तों द्वारा आदृत रक्त और काषाय बुद्धध्वज की जुगुप्सा करेंगे और उजल वस्त्र धारण करने को उत्कण्ठित होंगे।

मिलक्खु रजनं रत्तं, गरहंता सकं धजं ।
तित्थियानं धजं केचि, धारे संत्यवदातकं ॥६६५॥
अगारवो च कासावे, तदा ते संभविस्सति ।
पटिसंखाच कासावे, भिक्खूनं न भविस्सति ॥६६६॥

अर्थः—"रक्त" यह म्लेच्छों का प्रिय रङ्ग है यह कहते हुए कई अपने काषाय वस्त्र की निन्दा करेंगे और अन्य तीर्थिकों का श्वेतवस्त्र धारण करेंगे। उस समय भिक्षुओं का काषाय वस्त्र पर अनादर होगा और भिक्षुओं को काषाय वर्ण के वस्त्र पर प्रति संख्या (आदर) नहीं रहेगा।

भिक्खू च भिक्खुनियो च, दुट्ठचित्ता अनादरा ।
तदानीं मेत्तचित्तानं, निग्गण्हिस्संति नागते ॥६७४॥

अर्थः—भविष्य में दुष्टचित्त भिक्षु और भिक्षुणियां अनादर से मैत्र चित्त वाले भिक्षु भिक्षुणियों का पराभव करेंगे।

काषाय वस्त्रधारी भिक्षुओं के प्रति धम्मपदकार के प्रहार—

अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहेस्सति ।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासाव मरहति ॥१॥पृ० ३
कासाव कण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्ञता ।
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं उपज्जिरे ॥२॥
सेय्यो अयो गुलो भुत्तो, तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो, रट्ठपिंडं ते असञ्ञतो ॥३॥
कुसो यथा दुग्गहितो, हत्थ मेवानुकंतति ।

सामञ्ञं दुप्परामट्ठं, निरयायुपकड्ढति ॥१२॥

"धम्मपद" पृ० ४६

अर्थः—जो कषाय से मुक्त नहीं है और काषाय वस्त्र धारण करने की इच्छा करता है, पर इन्द्रियदमन और सत्यता से विमुक्त वह काषाय वस्त्र धारण के योग्य नहीं है।

काषाय वस्त्र को गले में लगाने वाले बहुतेरे पाप धर्म रत तथा असंयत पापी अपने पाप धर्मों से नरक गतियों में उत्पन्न हुये।

दुश्शील असंयत जो राष्ट्रपिण्ड खाता है, उससे तो अग्नि ज्वालोपम तपा हुआ लोह का गोला खाना श्रेष्ठ है।

जैसे ठीक न पकड़ा हुआ दर्भ पकड़ने वाले के हाथ को चीर देता है, वैसे ही यथार्थ न पाला जाता हुआ श्रमण धर्म श्रमण को नरक के समीप ले जाता है।

इति षष्ठोऽध्यायः

समाप्ति मंगल

जैनागम—वेदागम—बौद्धागम कृतिततिं समवलोक्य।
गुणिजनबोधनिमित्तं, मीमांसा निर्मिता भोज्ये ॥१॥
मनुगगनयुग्म वर्षे, फाल्गुणमासे सिताष्टमी दिवसे।
जावालिपुरे रम्ये, मीमांसा पूर्णतामगमत् ॥२॥
मङ्गलं श्री महावीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं त्रिपदी वाणी मङ्गलं धर्म आर्हतः ॥३॥

॥ इति मानव भोज्य मीमांसा समाप्ता ॥